23

नारायणस्मृति

जीव और बीज, स्वर-वर्ण की दृष्टि से अत्यन्त समान हैं। केवल वर्ण विन्यास का ही अन्तर है—'ज', 'ई', 'व'; 'व', 'ई', 'ज'। बीजाङ्कुर-न्याय से ही, वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष के समान जीव से देह और देह से जीव का क्रम चलता रहता है। चेतन और जड़, आत्मा तथा देह इतने घुल-मिल गये हैं कि जड़ अपनी मृत्यु, अज्ञान एवं दुःख-रूपता को चेतन पर थोप देता है और चेतन अपनी प्रियता, ज्ञान एवं सत्ता को जड़ में डाल देता है। यह अनादि, अनन्त, अध्यास, यद्यपि मिथ्याज्ञानमूलक है तथापि प्रत्यगात्मा की अद्वितीय ब्रह्म से एकता का बोध न होने तक प्रवाहित होता ही रहता है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज एवं द्विपाद मनुष्य प्राणी के अतिरिक्त सब में जड़ता की प्रधानता होती है। केवल इस मानव शरीर में ही जड़ता के शिथिलीकरण अथवा निवारण का सामर्थ्य उदय होता है। इस जीवन में ही समग्र अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति की योग्यता आती है।

मनुष्य में भी अपने पूर्व जन्म के कर्मों के संस्कार तो रहते ही हैं। गर्भ के, पिता-माता के, उनकी वंशानुगत क्रमधारा के भी संस्कार रहते हैं। संस्कार कुछ अच्छे होते हैं, कुछ बुरे। बुरे संस्कारों को विकार कहते हैं। जो जड़ता की ओर ले जाय सो विकार। जो जीव में लिप्त विकारों को मिटा दे सो संस्कार। संस्कार माने सँवारना, सुधारना। जैसे—दर्पण को स्वच्छ करना, चमकाना। यह जीव एक रत्न है। जैसे, रत्न जब खान से निकाला जाता है तो उसमें मिट्टी लगी रहती है, बेडोल होता है। उसको निर्मल करते हैं, चमकाते हैं; छँटाई-घिसाई भी करते हैं और पालिश भी। उसकी चमक-चिलक, रश्मियों की धूप-छाँव प्रकट हो जाने पर भी, उसे पिरोने के लिए जो छिद्राभाव होता है उसकी भी छिद्र करके पूर्ति की जाती है। यह जीव के संस्कार भी इसी प्रकार के हैं। बीजगत एवं गर्भगत दोषों को मिटाना और जीवन को चेतनोन्मुख करके पुरुषार्थ की प्राप्ति के योग्य बनाना संस्कारों का प्रयोजन है। मनु जी ने कहा है—बैजिक एवं गार्भिक दोषों की निवृत्ति के साथ-साथ इस जीवन को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाना भी संस्कारों का उद्देश्य है। इसी को प्राचीन शास्त्रों में दोषापनयन, गुणाधान एवं हीनाङ्गपूर्ति के नाम से कहा गया है।

माता के गर्भाशय में जीव-बीज की स्थापना के लिए भूमि शुद्धि अथवा पीठ शुद्धि करना आवश्यक है। बाह्यभूमिशुद्धि की जैसे अनेक प्रक्रिया हैं, उसी प्रकार आन्तर पीठ शुद्धि के लिए शास्त्रीय संस्क्रिया हैं। शुभ समय, शुभ स्थल, सदाचारी ब्राह्मणों के द्वारा मन्त्रोच्चारण, देवता का अनुग्रह एवं गर्भाधान के पूर्वाङ्ग—जिनका वर्णन शतपथ-ब्राह्मण आदि में भी आता है—का अनुष्ठान, जीव-चैतन्य-रूप महती शक्ति के प्रतिष्ठापन की योग्यता उत्पन्न करते हैं। मन्दिर में देवता के स्थापन के लिये जैसी शुद्धि की जाती है,

वैसी ही शुद्धि गर्भ में भी होनी चाहिये। यह शब्द-शक्ति के प्रवाह एवं संकलपयुक्त क्रिया के द्वारा सम्पन्न होती है।

पुंसवन-संस्कार में मन्त्र, देवानुग्रह, माता-पिता के शुभ संकल्प के साथ-साथ ओषधि विशेष का भी प्रयोग होता है। इससे सन्तान दीर्घायु, स्वस्थ, सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ, तेजस्वी, बुद्धिमान् एवं सदाचार-सम्पन्न होती है। वह पुत्र हो या पुत्री, इस संस्कार से सदाचार सद्भाव एवं सद्गुण की सम्पदा निश्चित रूप से प्राप्त होती है। 'सीमन्तोन्नयन संस्कार' से माता के चित्त का प्रसादन होता है। माता का मन तृप्त, सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहे, उसका प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पूर्ण रूप से पड़ता है और उसके शरीर में सुखी रहने की क्षमता उत्पन्न होती है। यदि माता उदास, निराश दुःखी, रोती, कलपती एवं भविष्य के प्रति घबराहट लिये हुए रहे तो बालक पर उसका प्रभाव पड़ता है। इस लिये इस संस्कार में पिता उसके सुख-सौमनस्य का सारा उत्तरदायित्व सम्भाल लेता है, जिससे वह निश्चिन्त रहे।

गर्भावस्था के ये तीन संस्कार मुख्यतः गर्भस्थ शिशु की शारीरिक पूर्णता की दृष्टि से होते हैं क्योंकि अन्तस्थ शिशु के लिये उसके प्रत्येक अवयव अर्थात् सर्वाङ्ग की पुष्टी की आवश्यकता रहती है। यदि क्रिया न भी हो सके तब भी मन्त्रों में जो अलौकिक, अचिन्त्य शक्ति रहती है, केवल उसका श्रवण और उच्चारण ही अपना प्रभाव डालते हैं। शास्त्रोक्त-क्रिया का अनुष्ठान मन्त्र न बोलने पर भी एक विशेष भाव को जन्म देता है, जिससे गर्भस्थ शिशु की पुष्टी होती है।

जातकर्म्म संस्कार शिशु के उत्पन्न होने पर होता है किन्तु नालच्छेदन से पूर्व। अपने माता-पिता के साथ उसके सम्बन्ध को दृढ़ करने की यह एक पद्धति है। पुत्र, पिता के अंग-अंग का रस है। वह पिता के हृदय का ही मूर्त पिण्ड है। पिता ही पुत्र के रूप में प्रगट हुआ है। उपनिषद् में इसी से पत्नी को 'जाया' कहा है। पिता पत्नी के द्वारा पुत्र के रूप में प्रगट होता है। 'बीज' पिता, 'क्षेत्र' माता। यह जातकर्म्म संस्कार पुत्र के हृदय में माता-पिता के प्रति श्रद्धा एवं आदर युक्त सम्बन्ध उत्पन्न करता है। यही संस्कार विकसित होकर 'मातृ देवो भव' 'पितृदेवो भव' के भाव को दृढ़ करता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गर्भस्थ शिशु के संस्कार स्थूल शरीर की पुष्टि के लिये होते हैं और जातकर्म्म आदि संस्कार जीवन कालीन भावों की परिपुष्टि के लिये होते हैं।

अपने पूर्वजों के साथ सम्बन्ध की परिपुष्टि के अनन्तर स्वविषयक योग्यता का आधान करने के लिये नामकरण आदि संस्कार होते हैं। नाम ऐसा होना चाहिये जो अपनी प्राचीन परम्परा के साथ कड़ी जोड़कर नवीन-नवीन गुणों का समुन्मेष करनेवाला हो। प्राकृत वस्तुओं के नाम, परिणाम क्रम से होते हैं। प्राकृत परिणाम के अन्तिम रूप पञ्चभूत हैं। अन्य सब रूप कार्याभास ही हैं। समष्टि से पृथक् व्यष्टि का नामकरण देश, काल, जाति, सम्प्रदाय, परिवार-परम्परा के अनुरूप होता है। ये नाम जब शास्त्रोक्त रीति से रखे जाते हैं तो यज्ञ-यागादि कार्य में इनके द्वारा संकल्प करने की योग्यता आती है।

जैसे, अमुक गोत्रः, अमुक पुत्रः, अमुक शर्मा इत्यादि। नक्षत्र-नाम, राशि-नाम ग्रहों के चार, फलादेश आदि को सूचित करते हैं। नाम में अचिन्त्य शक्ति होती है। वह सूक्ष्म शरीर में सुषुप्त सद्गुणों को जगाता है। प्राचीन इतिहास एवं सदाचार का बोधक भी होता है। वर्ण-विभाग को सूचित करता है—शर्मा, वर्मा, गुप्त आदि। यह कल्याण गुण, रक्षा एवं पालन का संकेत भी करता है। मन्त्र पूत नाम, अन्तःकरण शुद्धि में भी सहायक होता है। इसी से तुरीय आश्रम में प्रवेश करने पर प्रायः सच्चिदानन्द वाचक नाम रखे जाते हैं। दुराचार, दुर्भाव, दुर्गुण एवं पशुत्व सूचक नाम नहीं रखना चाहिये।

माता के रस रक्त से ही शरीर की पुष्टी होती है। अतः माता का दूध शिशु के लिये सर्वापेक्षया अधिक हितकारी होता है। परन्तु, अन्तस्थ भावना की परिपुष्टि के लिये अन्न की विशेष आवश्यकता होती है। अन्न से ही मन बनता है। 'जल' से 'प्राण' और 'तेज' से 'वाक्'। अन्न में इन तीनों का ही समावेश है। यदि अन्न पवित्र एवं योग्य होगा तो शरीर में मन, प्राण एवं वाणी का विकास होगा। अतएव 'अन्नप्राशन' केवल लौकिक बल की वृद्धि एवं संरक्षण के लिये ही आवश्यक नहीं है, इसके द्वारा अध्ययन एवं चिन्तन के बल की भी प्राप्ति होती है। व्यावहारिक जगत् का मूलभूत उपादान अन्न ही है। अतएव अन्नप्राशन एक संस्कार है एवं मनुष्य की उन्नति में सहायक है। मन्त्र, देवता, पारम्परिक संस्कार एवं ब्राह्मण, माता-पिता के अशीर्वाद से अन्न में बल, बुद्धि एवं भोजन मर्यादा की प्रतिष्ठा होती है। 'अन्नं बहु कुर्वीत' अन्न का आदर करना चाहिये। यह संस्कार बाल्यवस्था में ही होना आवश्यक है।

नित्यकर्म के अनुष्ठान में शिखा की अपेक्षा होती है। प्रदीप्त अग्नि के समान सदाचार ही मनुष्य का जीवन है और उसकी ज्वाला का प्रतीक शिखा है। मनुष्य का शरीर भगवान् का मन्दिर है और शिखा उसका शिखर है। मूलाधार से लेकर सहस्रार पर्यन्त सात चक्रों का विकास शिखाधारी के जीवन में होना चाहिये। जैसे यज्ञोपवीत, अधोमार्ग की उच्छृङ्खलता से बचाने के लिये, कण्ठ नाभि एवं कटि प्रदेश का स्पर्श करके सावधान रखने के लिये है; इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहकर त्याग-वैराग्य, ज्ञान के नाम पर गृहस्थाश्रम की मर्यादा का उल्लंघन करके मिथ्या संन्यास का दम्भ न किया जाय इसके लिये शिखा में ग्रन्थि लगाई जाती है। गोत्र, प्रवरादि के भेद से एकशिख, पञ्चशिख, वामशिख, आदि भेद होते हैं। चूडाकर्म संस्कार में एक गूढ़ रहस्य है। बालों में जो रूक्षता आदि दोष हैं उनका निवारण। वे स्निग्ध, सूक्ष्म, घन और घुघराले हों इसका प्रयास रखना चाहिये। 'क' अर्थात् सिर के 'अलम' अर्थात् अलंकार हैं। यदि शिरोभाग में उचित स्थान पर ये न हों तो औषध आदि के द्वारा उन्हें पूर्ण करना चाहिये। किसी भी शास्त्रोक्त संकल्प के समय शिखा को बांध लिया जाता है अर्थात् मर्यादित किया जाता है। शिखा अपने गोत्र, प्रवर एवं तन्मूलक कर्तव्यों का स्मरण दिलाती रहती है।

'उपनयन' शब्द का अर्थ है आचार्य के समीप बालक को उपस्थित करना। आचार्य के समीप जानेपर उसमें देव बुद्धि करनी होती है। उसकी आज्ञा का पालन करना होता है। आचार्य सम्बन्धी कुछ मर्यादायें हो जाती हैं। केवल सम्बन्धियों के बीच

रहकर जो मोह-ममता की बुद्धि होती है, उससे बालक मुक्त होता है। सेवा में रुचि होने से परिश्रमी हो जाता है। आचार्य के सम्मुख अपना बड़प्पन छोड़ने का अभ्यास होता है। दम्भ की निवृत्ति होती है। आज्ञानुसारी जीवन होने से वासनानुसारी जीवन का संकोच होता है। विद्याध्ययन एवं निश्चिन्त चिन्तन के लिये उत्तम अवसर प्राप्त होता है। अध्ययन-शाला, वन भ्रमण, कष्ट सहन और अपने हाथों से ही कूप, वावरी, उद्यान आदि के निर्माण का अवसर बनता है। आचार्य की सेवा से 'उपनीत' बालक अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है। इसका अर्थ है कि कोई भी अपनी विद्या, बुद्धि बल सम्पदा के द्वारा उस पर प्रभुत्व स्थापित करके उसे अनुचित कर्म के लिये प्रेरित नहीं कर सकता।

'उपनयन' के समान ही 'ब्रह्मव्रत' एवं 'वेदव्रत' संस्कार होते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत और वेदव्रत के पश्चात् ही निर्णय किया जा सकता है कि इस बालक को विवाह करना चाहिये अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण करना चाहिये। अपने गृह्यसूत्रों के अनुसार आचरण आवश्यक होता है। चारों वेदों का अध्ययन नहीं हो सके तो न्यूनातिन्यून अपनी शाखा के वेद का अध्ययन तो होना ही चाहिये। यदि कदाचित् यह भी शक्य न हो तो सदाचार का पालन करते हुए गायत्री जप करते रहना चाहिये। यज्ञोपवीत के समय गायत्री की दीक्षा दी जाती है। वह पावनी वेदमाता है। उसमें सब वेदों का सार भरा हुआ है। व्याहृती का अर्थ है सृष्टि का भेद—व्याहरण अर्थात् वाङ्मात्र। इसी में वाचारम्भणम् का मूल है। सृष्टि का प्रसविता, ज्ञानस्वरूप देव है। उसका ध्यान अविद्या का निवर्तक है। वह कहीं परोक्ष नहीं, अपरोक्ष रूप से बुद्धि का प्रकाशक है। महावाक्यार्थ पर्यन्त का गायत्री में समावेश है। अतएव गायत्री जप यज्ञोपवीती अधिकारी के लिये अनिवार्य है क्योंकि शास्त्रों में गायत्री का जप न करने पर प्रत्यवाय (अर्थात् अनिष्ट की प्राप्ति एवं अधःपतन) कहा है।

ऐन्द्रियक ज्ञान अथवा लौकिक विज्ञान के आधार पर बुद्धि का चाहे जितना उच्च कोटि का निर्माण हो, उससे केवल दृश्य पदार्थों का ही प्रत्यक्ष हो सकता है। नित्य परोक्ष अदृश्य परलोक, स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसी प्रकार साक्षात् नित्य अपरोक्ष आत्मा के अविद्यावरण का निवारण भी नहीं हो सकता। दोनों विषय ऐसे हैं जो श्रद्धा, परम्परा, किसी आचार्य के द्वारा प्रचारित अथवा समाज के द्वारा सुनिश्चित साधन प्रणाली से ही प्राप्त हो सकते हैं। इसके लिये ज्ञान के उस स्वरूप का अनुसन्धान अथवा जिज्ञासा करनी पड़ती है, जिससे जीव, ईश्वर और उनकी कृतियाँ—प्राकृत एवं कार्मिक प्रकाशित होती है। यह सुनिश्चित है कि ऐसा ज्ञान आत्मा ही है। परन्तु, इसी ज्ञान का मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद में आरोप करके ज्ञान का शुद्ध स्वरूप समझाया जाता है। यह न तो प्रयोगशालीय विज्ञान है, न कला कौशल है और न तो किसी वासना की पूर्ति का हेतु है। यह शुद्ध यथार्थ परमार्थ का बोधक है। अतएव जीवन के प्रभात में ही अर्थात् व्यवहार में प्रवेश करने से पूर्व ही इस अपौरुषेय ज्ञान पर आस्था हो जाना आवश्यक है। यही वह ज्ञान स्वरूप वेद है जिससे ईश्वर, जीव, जगत् सब ज्ञान के विषय

होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठते हैं और केवल ज्ञान स्वरूप, प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म ही शेष रह जाता है। यही वेद और वैदिक आचारों की सुदृढ़ पृष्ठभूमि है। उपनयन से लेकर ब्रह्मव्रत एवं वेदव्रत पर्यन्त यही शिक्षा प्राप्त होती है। समावर्तन से प्रवृत्ति लक्षण धर्म के अनुष्ठान में अधिकार हो जाता है। समावर्तन का निश्चय आचार्य की सूक्ष्म दृष्टि और शिष्य की योग्यता के अनुसार होता है। यदि शिष्य की दृष्टि वस्तुओं, व्यक्तियों, व्यवहारों एवं सम्बन्धों तथा वासना पूर्ति की ओर होती है तो वह निश्चय ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकारी होता है।

विवाह, अग्न्याधान, दीक्षा, महाव्रत एवं संन्यास ये संस्कार राग, द्वेष एवं मोहमयी प्रवृत्तियों को मर्यादित करते हैं। साथ ही निवृत्ति के प्रति रुचि, महत्त्व बुद्धि आदर तो उत्पन्न करते ही हैं, भोग, संग्रह, मनोराज्य एवं अभ्यास जन्य आकर्षणों से मुक्त होने की प्रेरणा भी देते हैं और निवृत्ति-वासना को परिपुष्ट भी करते हैं।

उदाहरणार्थ; विवाह संस्कार, उच्छृङ्खल प्रवृत्ति को अवरुद्ध करके एक स्त्री, एक पुरुष को परस्पर आबद्ध कर देता है। यह वर-वधू का बन्धन, भोग-वासना को संक्षिप्त कर देता है। यदि शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार स्त्री-पुरुष का सहवास हो तो दोनों की सहृदयता, सौमनस्य एवं सामरस्य बने रहेंगे। व्रत एक होंगे, चित्त एक होगा। संकल्प, एक होंगे, वाणी के स्वर एक होंगे। मन की गति, मति, रति मिल जायेगी और प्राकृत काम-वासना के कारण कुमार्ग में जाने की प्रवृत्ति सर्वथा निवृत्त हो जायेगी। अतः विवाह भोगार्थ संस्कार नहीं है, योगार्थ-संस्कार है। इस संयम से ही 'महाव्रत' की दीक्षा का अधिकार होता है। अधिकार का अर्थ किसी वस्तु अथवा व्यक्ति पर नियन्त्रण नहीं है, जीवन में योग्यता का समुन्मेष है। इससे होता यह है कि चाहे योग में रहें, चाहे भोग में रहें, चाहे लोग में रहें, चाहे रोग में रहें—सहिष्णुता, संयम, समता एवं असंगता बनी रहती है। 'महाव्रत' तब पूर्ण होता है, जब पति-पत्नी एक साथ रहकर भी भोग रहित एवं संग्रह रहित जीवन व्यतीत करते हैं। तपस्या, तितिक्षा एवं व्रत का पालन इस संस्कार का उद्देश्य है। संन्यास संस्कार में विहित भोग, दाय प्राप्त अर्थ, पारिवारिक सम्बन्ध एवं विहित धर्मानुष्ठान का भी त्याग हो जाता है। तब शिखा, यज्ञोपवीत की आवश्यकता नहीं रहती। आग्रह ग्रह-ग्रहिल संकीर्णता का उच्छेद हो जाता है और उदीर्ण महत्ता की उपलब्धि हो जाती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ही वस्तुतः संन्यास है। 'संन्यास' वह प्रदीप्त अग्नि है जो दृश्यादृश्य, प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष सभी प्रकार के अनात्म पदार्थों को आत्मसात् कर लेती है। वहाँ विचार और निश्चय भी शिथिल हो जाते हैं। अग्रहण एवं अन्यथा ग्रहण की निवृत्ति हो जाने से तत्त्वग्रहण की भी अपेक्षा नहीं रहती है। यह है सब प्रकार के तनावों से मुक्त, जीवन्मुक्त जीवन। यहाँ न विकार हैं, न संस्कार हैं। अतएव आकार, प्रकार का आग्रह भी नहीं है।

पिछले दस-बारह वर्षों से कर्मयोगी श्री घनश्यामदासजी बिरला की प्रेरणा एवं श्रीमती सरला वसन्त कुमार बिरला के अनुरोध से मैं कलकत्ता के बिरला-पार्क में श्री भगवद्गीता पर प्रवचन करने जाता रहा हूँ। वहाँ अपना घर जैसा ही हो गया है।

श्रीमतीसरला बिरला ने एक दिन बड़ी श्रद्धा से आग्रह किया कि देश-विदेश में सर्वत्र शास्त्रीय संस्कारों का लोप होता जा रहा है। लोगों को उसका महत्त्व, विज्ञान, रहस्य, पद्धति एवं उसके मन्त्रादि ज्ञान के लिए कोई हिन्दी में सरल पुस्तक होनी चाहिये। मैंने उन्हें देश के सर्वतोमुखी विद्वान् श्री पट्टाभिराम शास्त्री के नाम का सुझाव दिया। शास्त्री जी ने प्रसन्नता से यह आग्रह स्वीकार कर लिया और यह 'संस्कार-विज्ञान' नामक ग्रन्थ लिखा दिया। शास्त्री जी व्याकरण, न्याय, साहित्य, पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद, श्रौत-गृह्य-धर्म-सूत्र, कर्मकाण्ड एवं धर्मशास्त्र के भी पारदृश्वा विद्वान् हैं। उन्होंने बड़े प्रेम से यह 'संस्कार-विज्ञान' नामक ग्रन्थ लिखवाया है। यद्यपि वे हिन्दी भाषी नहीं है, तथापि उनकी पवित्र भाषा एवं निरूपण की शैली अत्यन्त सरल, रोचक एवं गम्भीर से गम्भीर भावों को अभिव्यक्ति देने में पूर्ण समर्थ है। उनका यह प्रसन्न गम्भीर ग्रन्थ संस्कारों का रहस्य हृदयङ्गम करने में और उनके सम्पादन अनुष्ठान में अतीव उपयोगी होगा एवं लोगों को इस दिशा में अग्रसर करेगा। यह ग्रन्थ विद्वत्-भोग्य होने के साथ साथ, वैदिक संस्कारों की समन्त्रक पद्धति सिखाता है। यजमानों एवं पुरोहितों दोनों का पथ-प्रदर्शन करता है। जो लोग संस्कारों के महत्त्व को नहीं समझते हैं उनकी बुद्धि के परिमार्जन के लिए तो यह ग्रन्थ स्वयं ही एक संस्कार है।

इस ग्रन्थ के कुछ अंश मैंने सुने हैं। मेरा हृदय प्रसाद एवं हर्षोल्लास से भर गया है। मैं इसके निर्माता श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी को शतशः धन्यवाद देता हूँ और इसकी प्रेरक, प्रकाशक श्रीमती सरला वसन्त कुमार बिरला को शत-शत शुभाशीर्वाद देता हूँ कि उनकी इसी प्रकार धर्म में मति, सदाचार में रुचि तथा भगवान् में रति बनी रहे।

शुभाशीराशयः सन्तु।

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

वृन्दावन
२१-९-८५



श्रद्धेय समाजसेवी देश भक्त श्री जी० डी० बाबू की पावन स्मृति में प्रकाशित

प्राक्कथन

पूज्य, तपोमूर्ति, वीतराग अनन्त श्री विभूषित श्री १००८ स्वामी अखण्डानन्द-सरस्वती महाराज जी के दर्शन के लिए एक बार मैं वृन्दावन गया था। स्वामी जी के नाम, व्यक्तित्व, पाण्डित्यप्रकर्ष, सभी शास्त्रों में निर्बाध-प्रवचनपटुत्व, भक्तजन-वात्सल्य, सतत परमात्मचिन्तन, अतिथि-सत्कार में व्यग्रता आदि गुणों से मात्र श्रवणेन्द्रिय द्वारा परिचित था। साक्षात् दर्शन के लिए लालायित होकर वृन्दावन ज्यों ही पहुँचा, पूज्य स्वामी जी के उदार और उदात्त स्वभाव को मैं क्या कहूँ, वे मेरे ठहरने के स्थान का निरीक्षण करने के लिए अपने शिष्यों सहित स्वयं आये, और जो कुछ न्यूनता रही उसको दूर किये एवं दूध तथा मक्खन आदि की व्यवस्था किये। मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ, परिवार के साथ गया था। मेरे विषय में पूज्य स्वामी जी का यह आदर भाव मुझे सचमुच लज्जित कर दिया। मैं अनेक वर्षों से उनके वचनामृत पीने को तृषित रहा। वृन्दावन में उनके सत्संगों में सम्मिलित होकर अमृतपान करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। कथा-प्रवचन के लिए स्वामी जी ने एक दिन मुझे आदेश दिया, तो मैं न केवल संकुचित ही हुआ किन्तु भयभीत भी हुआ; क्योंकि वहाँ की मण्डली में अनेक दार्शनिक विद्वान् साधु-सन्त महात्मा जुटे थे। पूज्य स्वामी जी के समक्ष मुझमें बैठने की भी योग्यता नहीं, व्यासपीठ में बैठना तो दूर रहा; तथापि आदेश का पालन करना चाहिए, ऐसा निश्चय कर व्यासपीठ पर बैठकर जो मेरे मन में आया प्रवचन कर मैंने स्वामी जी को प्रणाम किया। उसी समय उनका आदेश हुआ कि तुम संस्कारों के बारे में एक ग्रन्थ लिखो, छपवाने का प्रबन्ध मैं कर दूँगा।

उनका आदेश प्राप्त कर मैं काशी आया और सोचा कि क्या लिखूँ तथा ग्रन्थ का क्या नाम रखूँ। आजकल की धारा के अनुसार 'विज्ञान' शब्द-घटित ग्रन्थ का नाम रहे तो आकर्षक होगा, ऐसा समझकर 'संस्कार-विज्ञान' नामकरण कर ग्रन्थ लिखने लगा।

यद्यपि मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। हिन्दी भाषा में ग्रन्थ तैयार करना उप-हासास्पद होगा, ऐसा निश्चय होने पर भी इस कार्य में प्रवृत्त हो गया तथा ३०-४० पृष्ठ लिखकर पूज्य स्वामी जी की सेवा में अर्पित किया। उन्होंने लेख को यत्र-तत्र सुनकर प्रशंसात्मक पत्र लिखा—तुम्हारा निवन्ध बहुत ठीक है, ग्रन्थ को पूरा कर छपवाने का प्रबन्ध करो, खर्चे की व्यवस्था मैं करा दूँगा।

स्वामी जी के पत्र से मुझे लिखने की शक्ति प्राप्त हुई और धैर्य भी हुआ। उत्तर भारत में संस्कारों के लिए प्रामाणिक ग्रन्थ पारस्कर गृह्यसूत्र है। तदनुसार ग्रन्थ को तैयार करने लगा। संस्कारों के जानने के पूर्व मीमांसा की दार्शनिक बातों को जानना आवश्यक समझकर 'विषय-प्रवेश' के रूप में वेदसम्बन्धी कतिपय विषयों को निरूपित

किया। अनन्तर 'जातकर्म' से प्रारम्भ कर 'सीमन्तोन्नयन' तक के क्रम का मैंने इसलिए अवलम्बन किया कि भूमण्डल में जन्मे मानव का मुख्य लक्ष्य क्या होना चाहिए ? यह विषय मुझे इसमें निरूपित करना था। लक्ष्य-सिद्धि के लिए मानव को संस्कारों से संस्कृत होना आवश्यक है। तदर्थ अपना संस्कार और उनके मन्त्रों का तत्त्व जानना जरूरी है। और 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इस गीता के वचन से जनन-मरण क्रम मुझे हृदयङ्गम हुआ। अत एव गृह्यसूत्रों के क्रम का उल्लङ्घन कर इस क्रम को अपनाया।

यह संसार मानव मात्र का नाटक-घर है। विविध पात्रों का वेष धारण कर नट नृत्य करते हुए चले जाते हैं, पुनः वेषान्तर को धारण कर नृत्य करते हैं, चले जाते हैं। उसी प्रकार कृमि-कीट-सरीसृप-पतङ्ग आदि योनियों में जन्म तदनन्तर मरण इस रूप से जगत् में नाचते रहने से जन्म का साफल्य क्या हुआ ? पुण्य-विशेष से मानव-शरीर में जीव ने प्रवेश किया, पुनः उस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में घुसता रहेगा। किन्तु जन्म का साफल्य कब प्राप्त होगा ? इसका अन्त भगवच्छरणागति में ही है। एक भक्त कहता है—

संसाराख्यविशालनाटकगृहे सर्वाणि रूपाण्यहो
धृत्वाऽधोमुखयोनिकायवनिकां निस्सृत्य निर्गत्य च।
सर्वज्ञस्य दयापरस्य तव देवाग्रे चिरं नृत्यतः
श्रान्तस्यापि ममालमित्युचितवागेवास्तु विश्राणनम्॥

मानव का परम लक्ष्य यही होना चाहिए कि इस जनन-मरण व्यापार से छुटकारा पावे। तदर्थ अपने को संस्कृत बनाना जरूरी है। भगवच्चरणारविन्द तक पहुँचने की चित्तवृत्ति चाहिए। चित्त के शुद्ध होने पर वह वृत्ति बन सकेगी। चित्त की शुद्धता के लिए विहित साधु कर्मों का आचरण कारण है। कर्माचरण के लिए अधिकार, अधिकार के लिए संस्कार कारण हैं। कारणमाला अलंकार के रूप में यह परम्परा बनी हुई है। यद्यपि पुराणों में वर्णित सन्त-महात्मा जातकर्म आदि संस्कारों के बिना ही मिलते हैं, जो अपनी चित्तवृत्ति को सतत भगवच्चरणारविन्द में लगाते थे; तथापि वे पूर्वजन्म में विहित संस्कारों से संस्कृत थे, यह मानना उचित है; क्योंकि कार्यकारण भाव की रक्षा करना शास्त्रीय मर्यादा है। हम भले ही संस्कारों से संस्कृत न हों किन्तु हमें संस्कारों का ज्ञान रखना आवश्यक है। अत एव मूलभूत संस्कारों का विवेचन ही इस ग्रन्थ में किया गया है। इस ज्ञान का परम प्रयोजन भगवच्चरणारविन्दों में चित्तवृत्ति का लगाना है। मानव को इस परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए यही एकमात्र मार्ग है।

वेदों में विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए नाना कर्मों का विधान मिलता है। उनके अनुष्ठान से फलप्राप्ति सद्यः भी होती है, कालान्तर में भी। कालान्तर के फलों के उपभोग के लिए जन्म लेना पड़े तो मानव को कर्मकाण्ड परम लक्ष्य की ओर कैसे ले जायगा ? यह प्रश्न खड़ा हो जाता है, किन्तु अनासक्ति या निष्काम भाव से कर्मों के आचरण से वे परम लक्ष्य प्राप्त करने में बाधक नहीं होंगे; प्रत्युत विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अननुष्ठान से वे उस मार्ग के अवरोधक बन सकते हैं।

शास्त्रकारों ने कार्य मात्र के प्रति अन्यान्य कारणों के साथ प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव—प्रतिबन्धक सम्बन्ध के नहीं रहने को भी कारण माना है। हमारा प्रतिबन्धक है, ऐसा ज्ञान न होने पर भी प्रतिबन्धक हो सकता है; इस ख्याल से भी उसकी निवृत्ति के निमित्त नित्य-नैमित्तिक कर्मों का आचरण अनिवार्य है। अत एव हमें विहित संस्कारों से संस्कृत होना पड़ेगा।

जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र समान अधिकार रखते हैं। इनमें उच्च-नीच भाव का स्थान नहीं है, किन्तु लक्ष्यप्राप्ति के साधनों में हेर-फेर अवश्य है। हम अनुभव करते हैं कि अन्तरिक्ष में अनन्तानन्त ग्रह-नक्षत्र विचरणशील हैं, फिर भी एक-दूसरे से टकराते नहीं। अपने लिए कल्पित मार्ग में ही वे चलते हैं, उसका उल्लङ्घन कोई नहीं करता। इससे मानव को शिक्षा प्राप्त करती है कि हमें भी मर्यादा के पालन में दत्तचित्त रहना चाहिए। अपने कर्मों में हम दत्तचित्त रहेंगे तो चित्त की स्थिरता का अभ्यास होगा और परम लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता मिलेगी। साधनों में विभिन्नता अवश्य है किन्तु सभी का साध्य एक है। साध्य-प्राप्ति के अनन्तर सभी एक हो जाते हैं। अनेकों में एकता को प्राप्त करना हमारी परम्परा है और लक्ष्य भी।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

परम लक्ष्य की प्राप्ति में सूर्य-चन्द्र-विद्युत्-अग्नि आदि का कोई अलग प्रकाश नहीं है। प्राप्ति के पूर्व इनका व्यवहार रहा है। उसी प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र का व्यवहार लक्ष्यप्राप्ति के पूर्व तक ही रहेगा, प्राप्ति के अनन्तर सभी एक हैं।

अभी हम व्यावहारिक जगत् में रह रहे हैं, नियमानुसार हमें रहना है, अनुशासन का पालन करना हमारा कर्तव्य है। यद्यपि परतत्त्व से अतिरिक्त हमारी सत्ता नहीं है, किन्तु व्यावहारिक सत्ता है ही। व्यावहारिक जगत् में रहते हुए हम परम लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं किन्तु उस लक्ष्य को प्राप्त करने के जो साधन हैं उनसे विमुख हो जाते हैं, तो यह न्याय्य नहीं।

कामं जनाः स्मयन्ते कैलासगिरिवर्णनावसरे।
साधनकथनावसरे साचीकुर्वन्ति वक्त्राणि॥

कैलाश पर्वत परम धाम है, भगवान शंकर की आवासस्थली है, उनके सान्निध्य में रहना सौभाग्य से ही संभव है इत्यादि सुनकर प्रबल इच्छा होती है कि वहाँ पहुँचना चाहिए, किन्तु दुर्गम मार्ग के वर्णन को सुनकर मुख को टेढ़ा कर लेते हैं। जाने वाले दुस्सह क्लेशों को सहन कर पहुँच जाते हैं। उसी प्रकार परम लक्ष्य की मधुरता की लालच सभी को है ही किन्तु संस्कार-रूपी साधनों को देखकर घबड़ाहट उत्पन्न हो जाती है। यह उचित नहीं है। दृढ़चित्त होकर साधनों में लग जाना ही धीर पुरुषों का लक्षण है।

उच्च शिखर तक पहुँचना उपत्यका के दुर्गम मार्ग को पार करने की अपेक्षा सुगम है। वायुयान से यों ही शिखर तक पहुँच सकते हैं किन्तु समर्थ ही कतिपय पहुँच सकते हैं। उसी प्रकार कर्मानुष्ठान के विना भी ज्ञानी और भक्त परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु उतना सामर्थ्य प्राप्त करने पर ही यह साध्य होगा। ज्ञानी एवं भक्त भी स्वस्वाधिकार के अनुसार कर्म का आचरण करते ही हैं। कर्म-सन्न्यास का अर्थ कर्मों को छोड़ना नहीं है किन्तु कर्मों के फल का त्याग है। कर्मों के फल का त्याग करने के लिए चित्त की परिपक्वता जरूरी है। व्यावहारिक दशा में सहसा वह साध्य नहीं। संस्कारों से संस्कृत होकर नियत कर्मों का सतत अनुष्ठान करते-करते वह अवस्था प्राप्त होगी। वही वैराग्य कहलाता है। असाधारण रूप से वैराग्य की आवश्यकता है। वाचा कहने मात्र से वह प्राप्य नहीं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' मात्र कहने से जगत् मिथ्या नहीं होगा। जगत् की प्रत्येक वस्तु में वास्तविक ब्रह्मभाव होना चाहिए। भगवन्नाम के स्मरण एवं कीर्तन में महापापों के निवारण की शक्ति विद्यमान है किन्तु इस शक्ति को जानकर पाप कर्म करते जायँ और नाम कीर्तन से उनको हटाते रहें, यह उचित नहीं। पाप कर्मों से हटने के लिए सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिए। सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति के लिए स्वयं संस्कारों से संस्कृत होना पड़ेगा।

सत्कर्मों का अनुष्ठान करने वाले परिवार भारत में अनेकानेक रहे हैं और वर्तमान में भी विद्यमान हैं। उनमें विरला-परिवार प्रथम गणनीय है। मेरा उस परिवार से परम्परया एवं साक्षात् सम्बन्ध बना हुआ है। सन् १९२४ से १९३३ तक मैं काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए दो-तीन वर्ष तक १५ रुपये की 'विरला छात्रवृत्ति' पाता रहा। उन दिनों विरला परिवार के आदि पुरुष श्रद्धेय वलदेवदास जी विरला अपने वगीचे में कभी अध्यापकों को वुला कर सत्कार करते थे तो कभी छात्रों को वुला कर आम खिलाना, कम्बल बाँटना, विद्यार्थियों से प्रश्नोत्तर सुनना आदि विनोद-गोष्ठी में समय व्यतीत करते थे। हिन्दू विश्वविद्यालय में मैं सन् १९३४ से अध्यापन करने लगा। प्रायः प्रतिवर्ष श्रीमान् विरला जी अपनी कोठी में पण्डितों की सभा वुलाते थे, उसमें मैं भी सम्मिलित होता था। एक वर्ष (वर्ष स्मरण नहीं) अपने दो पौत्रों का उपनयन-संस्कार करवाये, जिसमें पूज्य महामना मालवीय जी महाराज के द्वारा गायत्री का उपदेश दिया गया था। उस अवसर पर पण्डितों की वहुत बड़ी सभा हुई थी, मैं भी सम्मिलित रहा। अपने परिवार में वच्चों के उपनयन आदि संस्कारों को कराने की परम्परा विरला जी ने कायम रखी।

पूज्य मालवीय महाराज जी के आदेशों से मैं 'जयपुर महाराज संस्कृत कालेज' के अध्यक्ष पद पर सात-आठ वर्ष कार्य कर कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकारियों द्वारा बुलाये जाने पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में कार्यरत था। उन दिनों पुनः विरला-परिवार से सम्पर्क हुआ। यह सम्पर्क विचित्र रूप से हुआ। सुप्रीम कोर्ट में मेरे भाई (फूआ के पुत्र) एन्० चन्द्रशेखर अय्यर जज थे। वे सेवानिवृत्त होने के अनन्तर किसी राजकीय कार्य में संलग्न थे। अपने कार्यविशेष से कलकत्ता आये और विरला पार्क में ठहरे थे।

उन दिनों पूज्य श्रीमान् जी० डी० विरला एवं श्रीमान् युगल किशोर जी विरला आदि एकत्रित थे। एक दिन मेरे भाई ने मुझे बिरला पार्क में बुलाया और अपने साथ रहने को कहा। दो-तीन दिन उनके साथ रहने के बाद एक दिन श्रीमान् जी० डी० बिरला जी ने मेरे भाई से पूछा—ये कौन हैं? भाई ने परिचय कराया और उसी दिन भाभी जी (चन्द्र-शेखर अय्यर की धर्मपत्नी) सीतम्मा वहाँ जुटे हुए विरला परिवार के स्त्रीगण से भी मेरा परिचय करायीं। मुझे पता नहीं, वहाँ कौन-कौन महिलाएँ थीं, किन्तु अव श्रीमती सौभाग्यवती सरला देवी जी एवं श्रीमती सौभाग्यवती प्रियंवदा विरला जी के परिचय से मुझे निश्चय करना पड़ता है कि ये दोनों उस गोष्ठी में थीं। इसी प्रकार पुरुषों की गोष्ठी में श्रीमान् कृष्णकुमार विरला, श्रीमान् वसन्त कुमार विरला एवं श्रीमान् माधव प्रसाद विरला आदि थे, यह मुझे निश्चय करना पड़ा। इतना परिचय पाकर इस परिवार से अनेक गरीब छात्रों को छात्रवृत्ति दिलाया एवं कन्या-विवाहों के लिए कई व्यक्तियों को सहायता दिलायी। साधारण परिचय की यह घटना है।

कलकत्ता में विरला परिवार द्वारा उपनयन, विवाह, पुत्रजनन आदि उत्सवों में पण्डितों की सभा बुलायी जाती थी, उसमें मेरा भी नाम रहता था, भाषण-व्याख्यान आदि से हमारा भी सम्बन्ध रहता था। जिससे परिचय में वृद्धि हुई। एक दिन श्रीमती सरला देवी ने गाड़ी भेज कर मुझे बुलवाया और कहा—'मेरा पौत्र बीमार पड़ा है। डाक्टरों का इलाज चल रहा है किन्तु दैववल की आवश्यकता है। अतः कुछ पाठ क़ीजिये। दूसरे से नहीं कराना चाहती। आपको ही करना है। आपमें हमारा विश्वास है।' मैं विश्वविद्यालय का नौकर हूँ, कैसे इस कार्य को करूँगा, यह सोच ही रहा था कि आपने कहा—सोचिये नहीं, यह संकट की घड़ी है; आपको जब सुविधा हो, यहाँ आकर हमारे पूजा-गृह में पाठ कीजिये। मुझमें भी दयाभाव जागृत हो गया। मैंने कहा—सायं सन्ध्या से निवृत्त होकर आऊँगा, गाड़ी भेज दें। तदनुसार मैं जाता था। वाल्मीकि रामायण के सुन्दर काण्ड का सम्पुट पाठ मैंने शुरू कर दिया। यह पाठ कठिन है। प्रतिदिन सात-सात सर्गों का क्रम है।

दो-चार दिन बीतने के बाद एक दिन शिशु का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। डाक्टर लोग कमरे से बाहर आ गये, कुछ रोने का भी शब्द सुनने में आया। श्रीमान् वसन्त बाबू 'शास्त्री जी बच्चे को बचाइये' कहते हुए मेरे पास आये, मौन होने के कारण मैंने इशारा करके उनको भेज दिया। उस समय के पाठ का प्रसङ्ग था--- प्रसन्न मुद्रा से सीता जी हनुमान् जी के हाथ में अपनी चूड़ामणि दे रही हैं। उस सर्ग को समाप्त कर मैं उठा तो बड़े बाबूजी श्रीमान् जी० डी० बिरला आये और कहे कि आपने क्या किया? कौन सा सम्पुट है? कुछ नहीं, परमात्मा से प्रार्थना करता था; कहकर मैं घर चल दिया। बच्चा स्वस्थ हो गया। सभी प्रसन्न हो गए। यह घटना उन्हें स्मरण हो या न हो, मुझे स्मरण है।

कलकत्ता से पुनः काशी आने का सौभाग्य प्राप्त कर मैं एक बार दिल्ली गया था, वहाँ सुना कि बिरला मन्दिर में पूज्य स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती महाराज जी

सप्ताह भर प्रवचन करेंगे। हर्षान्वित हो प्रतिदिन कथा सुनने जाता था। एक दिन स्वामी जी ने मुझे भाषण देने को कहा। यथाशक्ति मैंने आज्ञा का पालन किया। अपने परिवार के साथ श्रीमान् लक्ष्मीनिवास बिरला जी (जी० डी० बाबू के प्रथम पुत्र) उपस्थित थे। वहाँ पूज्य स्वामी जी ने उनसे परिचय कराया। इस प्रकार बिरला-परिवार से परिचित हुआ।

इस परिवार के विषय में कुछ शब्द अंकित कर अपने को गौरवान्वित करना चाहता हूँ। देश के सर्वतोमुखी उत्थान के लिए मेरी दृष्टि में चार स्तम्भ प्रतीत होते हैं। विद्वद्गण, विद्यार्थी गण, उद्योगपति, एवं श्रमजीवी। ये चारों परस्पर सापेक्ष हैं। इनमें किसी भी स्तम्भ के कमजोर पड़ जाने से देशरूपी इमारत की हानि निश्चित है। उद्योगपतियों में बिरला परिवार अपने व्यापार में तत्पर होकर अवशिष्ट तीनों स्तम्भों का पोषण करता हुआ देश को सुदृढ बनाने में लगा है। देश में कितने मन्दिरों, महाविद्यालयों, चिकित्सालयों, धर्मशालाओं को बनवाया है, वे संख्यातीत हैं। न केवल भारत किन्तु सम्पूर्ण विश्व इस परिवार की सेवा से लाभान्वित है।

श्रीमान् जी० डी० बिरला जी न केवल कर्मयोगी रहे किन्तु स्थितप्रज्ञ भी रहे, कहना अत्युक्ति नहीं होगी। उनकी उदारता, कर्मनिष्ठा, दयालुता प्राचीन परम्परा की रक्षण-प्रवणता, सत्संग-लोलुपता, पुरुषकार की अपेक्षा दैवी शक्ति के अर्जन में तत्परता आदि प्रशंसनीय हैं। देश की उन्नति ही अपनी उन्नति समझकर वे कार्य करते थे। अतुल संपत्ति के अधिकारी होनेपर भी उनका रहन-सहन साधारण ही था। उनका व्यक्तित्व अनन्यादृश है। देश के बड़े-बड़े नायक बालगङ्गाधर तिलक, महात्मागांधी, पण्डित मदन-मोहन मालवीय, पं० मोतीलाल नेहरू आदि से सम्पर्क रहने पर भी वे किसी राजनीतिक दल से लिप्त न थे। देश के किसी भी कोने में ईति-बाधाओं से पीड़ित जनवर्ग को सहायता पहुँचाना उनका स्वभावसिद्ध गुण था। दैवी शक्ति के अर्जन में निरन्तर संलग्न थे। गङ्गोत्री, यमुनोत्री, बदरीनाथ, केदारनाथ आदि तीर्थों की यात्राएँ पैदल ही कर पुण्य-पुञ्ज का अर्जन किया। विदेशों में भ्रमण कर वहाँ के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री आदि से सम्पर्क रखते हुए अपने उद्योग का विस्तार कर जन्मभूमि भारत का गौरव बढ़ाया।

भारत की स्वतन्त्रताप्राप्ति में जी० डी० बाबू का योगदान अवर्णनीय है। धन-सम्पत्ति, परिवार-सम्पत्ति से परिपुष्ट होकर भी, वे निर्लिप्त ही थे। परिवार में पत्नी, बच्चे और बन्धु-बान्धवों से प्रेम रखते हुए भी वैराग्य-सम्पन्न थे।

दशरथ के चार पुत्रों के समान बाबू बलदेवदासजी के चार सुपुत्र–श्रीमान् युगलकिशोर बाबू, श्रीमान् रामेश्वर दासजी, श्रीमान् घनश्याम बाबू, और श्रीमान् ब्रजमोहन बाबू थे। चारों राजस्थान के रत्न ही थे। उनमें बाबू घनश्याम सचमुच 'घनश्याम' ही थे क्योंकि वे 'मरुभूमि के कादम्बिनी' रहे हैं। संक्षेप में कहा जाय तो वे भारतमाता के अनितर-साधारण सुपुत्र, महान् देशभक्त, कर्मनिष्ठ, शमदमादि गुणसम्पन्न, एक महापुरुष थे। गृहस्थ को जैसा होना चाहिए वैसा वे अपना व्यवहार रखते थे। श्रीमान् जी० डी० बाबू

एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका नाम भविष्य के इतिहास-ग्रन्थों में देशभक्तों की श्रेणी में अंकित रहेगा। जागतिक विषयोपभोग के साधनों से सम्पन्न होते हुए भी वे विषयों से विमुख ही थे, क्योंकि उनका ध्येय राष्ट्र की उन्नति एवं अपने उद्योग का प्रचार-प्रसार था। अपनी सन्तति एवं बन्धु-बान्धवों में अगाध प्रेमभाव रखते हुए वे 'वसुधैव कुटुम्ब-कम्' के सिद्धान्त पर आरूढ थे।

महनीय गुण-गण-संम्पन्न श्रीमान् जी० डी० बाबू ने अपने सुपुत्रों श्रीलक्ष्मीनिवास बाबू, श्रीकृष्णकुमार बाबू एवं श्रीवसन्तकुमार बाबू को नीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का ज्ञान अपने आचरणों और व्यवहारों द्वारा कराया ताकि वे अपने पथ पर चल सकें। सचमुच वे महाभाग्यवान् रहे हैं क्योंकि सहस्रचन्द्र-दर्शन अर्थात् प्रपौत्र के मुखदर्शन का पुण्य अर्जित किये। इतनी आयु तक स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हुए देश की सर्वाङ्गीण सेवा में लगे रहना अत्यन्त दुर्लभ है।

केवल उपयोक्ष्यमाण संस्कार कर विरत रहने की भारतीय परम्परा नहीं है, किन्तु उपयुक्त संस्कार भी अवश्य किया जाता है। प्रधान देवता को उद्देश्य कर संकल्पित द्रव्य को संस्कारों से संस्कृत करना उपयोक्ष्यमाण संस्कार है। संस्कृत द्रव्य के एकदेश का विनियोग कर अवशिष्ट द्रव्य का भी संस्कार करना उपयुक्त संस्कार कहलाता है। यह कर्मकाण्ड में एक-कर्तृक होता है। अर्थात् जो उपयोक्ष्यमाण संस्कार का कर्ता है वही उप-युक्त संस्कार का भी कर्ता है; यह स्थिति अलौकिक कर्मों में है। लौकिक कर्मों में स्थिति विपरीत हो जाती है। हमें भारतमाता को देव मानकर चलना है। माता की सेवा ही लौकिक यज्ञ है। देशसेवा रूपी इस यज्ञ में पिता अपनी कुल-परम्परा से अर्जित द्रव्य-धन-धान्य, पुत्र-पौत्र आदि को वृद्धिसंस्कार से संस्कृत कर माता की सेवा में लगाता है, यही उपयोक्ष्यमाण संस्कार है। देशसेवा दीर्घकाल-साध्य 'सत्र'–यज्ञ तुल्य है, इसकी समाप्ति नहीं है। इस प्रकार के सेवा-यज्ञ को समाप्त किये बिना यदि पिता का देहावसान हो जाता हो तो पिता से वृद्धिगत पुत्र-पौत्र को पिता का संस्कार करते हुए उसी देशसेवा रूपी 'दीर्घसत्र' में लग जाना चाहिए। पुत्रों द्वारा पिता के लिए किये हुए इन्हीं संस्कारों को उपयुक्त संस्कार कहते हैं। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' श्रुति प्रमाण से पिता ही पुत्र होता है और वह पुत्र ही पिता होता है। अर्थात् स्थायी आत्मा विविध शरीररूपी पञ्जर ग्रहण करता है। आदि जगत्पिता परमेष्ठी सब शरीरों में स्थित हैं। आत्मा का भोगायतन शरीर है। भोगायतन शरीर के द्वारा ही वह क्रिया-कलाप कर सकता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो इस लौकिक देशसेवा-सत्र में उपयोक्ष्यमाण और उपयुक्त संस्कारों का एक-कर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। इस कर्ता को अग्निमान्, विद्यावान्, एवं सामर्थ्यसम्पन्न होना चाहिए।

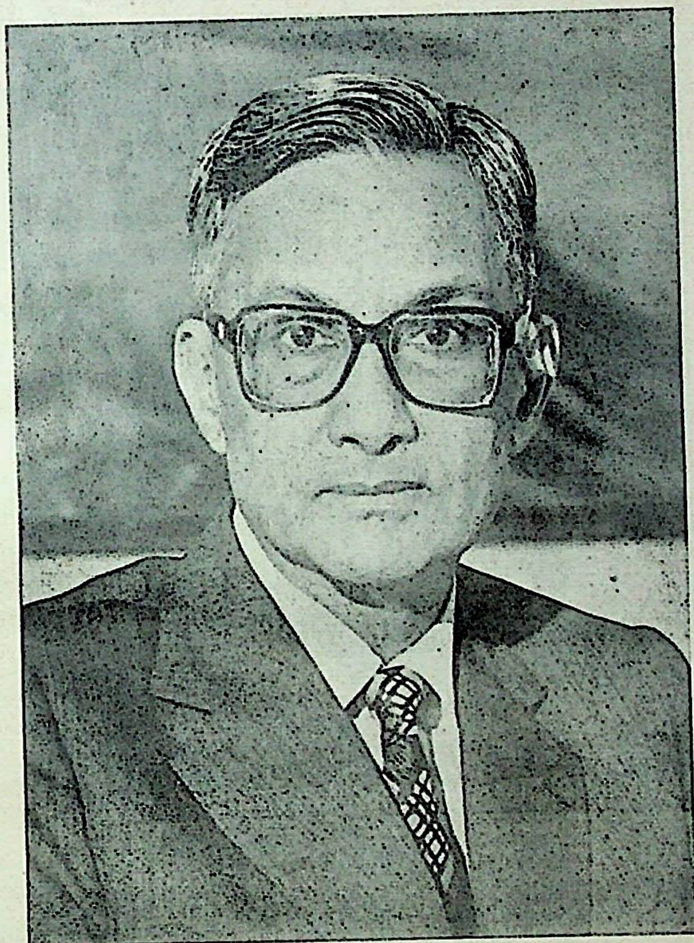
बिरला परिवार में श्रीमान् जी० डी० बाबू के तीनों पुत्रों सेमे रा परिचय है। उसमें श्रीमान् वसन्त बाबूजी से कुछ विशेष परिचय है। वसन्त बाबूजी का व्यक्तित्व प्रायः अपने पिताजी के व्यक्तित्व से मिलता-जुलता है। श्री वसन्त बाबू सौम्य, मितभाषी एवं

गम्भीर चिन्तक हैं। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इस शास्त्र का ज्वलन्त उदाहरण अपेक्षित हो तो वसन्त बाबू को कह सकते हैं। वसन्त बाबू मातृमुख हैं 'धन्यो मातृमुखस्सुतः'। पिताजी के द्वारा क्षुण्ण पथ पर चलते हुए आप उद्योग-धन्धों में नये प्रतिष्ठानों का भी निर्माण किये हैं। देशसेवा-भाव आप में अक्षुण्ण है। पिताजी से प्रवर्तित कार्यों के रक्षण-पोषण मात्र में न रहकर उनमें नवीनता लाने में सचेष्ट रहते हैं। जैसे जी० डी० बाबू ने अपने पुत्रों को उपयोक्ष्यमाण संस्कारों से संस्कृत किया, वैसे ही उनके पुत्रों ने पिता को उपयुक्त संस्कारों से संस्कृत किया। पुत्रों में वसन्त बाबू कनिष्ठ हैं। कनिष्ठ पुत्र पर माता-पिता का विशेष स्नेह होता है, पुत्र की भी माता-पिता में विशेष श्रद्धा-भक्ति रहती है। पिता का विदेश में देहावसान-होने पर भी वसन्त बाबू ने और्ध्वदेहिक संस्कारों को यथावत् सम्पन्न कराकर पिताजी की अस्थियों को गङ्गोत्री में प्रवाहित किया एवं तर्पण आदि कार्य-कलाप श्रद्धा से सम्पन्न किया। यही सच्चा उपयुक्त संस्कार है।

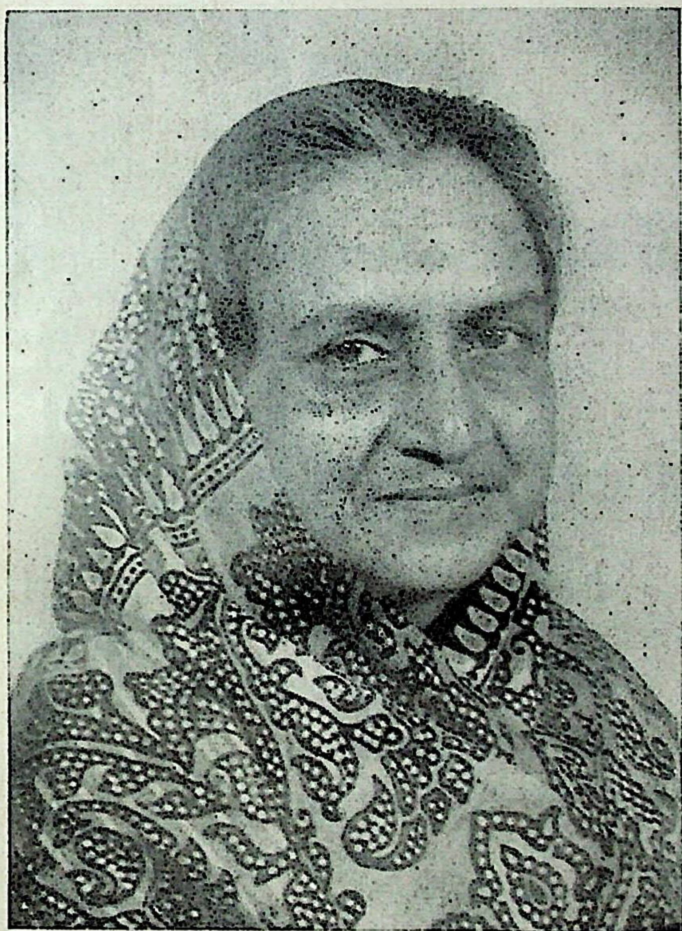
इन संस्कारों को सम्पन्न करने के लिये गृहस्थ का गृहिणी के साथ रहना आवश्यक है। वसन्त बाबू का विवाहसंस्कार प्रायः १९४२ ई० में हुआ। विवाह के उपलक्ष्य में बिरला जी के भवन में पण्डित सभा हुई थी, जिसमें मैं भी सम्मिलित था; ऐसा स्मरण आता है।

वसन्त बाबू का विवाह मध्यप्रदेशीय अकोला के सुप्रसिद्ध समाजसेवी, देशभक्त श्रीयुत ब्रजलाल बियाणी जी की पुत्री सौभाग्याकांक्षिणी सरला जी से हुआ। कुमारी सरला जी बचपन से ही ऐसे परिवेष में पाली गई थीं जहाँ यमुनालाल बजाज आदि देश के बड़े-बड़े नेता आते-जाते थे। नेताओं की गोष्ठियों में देश की स्वतन्त्रता के विषय को छोड़कर अन्य चर्चा नहीं होती थी। इसका संस्कार कुमारी सरला जी के मन में थोड़ा-थोड़ा जमने लगा। सरला जी अकोला के स्कूल में पढ़कर शिक्षा-दीक्षा पाती थीं। स्कूल की पढ़ाई एवं खेलकूद में प्रतिभासम्पन्न थीं। स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर उच्च शिक्षा के लिए पूना परगूषण कालेज में शिक्षा ग्रहण करती हुई सरला जी कालेज में मेधावी छात्रा के रूप में गिनी जाती थीं। बोल-चाल, खेल-कूद आदि से कालेज में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। घर के अभिभावक, विद्यालय के अध्यापक एवं विद्यार्थियों के सम्पर्क से बाल्यावस्था में जो संस्कार प्राप्त होते हैं वे जीवन-पर्यन्त स्थायी रहते हैं।

इन दिनों महात्मा गान्धी जी के अनुयायियों में जी० डी० बाबू जी भी थे और वे श्रीमान् बियाणी जी के घर आते-जाते थे। धीरे-धीरे यमुना लाल बजाज जी के मानस में यह विचार आने लगा कि बिरला परिवार और उनके परिवार का लेन-देन सम्बन्ध क्यों न हो। महात्मा जी के परामर्श एवं दैवसंयोग से श्री जी० डी० बाबू के सुपुत्र श्री वसन्त कुमार जी से सौभाग्याकांक्षिणी सरला के सम्बन्ध के विषय में बात चली। सुन्दर मुहूर्त में विवाहसंस्कार सम्पन्न हुआ। वसन्त बाबू सच्चे अर्थ में 'गृहस्थ' हुए क्योंकि 'गृहिणी गृहमुच्यते' कहा है। विद्यावती, सुशीला एवं घर-गृहस्थी चलाने में चतुर बहू के आ जाने से श्रीमान् बाबू जी० डी० बिरला जी अत्यन्त प्रसन्न हुए।



समाजसेवी दानवीर श्री वसन्त कुमार बिरला को शुभाशंसन



सौभाग्यवती श्रीमती सरलादेवी बिरला जी को शुभाशंसन

श्रीमती सौभाग्यवती सरला जी ने विवाह के चार-पाँच वर्षों के भीतर ही अपने पति की प्रेरणानुसार कलकत्ता में समाज-कल्याण और स्त्री-समाज के उत्थान के लिए शिशुविहार और अनेक विद्यालयों को प्रवर्तित किया; जिनमें अध्ययन करती हुई हजारों छात्राएँ आज उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। श्रीमती सरला जी इन विद्यालयों में स्वयं जाकर निरीक्षण करने, अध्यापक और छात्राओं की समस्याओं को दूर करने, विद्यालयों के सांस्कृतिक उत्सवों में सम्मिलित होने और खेल-कूद में छात्राओं को प्रोत्साहित करने आदि में दिलचस्पी रखती हैं। विद्यालय को छात्राओं को अपने परिवार के समान देखना श्रीमती सरला जी का विशेष गुण है। कलकत्ता में आपने अपनी रुचि के अनुसार ललितकला-चित्रकला सम्बन्धी एक विशाल 'बिरला अकादमी' हाल स्थापित करा कर बड़ा यश अर्जित किया।

यह 'बिरला अकादमी' हाल कलकत्ता-वासियों एवं दर्शक यात्रियों के आकर्षण का बड़ा भारी केन्द्र बना हुआ है। इसमें एक संग्रहालय भी है जिसमें सांस्कृतिक चित्रकला, परिधानकला, ताम्रवर्तनों में रचित कलाएँ प्रदर्शित की गयी हैं। इनके अध्ययन से भारत की प्राचीन संस्कृति स्पष्ट रूप से अवगत हो जाती है। 'बिरला अकादमी' में इन बातों की शिक्षा की व्यवस्था भी है, जिससे हजारों छात्र-छात्राएँ शिक्षा का लाभ उठाती हैं। इस शिक्षा से लोग स्वावलम्बी बन सकते हैं। परीक्षा में उत्तीर्ण होकर नौकरी के लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। श्रीमती सरला देवी ने अपनी सूझ-बूझ से इस अकादमी को परिवर्द्धित किया। समाज-कल्याण के अतिरिक्त इसमें अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं हैं। इसी महत्तम कार्य के लिए श्रीमती सरला जी 'चीन अकादमी' के द्वारा 'शिक्षाविद्' उपाधि से अलंकृत की गयी हैं। अपनी प्रतिभा और कार्य-कुशलता के कारण श्रीमती सरला जी सन् १९६० में न्यूयार्क अन्ताराष्ट्रीय सभा में सदस्य के रूप में चुनी गयी एकमात्र भारतीय महिला हैं।

श्रीमान् जी० डी० बिरला एवं अपने पतिदेव के द्वारा विश्व में प्रवर्तित उद्योग-प्रतिष्ठानों के श्रमिकवर्ग के सुख-दुःख को पूछ कर उनके आकांक्षित मनोरथ की पूर्ति करने, यथासम्भव प्रतिष्ठानों को व्यवस्थित करने आदि में आप व्यस्त होती हुई भी अपने घर के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने में मनोयोग रखती हैं। अपनी दिनचर्या को व्यवस्थित रखकर प्रातः कृत्य के अनन्तर गीता, रामायण, भागवत आदि का पारायण करना श्रीमती सरला जी का प्रतिदिन का कार्य है। इनकी कार्य-प्रणाली से श्रीमान् जी० डी० बाबू केवल सन्तुष्ट ही नहीं थे, किन्तु निश्चिन्त भी थे। परिवार के देवर, ननद एवं उनके कुटुम्ब के अपने घर आ जाने पर हर्षोल्लास से उनका स्वागत-सत्कार करना, अतिथियों का प्रेमपूर्वक आतिथ्य करना, विद्वान् आ जाने पर सत्कार करना आदि श्रीमती सरला जी में विशेषता देखी जा सकती है। अपने घर पर कभी-कभी सन्त-महात्माओं को बुला कर भागवत-सप्ताह, रामायण-नवाह आदि आयोजित कर अपने बन्धु-बान्धवों के साथ कथाओं को सुनकर रसास्वाद से आनन्दित होना निजी विशेषता है, क्योंकि लक्ष्मी-सम्पन्न व्यक्तियों में यह प्रवृत्ति अत्यन्त ही विरल है। गत वर्ष जयपुर के मोती डूँगरी गणेश

मन्दिर का जीर्णोद्धार तथा मन्दिर के बगल में एक विशाल राधा-कृष्ण मन्दिर को प्रतिष्ठापित कर श्रीमती सरला जी ने जयपुर की शोभा परिवर्द्धित की है। लाखों-करोड़ों रुपये व्यय करके इन्होंने अपनी सहज उदारता दिखलायी है।

श्रीमान् जी० डी० बाबू के चले जाने पर उनकी सरणि का आश्रय करते हुए श्रीमान् वसन्त बाबू एवं श्रीमती सरला दम्पति ने देश और समाज के हित के लिए अनेक अच्छे-अच्छे कार्य किये हैं। संक्षिप्त शब्दों में कहा जा सकता है कि इस दम्पति ने अपने धन को समाज-सेवा के लिए मुक्तहस्त समर्पित किया है। बिरला ट्रस्ट, अकादमी ट्रस्ट, जयश्री ट्रस्ट आदि निधियों को स्थापित कर समाज के कार्यों में द्रव्य व्यय करते हुए आनन्दित रहना एक महत्त्वपूर्ण चित्तवृत्ति है। उद्योगपतियों में इस तरह की चित्तवृत्ति वाले अत्यन्त विरल हैं। बिरला परिवार में यह चित्तवृत्ति परम्परागत है। जन्म-जन्मान्तरों में सञ्चित पुण्यपुञ्ज का ही परिणाम है। 'पुण्यः पुण्येन भवति पापः पापेन' यह श्रुति है।

भारत ही ऐसा देश है जिसमें पुण्य और पाप का विचार करने की परम्परा है। पूजा-पाठ, यज्ञ-याग आदि करना ही पुण्य कर्म है ऐसा नहीं, किन्तु भूतदया, अहिंसा, अस्तेय आदि नियमों का पालन भी पुण्य कर्म है। समाजसेवा, देशभक्ति, नैतिकता, सच्चरित्रता आदि से भी पुण्य का सञ्चय होता है। हम पाप कर्मों में भले ही लिप्त रहें किन्तु पूर्वजों द्वारा सञ्चित पुण्य के परिपाक से सुख भोगते हैं। इसी प्रकार सतत पुण्य-कर्म के आचरण में ही लगे रहते हैं किन्तु अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं। लोगों का विश्वास है कि पूर्वजों के पुण्य से ही हम सुख भोगते हैं एवं उनके पाप से दुःख भोगते हैं। इससे यह कहना पड़ता है कि पूर्वजों द्वारा सञ्चित पुण्य-पाप के फलों का परिणाम सन्ततियों को मिलता है। अतः यह निश्चय करना पड़ता है कि स्वकर्तृक और पूर्वजकर्तृक दोनों पुण्य और पाप सुख एवं दुःख के प्रति कारण हैं।

अपनी कुलपरम्परा में ही ये पुण्य या पाप अनुस्यूत हैं ऐसी बात नहीं, किन्तु देश में किसी भी व्यक्ति ने पुण्य या पाप किया हो, देश के सभी व्यक्तियों को परिणाम भोगना पड़ता है—'एकः करोति पापानि फलं भुङ्क्ते महाजनः'। इन दिनों हम प्रत्यक्ष इस दृश्य का अनुभव करते हैं। किसी पापी ने कहीं बम रख दिया वह फूटकर निरपराधियों को मरणावस्था तक पहुँचा देता है। इसी प्रकार यदि कोई पुण्य कर्म करता है तो उसका फल सभी भोगते हैं। तालाब, धर्मशाला, विवाहमण्डप, विद्यालय, देवालय आदि का निर्माण बिरला परिवार ने कराया, उसका फल हम भोगते हैं। कुआँ-तालाब खुदवाने वाला ही जल पीता है, ऐसा नहीं; सभी जनवर्ग उससे लाभान्वित होता है। इनके ही निर्माण को 'इष्टापूर्त' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इष्ट और पूर्त ये दो शब्द हैं। इष्ट शब्द से यज्ञ-यागादियों का ग्रहण है और पूर्त शब्द से पुष्करणी-खनन, देवालय विद्यालय-धर्मशाला आदि के निर्माण का ग्रहण है। बिरला परिवार के इन पुण्य कर्मों के आचरण से फल भोगने वाले हम हैं। संस्कारों से संस्कृत परिवार की ही ये प्रवृत्तियाँ होती हैं।

तर-तम भाव से धनाढ्य कई होते हैं किन्तु इन प्रवृत्तियों में मनोयोग विरले लोगों का ही होता है।

इस प्रकार के मनोयोग का हेतु है सत्सङ्ग। सत्सङ्ग से बड़ी शान्ति मिलती है, आत्मवल और आत्मविश्वास पैदा होता है, अच्छे कार्यों में प्रवृत्तियाँ होती हैं। सत्पुरुषों में यह सामर्थ्य होता है कि वे अपने वैदुष्य-भरित प्रवचन की पटुता से चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर लेते हैं। चित्तवृत्ति को कुछ देर तक निश्चल रखने से ही विषय-वैमुख्य हो सकता है। जागतिक विषयों से आकृष्ट मन को कुछ देर तक निर्व्यापार रखना ही तो मन की शान्ति है। अग्नि के समान है मन। अग्नि में जितना भी काष्ठ या घृत देते रहिये, शान्त नहीं होगी, वही स्थिति मन की है। वाह्य इन्द्रियों के शिथिल होने पर भी मन विषयों सें विरत नहीं होता। सत्सङ्ग द्वारा भगवद्गुणगण के श्रवण से सहृदयों का मन शान्ति प्राप्त करता है।

विरला-परिवार अपने उद्योग-प्रतिष्ठानों के सम्हालने में व्यस्त होता हुआ भी थोड़ा समय निकाल कर मन की शान्ति के लिए सत्सङ्गों में सम्मिलित होने का अपना कार्यक्रम वनाये है। विशेषतः श्रीमती सरला देवी एवं वसन्त बावू दोनों ही कलकत्ता में स्वामी चिन्मयानन्द जी का जहाँ और जब भी भाषण होता रहता है, पहुँच कर लाभ उठाते हैं। चिन्मयानन्द जी का भाषण अंग्रेजी में होता है। उसके श्रवण के लिए समय निकाल कर ये दम्पति पहुँच जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज को अपने यहाँ निमन्त्रित कर भागवत-सप्ताह और गीता-प्रवचन कराते हैं, जिसमें अपने बन्धु-वान्धवों सहित कथाश्रवण से मनःशान्ति प्राप्त करते हैं। कलकत्ता में ही नहीं; वम्बई, वृन्दावन, दिल्ली आदि नगरों में भी यदि पूज्य स्वामी जी का प्रवचन होता है तो वहाँ पहुँच जाते हैं। यह प्रवृत्ति भी पुण्यविशेष का परिणाम है। श्रवण किये हुए विषयों का चिन्तन करना, शङ्का-समाधान करना, निश्चय रूप से विषय को मनमें धारण करना इस दम्पति की दिनचर्या है। पूज्य स्वामी जी महाराज के भाषणों को टेप कर अपने घर में सुनना तथा अपने वच्चों को इन भाषणों के तात्पर्य से अवगत कराना इस दम्पति का स्तुत्य कार्य है। पूज्य स्वामी जी महाराज जी की कला है कि भगवत्स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रोताओं के सामने भगवान् को लाकर खड़ा कर देते हैं। वह स्वरूप चिरकाल तक श्रोताओं के हृदय में स्थिर रहता है। इससे लोग मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं। यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है। पूज्य स्वामी जी के प्रवचनों की मधुरिमा का आस्वाद करने में श्रीमती सौभाग्यवती सरला जी एवं वसन्त बावू कभी भी नहीं चुकते।

इन धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ ही प्राचीन एवं नवीन संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों के प्रकाशित कराने में भी श्रीमती सरला जी रुचि रखती हैं। शास्त्र-संगीत-साहित्य-कलाओं का संरक्षण देश का गौरव-वर्द्धक है। देश का गौरव अपना गौरव है। देश के समुत्थान से अपना समुत्थान समझना ही देशवासियों का कर्तव्य है। निष्ठापूर्वक इस कर्तव्य के पालन में श्रीमती सरला देवी तथा श्रीमान् वसन्त वावू अपने गार्हस्थ्य का निर्वाह कर रहे हैं, यह भी उनके पूर्वजन्म के पुण्य का परिणाम है।

परम पूज्य स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती महाराज जी की प्रेरणा से 'संस्कार-विज्ञान' नामक इस लघु ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीमती सौभाग्यवती सरला देवी ने पूरी सहायता प्रदान कर पूज्य जगद्गुरु श्री काञ्चीकामकोटि शङ्कराचार्य श्री 'जयेन्द्र सरस्वती' के कर-कमलों द्वारा उद्घाटित इस 'वेद-मीमांसा-अनुसन्धान केन्द्र' के गौरव को बढ़ाया है। अतः मैं प्रथमतः पूज्य श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती महाराज जी के चरण-कमलों में प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हुए श्रीमती सौ० सरला जी तथा श्री वसन्त बाबू को आशीर्वाद देता हूँ कि जिस धर्म का धैर्य और नियम से वे पालन करते आ रहे हैं वह धर्म उनका रक्षण करे और इसी प्रकार अपने जीवन को समाज-सेवा में लगाते हुए चिरकाल तक निरोग-दृढगात्र होकर और अधिक यशस्वी बनें।

अन्त में अपने प्रिय-शिष्य साहित्याचार्य पं० विद्याधर द्विवेदी को जिसने इस ग्रन्थ-सम्पादन के कार्यभार को परिश्रम से वहन किया, आशीर्वाद देता हूँ कि यह ग्रन्थ-लेखन प्रकाशन-अध्यापन आदि शैक्षणिक कार्यों को करते हुए महती प्रतिष्ठा प्राप्त करे। अन्त में 'श्री विद्या प्रेस' के अधिकारी श्री बलराम प्रसाद को मुद्रण कार्य के लिए आशीर्वाद देता हुआ मैं पाठकगण से पुनः सविनय प्रार्थना करता हूँ कि 'बिरला अकादमी' के तत्त्वावधान में 'वेद-मीमांसा-अनुसन्धान केन्द्र' द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ की भाषागत एवं विषयगत त्रुटियों को क्षमा करते हुए अनुगृहीत करें।

अधिक श्रावण कृष्ण ३०
सं० २०४२

विनयावनत—
पट्टाभिराम शास्त्री

विषयानुक्रम

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

संस्कार-विज्ञान

['संस्कार-विज्ञान' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ पूज्य श्री स्वामी १००८ **अखण्डानन्द सरस्वती महाराज** जी की प्रेरणा से **बिरला अकादमी** के तत्त्वावधान में वेदमीमांसा अनुसन्धान केन्द्र द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसके लेखक हैं पूज्य गुरुदेव पद्मभूषण पं० पट्टाभिराम शास्त्री। ग्रन्थ के आरम्भ में प्रसंगवश 'विषय-प्रवेश' के अन्तर्गत कुछ शास्त्रीय एवं दार्शनिक विषयों की भी संक्षिप्त विवेचना की गयी है जो समय-समय पर आदरणीय गुरुजी के भाषणों में प्रतिपादित हैं। यही कारण है कि 'विषय-प्रवेश' का आकार कुछ बढ़ गया है। पाठक महानुभाव क्षमा करेंगे। संस्कारों का प्रतिपादन मुख्य रूप से 'पारस्कर गृह्यसूत्र' को आधार बनाकर इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु उन-उन स्थलों में विभिन्नता की जानकारी के लिए दूसरे सूत्रग्रन्थों के भी विषय संगृहीत हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र में विवाह संस्कार से ग्रन्थ का आरम्भ किया गया है किन्तु इस ग्रन्थ में जनन से आरम्भ कर संस्कारों का विवेचन किया गया है। इस परिवर्तन को भी पाठक क्षमा करेंगे।—सम्पादक]

विषय-प्रवेश

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष अन्य देशों से उन्नत तथा पवित्र माना जाता रहा है। किसी भी देश की उन्नति और पवित्रता में उस देश के रहनेवालों के चरित्र, रहन-सहन, व्यवहार, उत्सव-पर्व आदि कारण होते हैं। ये कारण जैसे भारत में हैं वैसे अन्यत्र नहीं हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि 'अथ यदि ते कर्म-विचिकित्सा वा वृत्त-विचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणास्संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः एष आदेशः'। अर्थात् 'भारतवासियों के लिए यह आदेश है कि तुम्हें अपने कर्मों में या व्यवहार में अथवा चरित्र में यदि सन्देह हो तो जो तुम्हारे पुरातन, ब्रह्मनिष्ठ, शुद्धाचारवाले, संसार में रहते हुए भी उसमें अनासक्त, निस्पृह एवं धर्मपरायण ऋषि-महर्षि जिस प्रकार कर्तव्य का पालन करते थे, उसी प्रकार तुम भी आचरण करो'। पूर्वजों का अनुसरण करना अन्धविश्वास या रूढि नहीं है प्रत्युत वैसा आचरण देशभक्ति का परिचायक है। शास्त्रकारों ने प्रत्येक कार्य के प्रति देश और काल को सामान्य कारण माना है, कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। बीज के बिना वृक्ष नहीं हो सकता। अतः पुरातन ऋषि-महर्षियों के, महापुरुषों के आचरण हमारे

आचरण में कारण हैं क्योंकि वे आचरण किसी-न-किसी देश और काल में होते रहे हैं। इसलिए यदि हम परम्परागत उन आचरणों का अनुसरण नहीं करेंगे तो सच्चे अर्थ में देश-भक्त नहीं कहला सकते। देश के प्रति ममत्व-एकात्मकता का भाव ही देशभक्ति है। आदर्श देशभक्त मनु ने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ॥

यहाँ 'अग्रजन्मा' शब्द ध्यान देने योग्य है क्योंकि यह केवल यौगिक नहीं किन्तु योगरूढ़ है। विराट् पुरुष ने सृष्टि के आरम्भ में अग्निष्टोम आदि यज्ञों के बल से अपने मुख, वक्ष, ऊरू और चरणरूप साधनों के द्वारा अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव आदि देवताओं, अज, अवि, गो, अश्व आदि पशुओं, गायत्र आदि छन्दों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि मानवों को उत्पन्न किया। 'अग्रे-सृष्ट्यादिकाले जन्म येषान्ते-अग्रजन्मानः' इस व्युत्पत्ति से अग्र-जन्मता सभी मनुष्यों में विद्यमान है न कि केवल ब्राह्मणों में। मनु ने इसी अभिप्राय से 'अग्रजन्मा' शब्द का प्रयोग किया है। 'स्वं स्वं' इस रूप में स्व को दो बार कहने का भी यही आशय है। यद्यपि सृष्टि के सन्दर्भ में सूक्ष्म रूप से पूर्वापर भाव है तथापि जैसे कमल के पत्तों को सूई से वेधने पर पूर्वापर भाव नहीं प्रतीत होता वैसे ही यहाँ भी मानना उचित है। क्योंकि सृष्टि और प्रलय एक-दूसरे के आश्रित हैं। 'यः कल्पस्स कल्पपूर्वः' इस नियम से सृष्टि और प्रलय अनादि हैं। इसी को 'बीजाङ्कुर' न्याय भी कहते हैं। बीज और वृक्ष में कौन किससे उत्पन्न होता है, बतलाना असम्भव है, दोनों में पूर्वापरभाव सिद्ध नहीं कर सकते। निष्कर्षतः अग्रजन्मा शब्द मानवमात्र का वाचक है। सृष्टि के इस सूक्ष्म भेद का ही परिचायक 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्' यह वाक्य है। अनेकता में एकता का बोध ही विवेक का कार्य है। इसे अन्धविश्वास या रूढि नहीं कहा जा सकता। हमारे देश की अवस्थिति ही इस पर निर्भर करती है।

भारत का स्वरूप

हमारा देश धर्मसंवलित अर्थ-काम-प्रधान देश है जबकि अन्य देश या तो अर्थप्रधान हैं या कामप्रधान। हमारे पूर्वजों ने तो अर्थ-कामस्वरूप ईंटों को सामान्य-विशेषरूप धर्म की सुर्खी से जोड़कर मोक्षरूपी सुधा (चूना) से लेप करके सुन्दर और सुदृढ़ प्रासाद का निर्माण किया है। उस प्रासाद को हम अन्धविश्वास या रूढि नहीं कह सकते। उसका नाश हमारे स्वत्व का नाश है। धर्मशब्द संस्कृति का ही वाचक है। हमारी संस्कृति असाधारण है। समानता का पालन करते हुए विशेषता की रक्षा करना उसकी अपनी विशेषता है। 'समय के साथ चलते हुए अतीत को भी दृष्टि में रखना, आगे बढ़ते हुए पीछे भी देखना' यह भारत की सनातन नीति है। ऊपर अनन्त रिक्त जगह है। अतः प्रासाद को बढ़ाते हुए केवल ऊपर ही जाना बुद्धिमत्ता नहीं है किन्तु नींव पर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

दिशा और देश

रूढ़िवाद और अन्धविश्वास कहकर लोग प्राचीन वर्णाश्रम धर्म को मिटाने में लगे हैं। सच तो यह है कि वर्ण-धर्म और वर्ण-विभाग को मिटाते हुए नाना प्रकार के वर्गवाद को बढ़ावा दे रहे हैं, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए एक वर्ग से दूसरे वर्ग को लड़ा रहे हैं। इसीलिये वर्गसंघर्ष जाति-संघर्ष का पर्याय बनकर देश में व्याप्त हो गया है जिससे हम दिशाहीन एवं सिद्धान्तरहित हो गये हैं। ऐसे में हम देशभक्त कैसे बने रह सकते हैं? दिशा ही तो देश है। दिशा का ज्ञान न होने पर देश का ज्ञान कैसे होगा? देश-ज्ञान के अभाव में हमारी भक्ति का आधार क्या होगा? भक्ति आदि आधार के बिना चरित्र-निर्माण संभव नहीं है। देश के प्रति ममत्व-अपनत्व ही देश-भक्ति है। अतः हमारे देश, हमारी संस्कृति और हमारे चरित्र आदि को अन्धविश्वास कहना कहाँ तक उचित है?

भेद में अभेद

विराट् पुरुष के शरीर में जो अवयव हैं वे ही मानवों के शरीर में भी हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों एवं मन से सम्पन्न शरीर को प्रकृति ने हमें दिया है। इनके उपयोग के लिए विवेकरूपी साधन भी उसने दिया है। प्रति शरीर में इस साधन की भिन्नता के कारण 'हम-हमारा' 'तुम-तुम्हारा' इस प्रकार का व्यवहार होता है किन्तु भेद में अभेद बुद्धि ही विवेक है। जातिभेद, संस्कृतिभेद होने पर भी देशभेद नहीं है। जैसा हमारा देश है वैसी ही हमारे देश की जातियाँ एवं संस्कृतियाँ हैं। देश और समाज की उन्नति में इनसे बाधा उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। इसके लिए देश-भक्ति की आवश्यकता होती है। निर्गुण, निराकार परमेश्वर के सगुण, साकार बनने पर उन नाना-आकारों में भेद प्रतीत होता है किन्तु भक्तगण भक्ति के कारण उन विविध आकारों में एकता का ही अनुभव करते हैं। हमारा देश परमेश्वर की लीला-स्थली है। यह जगत् परमेश्वर का ही रूपान्तर है। अतः परमेश्वर के समान देश भी एक है। यही भावना होनी चाहिए—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी

दार्शनिक सिद्धान्तों में एक भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो विपक्षियों की विरुद्ध उक्तियों से आक्रान्त न हो। यद्यपि वे उक्तियाँ तर्क-संगत भी होती हैं, किन्तु जब सिद्धान्ती उन्हें अपने सुपुष्ट तर्कों से काट देता है तब वे चुप भले ही हो जायँ परन्तु अपने सिद्धान्त एवं सम्प्रदाय से विचलित नहीं होते।

जाति और परमाणु-पुञ्ज

परमार्थतः विचार करने पर ज्ञात होता है कि संसार की ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो जाति आदि उपाधियों से युक्त न हो। जातिवाद को मिटाने का प्रयास बौद्धकाल से ही होता आ रहा है। अनेक दार्शनिक ग्रन्थ इसी विवाद को मिटाने के

लिए लिखे गये हैं। अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है कि चाहे वेद को माननेवाले हों या न माननेवाले हों सभी को एक वस्तु माननी पड़ती है। आस्तिक उसे जाति कहते हैं और नास्तिक परमाणु-पुञ्ज। जैसे परमाणु अनेक होते हुए भी परस्पर सम्मिलित होने में समर्थ होते हैं वैसे ही जातियों में भी हो सकता है। हाँ, दोनों पक्षों में किसी-न-किसी नियामक को स्वीकर करना आवश्यक होता है। नास्तिक पक्ष में उसी को वुद्धि और आस्तिक पक्ष में वेद माना जाता है। सच तो यह है कि वेद को नियामक मानने के कारण वैदिक या आस्तिक और वुद्धि को नियामक मानने से अवैदिक या नास्तिक ऐसा व्यवहार होता है। मानव का वुद्धिवल यद्यपि अपरिमित होता है तथापि उसकी भी कोई-न-कोई अवश्य सीमा है। उसके जन्मतिथि की गणना हो सकती है। ससीम से असीम की वलवत्ता को सभी लोग स्वीकार करते हैं। भ्रम, प्रमाद आदि दोष मानव के स्वभाव में आते हैं। वह अपने को सर्वज्ञ कह सकता है किन्तु अपने में विद्यमान अज्ञान से यदि अपरिचित है तो वह सर्वज्ञ कैसे माना जायगा? केवल वुद्धि के वल से अज्ञान को जानना सम्भव नहीं है। वुद्धि-वल का आश्रय करने-वाले अपने को कभी भी अज्ञ नहीं कह सकते। इसी तरह अज्ञान को जानकर कोई भी अपने को सर्वज्ञ नहीं कह सकता। 'कौन किससे कहे' ऐसी अवस्था सर्वज्ञ की होती है। 'सर्वज्ञः सुगतो वुद्धः' कहकर अमरसिंह ने वुद्ध को सर्वज्ञ वतलाया है, किन्तु स्वयं वुद्ध ने कहीं भी अपने को सर्वज्ञ नहीं कहा है। वस्तुतः उनके तितिक्षातिशय, निरतिशय वैराग्य, निःस्पृहता, दयादाक्षिण्य आदि अनन्त गुणों को देखकर उन्हें सर्वज्ञ की संज्ञा दी गई है।

पश्चाद्वर्ती वौद्ध दार्शनिकों ने वेद-विरुद्ध मत का प्रसार-प्रचार किया। संसार में वैदिकों के साम्राज्य को देखकर तत्कालीन राजा-महाराजाओं का आश्रय पाकर मत्सर-ग्रस्त वौद्धों ने (वुद्ध भगवान् ने नहीं) वैदिक सत्ता, साम्राज्य को पलटना चाहा। इसमें उन्होंने सफलता भी प्राप्त की। चिरकाल से चला आ रहा वैदिक मार्ग छिन्न-भिन्न हो गया। लोग आत्म-विश्वास खो वैठे, देवी-देवताओं में श्रद्धा घटने लगी और ईश्वर की सत्ता में सन्देह होने लगा। वैदिक धर्म के ह्रास की इसी विषम परिस्थिति में कुमारिल-भट्ट, उदयनाचार्य, भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य आदि महामनीषियों का आविर्भाव हुआ। इन आचार्यों ने दिशारहित जनवर्ग को अपनी प्रतिभा और विवेक के द्वारा प्रभावित कर वैदिक मार्ग को प्रशस्त किया। राजा-महाराजा भी इनकी विद्वत्ता से आकृष्ट होकर उसी मार्ग का अनुसरण किये। परिणामस्वरूप परास्त होकर भारत छोड़कर वौद्धों को द्वीप-द्वीपान्तरों का आश्रय लेना पड़ा। समयचक्र के प्रभाव से पुनः मुसलमानों का भारत पर आक्रमण हुआ। वे लोग शस्त्रास्त्रों के वल पर जवर्दस्ती धर्म-परिवर्तन कराने लगे तथा देवी-देवताओं के मन्दिरों के तोड़-फोड़ एवं मूर्तियों के खण्डन के द्वारा देश के वातावरण को पूर्णतः अव्यवस्थित एवं अशान्त करने पर उतारू हो गये। तदनन्तर भारत में अंग्रेजों का आगमन हुआ। यद्यपि इनके समय में हिंसा का प्रकोप नहीं था तथापि धीरे-धीरे ईसाई मत का प्रचार, प्राचीन संस्कृति में अश्रद्धा, वैदिक मार्ग के अनुसरण में शिथिलता तथा पाश्चात्य संस्कृति के ग्रहण में उत्साह आदि वढ़ने लगा था। इस प्रकार अनेक शताब्दियों के वीतने पर देश के धुरन्धर नेता तिलक, मदनमोहन मालवीय, सुभाषचन्द्र

बोस, महात्मा गान्धी जी आदि के अहिंसक संग्राम से भारतमाता परतन्त्रता की बेड़ी से उन्मुक्त होकर स्वतन्त्रता का अनुभव कर रही है। देश को स्वतन्त्र हुए छत्तीस-सैंतीस वर्ष बीत गये किन्तु हम आज भी अपने बच्चों को विदेशी संस्कृति का पाठ पढ़ाते हुए भारत को पाश्चात्त्य देश बनाने में लगे हैं।

देश-भक्ति

इसे देशभक्ति नहीं कहते। आज के भारत का प्रत्येक बालक अपने गोत्र को भी भूल गया है, फिर सूत्र की बात मन में क्योंकर उत्पन्न होगी! गोत्र और सूत्र का अपनी संस्कृति से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। कोशकार हैम के अनुसार गोत्र शब्द—

क्षेत्रेऽन्वये छत्रे सम्भाव्ये बोधवर्त्मनोः।
वने नाम्नि च गोत्रोऽद्रौ, गोत्रा भुविगवां गणे॥

जमीन, वंश, छाता, सम्भावनीय ज्ञान और मार्ग, जंगल, नाम, पर्वत, भूमि तथा गौवों के समूह अर्थ में प्रयुक्त होता है। क्षेत्र शब्द जमीन शब्द के साथ ही पत्नी अर्थ का भी वाचक है। 'गां त्रायत इति गोत्रम्' यह गोत्र शब्द की व्युत्पत्ति है। गो शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं। वस्तुतः गोत्र शब्द अपनी मातृभूमि की रक्षा के अर्थ का प्रतिपादक है। अतः उसे भूलने का अर्थ हुआ, अपनी मातृभूमि को भूलना। ऐसी स्थिति में देश भक्ति का स्वरूप क्या होगा? यह विचारणीय है। पिता को भूल जाना कथञ्चित् सह्य भी हो सकता है किन्तु माता को भूल जाना घोरतम कृतघ्नता है। भारत माता की सन्तान हम यदि उसे भूल जायँ तो हमारी संस्कृति का क्या होगा?

गोत्र तथा सूत्र

उपनयन एवं विवाह संस्कार के सन्दर्भ में हम गोत्र के विषय में विशेष चर्चा करेंगे। प्रत्येक भारतवासी का गोत्र मातृभूमि का रक्षक है। सूत्र की भी प्रायः यही स्थिति है। हैम की—

सूत्रन्तु सूचनाकारिग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोः

इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूत्रशब्द सूचित करनेवाले ग्रन्थ तथा सूत (धागे) एवं व्यवस्था-आचारसंहिता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'सूत्रयतीति सूत्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पिरोनेवाले, लोगों को आपस में मिलानेवाले अथवा समय-समय पर इकट्ठा करनेवाले को सूत्र कहते हैं। भारतीयों को मिलकर रहने तथा एकत्र होकर परस्पर विचार-विनिमय करने के उद्देश्य से ही सूत्रग्रन्थों की रचना हुई है। इसका भी विशेष विवेचन आगे किया जायगा। अतः गोत्र और सूत्र को भूलकर हम किस प्रकार अपनी संस्कृति के शिक्षक बन सकते हैं। संभव है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने-अपने कर्तव्यों से च्युत हो गये हों, किन्तु इतने मात्र से जाति को नष्ट करना खटमलों के आतंक से घर को ही जला देने के समान होगा।

भारतीय एकता

प्राचीन भारत की शिक्षापद्धति तथा समाज-व्यवस्था के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शासनसूत्र भले ही विभिन्न राजाओं के हाथ में रहा हो या विभिन्न भाषा-भाषियों का अपना-अपना पृथक् समाज रहा हो किन्तु शिक्षा के परस्पर आदान-प्रदान, उद्योग, वाणिज्य, संगीत, ललितकला, लोकगीत, आचरण, देशभक्ति तथा अपनी कर्तव्यनिष्ठा आदि में सर्वत्र एकता का आधिपत्य रहा क्योंकि समग्र देश एकमात्र वैदिक सूत्र में बँधा था। उपलब्ध अल्प साधनों को लेकर लोग सम्पूर्ण देश को अपना मानकर जीवन-यापन करते थे। सर्वत्र वेद का ही आदेश मान्य था। सभी लोग वेद के आदेश को समान रूप से मानते थे। इसीलिए उस समय के दर्शन, स्मृति, पुराण-इतिहास, काव्य-नाटक तथा अलङ्कार आदि से सम्बन्धित ग्रन्थ वेदमत के अनुकूल ही रचे गये, उन पर वेद का ही अनुशासन रहा।

वेदों का महत्त्व

इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि वेद के प्रति लोगों की इतनी श्रद्धा और आसक्ति का क्या कारण है? क्या उसे अन्धविश्वास कहा ज़ा सकता है? अथवा कुछ और! महाकवि भवभूति की—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्

इस उक्ति के अनुसार परीक्षा करके ही वास्तविकता तक पहुँचना उचित होगा। हाँ विवेचन करने के पहले हमें यह ध्यान रखना होगा कि हम भारतीय हैं तथा भारत हमारा देश है क्योंकि हमारे अस्थि-पञ्जर ऋषि-महर्षियों, राजा-महाराजाओं तथा गण्य-मान्यों के पवित्र रक्त से बने हैं। वही रक्त प्रत्येक भारतवासी के नस-नस में, रँग-रँग में विद्यमान है। जिन पवित्र नदियों की पाप-तापहारिणी शीतल धाराओं में वे स्नान करते थे, जिस धरती से उत्पन्न अन्न, कन्द-मूल, फल आदि के द्वारा वे जीवननिर्वाह करते थे तथा जिसके परिणामस्वरूप उनकी मनोवृत्तियाँ अच्छे कार्यों में लगा करती थीं, उन्हीं नदियों में स्नान करते हुए भी, उसी धरती के अन्न आदि का सेवन करते हुए भी हम अपनी मनोवृत्तियों को अन्धविश्वास के रूप में समझते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि 'भुक्तमन्नं त्रेधा परिणमते' अर्थात् खाया हुआ अन्न तीन रूपों में परिवर्तित होता है—१—स्थूल—मल-पुरीष आदि के रूप में, २—मध्यम—रक्त-मेदा आदि के रूप में तथा ३—सूक्ष्म—मन के रूप में। शङ्कराचार्य ने मन को भौतिक मानते हुए अन्न का परिणाम स्वीकार किया है। आज जो वैदिक मार्ग अन्धविश्वास कहा जाने लगा है उसका एकमात्र कारण है विदेश की धरती के अन्न का भोजन। यद्यपि भोजन से उदरपूर्ति तो होती है किन्तु मन भी प्रभावित होता ही है। जो नवजात शिशु माँ के दूध को न पीकर पाउडर का दूध पीते हैं, उनके हृदय का निर्माण कैसे सम्भव है? निश्चित ही वे हृदयहीन होंगे।

जनसंख्यावृद्धि का कारण

लोगों का ख्याल है कि जनसंख्या की वृद्धि के ही कारण भारतमाता अन्न से पूर्णतया पोषण करने में असमर्थ है। बात सत्य है; किन्तु इसका भी कारण वैदिकमार्ग से सम्वन्ध तोड़ लेना ही है। क्योंकि आज हम वेदोक्त सन्तति-निरोध के नियम—देश-काल, कामवासना को रोकने के साधन तथा ब्रह्मचर्य आदि पर ध्यान न देकर स्वेच्छाचारिता को अपना रहे हैं। फिर सन्तान की वृद्धि क्योंकर न होगी। वैदिक वाङ्मय प्रत्येक भारतवासी का हर क्षेत्र में मार्गनिर्देशन करने के लिए तत्पर है। यह प्रत्येक मानव को नियमित एवं सुनियोजित दिनचर्या में रहने के लिए वाध्य करता है। अतः आवश्यक है कि वेदों के स्वरूप, वेदमूलक सूत्रग्रन्थ, दार्शनिकतत्त्व, स्मृति-निवन्ध आदि से सम्बद्ध वाङ्मय का ज्ञान कर कही हुई वातों को हृदयङ्गम किया जाय। चूँकि एतत्सम्वन्धित वाङ्मय संस्कृत भाषा में लिखा गया है जिसे सभी भारतवासी नहीं समझ सकते हैं। अतः इनके स्वरूप को संक्षेप में बतलाते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों से सम्बद्ध संस्कारों का निरूपण किया जायगा।

ज्ञान और कर्म का समन्वय

जन्म से आरम्भ कर मृत्युपर्यन्त अनेक संस्कार होते हैं, किन्तु हम उन संस्कारों से आज सर्वथा वञ्चित हैं। उन्हें पुनः अपनाना कष्टसाध्य ही नहीं प्रत्युत दुःसाध्य भी है जवकि प्रत्येक भारतवासी के लिए यह आवश्यक है कि वह उन्हें अच्छे ढंग से जाने तथा कार्यरूप में परिणत करे। वेदों में कहा गया है कि 'तरति ब्रह्महत्यां तरति मृत्युं योऽश्वमेधेन यजते य उ च एनमेवं वेद' अर्थात् अश्वमेध यज्ञ को करने से ब्रह्महत्या से मुक्ति तथा मृत्यु से छुटकारा रूप जो महान् फल प्राप्त होता है, वही फल इसके स्वरूप को जान लेने मात्र से भी प्राप्त होता है। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यदि ज्ञान मात्र से ही सत्कर्म करने का फल प्राप्त हो जाय तो कर्म क्यों किया जाय। उत्तर में जैमिनि ने कहा है कि—'लोकवत्परिमाणतः फलविशेषः स्यात्' (जै० सू० १–२)। अर्थात् जैसे लोक में कम परिश्रम करनेवाले से अधिक परिश्रम करनेवाला अधिक फल प्राप्त करता है उसी प्रकार केवल ज्ञानवाले की अपेक्षा कर्म करनेवाले को अधिक फल मिलेगा। वैदिक और लौकिक कर्मों के फलों में अन्तर केवल इतना ही है कि वैदिक कर्मों से दृष्ट और अदृष्ट दोनों ही फल प्राप्त होते हैं किन्तु लौकिक कर्मों से केवल दृष्ट ही फल प्राप्त होते हैं। महर्षि जैमिनि वेदवाक्यों के अर्थविचार के सन्दर्भ में लोक के साथ उनका अत्यन्त निकट सम्बन्ध प्रस्तुत करते हैं जिससे सिद्ध होता है कि वेदमार्ग की सहायता के बिना लोक की स्थिति सुदृढ़ नहीं हो सकती।

वेद शासक है

वेद हमारा सच्चा शासक है। अतः उसके अधीन ही रहना उचित है। जब जन-मानस विरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है तब वेद ही सही मार्ग की ओर उन्मुख करता

है। कुशल शासक जैसे अनुचित मार्ग की ओर अग्रसर प्रजा को दण्डित कर सही मार्ग दिखलाता है उसी प्रकार वेद भी प्रायश्चित्त के द्वारा पाप को दूर कर मानव को उचित मार्ग में व्यापृत करता है। वेद प्रत्येक मानव को मर्यादा में रहते हुए अपने अधिकार का पूरा उपयोग करने की अनुमति देता है, शिक्षित होकर अपने कर्तव्यों में व्यवस्थित रहने का आदेश देता है तथा देश में अवृष्टि-अतिवृष्टि, महामारी, दुर्भिक्ष, ईति तथा बाधा आदि के आने पर सामूहिक रूप में इनको दूर करने के उपायों को बतलाता है। वेद शब्द की निष्पत्ति ही सत्ता, विचारणा, ज्ञान तथा लाभ अर्थवाली धातुओं से होती है। अर्थात् वेद शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में होता है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि मानव-मात्र सत् पदार्थ का विचार कर ज्ञान द्वारा उससे लाभान्वित हो।

वेदों का प्रामाण्य

आस्तिक तथा नास्तिक विचारकों ने अपने-अपने अनुरूप वेदों के स्वरूप उपस्थित किये हैं। चार्वाक इन्हें अप्रमाणित बतलाते हुए 'ये धूर्तों के द्वारा लिखे गये हैं' ऐसा कहते हैं। बौद्ध अनुमान-प्रमाण को तो मानते हैं किन्तु शब्द-प्रमाण में उनका विश्वास नहीं है। इसीलिए वेद को प्रमाण नहीं मानते जबकि शब्द-प्रमाण को माननेवाले आस्तिक वेदों के प्रामाण्य में विश्वास रखते हैं। 'प्रमितिकरणं प्रमाणम्' अर्थात् प्रमिति-ज्ञान के प्रति जो करण होता है उसे प्रमाण कहते हैं। जैसे इन्द्रियों से ज्ञान कराता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण बनता है, हेतु के द्वारा ज्ञान कराता हुआ अनुमान प्रमाण होता है; उसी प्रकार पदों के ज्ञान के द्वारा भूत-भविष्य-वर्तमान काल के पदार्थों का ज्ञान कराता हुआ शब्द भी प्रमाण बन जाता है। ऐसे अनेक पदार्थ हैं जिनका ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं होता किन्तु अतिव्यवहित एवं नितान्त सूक्ष्म उन पदार्थों का ज्ञान कराने में शब्द समर्थ हैं, यह प्रत्येक मानव अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में शब्द को प्रमाण न मानना उचित नहीं। 'यह मेरा पिता है' इस प्रकार के ज्ञान में प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता किन्तु विवश होकर माता के शब्दों की ही शरण लेनी पड़ती है। फिर शब्द को क्योंकर प्रमाण न माना जाय? प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण का जो विषय नहीं बन पा रहा है उसे शब्द के अतिरिक्त किस प्रमाण का विषय माना जाय? न्यायालयों में वादी-प्रतिवादियों के आपसी कलह के निराकरण के लिए न्यायाधीश यदि प्रत्यक्ष या अनुमान से निर्णय करने में असमर्थ होता हो तो शब्द के अतिरिक्त और कौन सा साधन अपनायेगा? डाक्टर या वैद्य आधुनिक यन्त्रों तथा नाड़ियों द्वारा किसी रोग के कारण को न समझता हुआ किस प्रकार चिकित्सा कर सकेगा? अतः सिद्ध है कि लौकिक व्यवहारों में सर्वत्र शब्द का आश्रय लेना ही पड़ता है।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि किस प्रकार के शब्द को प्रमाण माना जाय, क्योंकि शब्द आप्त द्वारा भी उच्चरित होते हैं और अनाप्त द्वारा भी। उत्तर में कहा जा सकता है कि जिस शब्द के सुनने से अर्थ का व्यभिचार एवं सन्देह न होता हो उसी को प्रमाण माना जाय। ऐसा शब्द आप्त का ही होगा, अनाप्त का नहीं—'आप्त-वाक्यं प्रमाणम्।'

लोक की तरह वेद में भी ईश्वर को आप्त मानकर उसके द्वारा उच्चरित वेद का प्रामाण्य सिद्ध किया जा सकता है। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने ब्रह्मा की सृष्टि कर उन्हें वेद का उपदेश दिया तथा ब्रह्मा ने वैदिक शब्दों को साधन बनाकर चराचर जगत् की सृष्टि की।

वेदों की अपौरुषेयता

पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने के लिए शास्त्रों को ही प्रबल प्रमाण माना जाता है, अपना बुद्धि-बल नहीं। क्योंकि मानवों का बुद्धि-बल व्यवस्थित नहीं होता। विशेष कर वेदों के विषय में शास्त्र-दृष्टि से ही विचार होना चाहिए; क्योंकि वेदों में अलौकिक विषय प्रतिपादित हैं, जहाँ मानव का बुद्धि-बल कुण्ठित हो जाता है। अत एव मीमांसकों तथा वेदान्तियों ने वेदों को अपौरुषेय सिद्ध किया। अर्थात् वेद किसी पुरुष के द्वारा नहीं रचे गये हैं। यद्यपि आज का मानव यह मानने को तैयार नहीं है कि वाक्य हों और वे किसी पुरुष के द्वारा रचित न हों। भारत की विविध भाषाओं में जितने साहित्य उपलब्ध हैं, उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो पुरुष के द्वारा न रचा गया हो। ऐसी स्थिति में वेदमात्र क्योंकर अपौरुषेय होगा। यद्यपि यह शंका अपने-आप में ठीक ही है किन्तु इस सन्दर्भ में यह भी विचार करना चाहिए कि उपलब्ध साहित्य में क्या कोई ऐसा ग्रन्थ विद्यमान है जिसके रचयिता का स्मरण नहीं होता हो ? एक पक्षीय विचार नहीं करना चाहिए। संसार में लाखों-करोड़ों लोग विद्यमान हैं। अगणित लेखकों के ग्रन्थ अध्ययन-अध्यापन में प्रयुक्त होते हैं, उनके लेखकों का स्मरण भी किया जाता है। पाणिनि की परिभाषाओं को हम पढ़ते हैं किन्तु उनको भूलते नहीं, कालिदास के ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं परन्तु उन्हें याद न रखें, ऐसा नहीं हो सकता। इसी तरह अध्ययन-अध्यापन की परम्परा में विद्यमान वेदों के पढ़नेवालों में आज तक किसी ने नहीं कहा कि इनका रचयिता अमुक है। इससे सिद्ध होता है कि चूँकि इनके कर्त्ता का स्मरण नहीं होता, अतः ये अपौरुषेय हैं। यद्यपि सम्भव है कि कतिपय लोगों को ग्रन्थ के रचयिता की सत्ता का स्मरण न हो किन्तु सभी के लिए ऐसा नहीं कह सकते। उसमें भी जो ग्रन्थ पठन-पाठन की परम्परा में प्रचलित हैं, उनके कर्त्ता का स्मरण किसी को न हो, यह कथमपि सम्भव नहीं। केवल वेद ही इसके अपवाद हैं, इसीलिए ये अपौरुषेय माने जाते हैं। कुरान-बाइबिल आदि को भी वेदों की तरह अपौरुषेय सिद्ध करने की कुछ लोग चेष्टा करते हैं किन्तु इन ग्रन्थों के निर्माता का भी स्मरण करते हैं। इनमें काल की गणना स्पष्टतः ज्ञात होती है किन्तु वेदों के विषय में अनुमान का आश्रय लेना पड़ेगा। अनुमान में हेतु का परीक्षण आवश्यक होता है। जो हेतु (कारण) कहीं पर भी व्यभिचरित या बाधित न होता हो वही साध्य को सिद्ध कर सकता है। गो से उत्पन्न पञ्चगव्य का प्रायश्चित्त के रूप में प्राशन किया जाता है। इसके प्राशन में गौ से उत्पन्न होना कारण है। किन्तु यदि गौ से उत्पन्न होने के कारण गोदुग्ध भक्ष्य कोटि में आ जाता है तो गौ से उत्पन्न होने के कारण गोबर भी भक्ष्य कोटि में आ जायगा। अतः इसे हेतु नहीं माना जा सकता। हेतु का परीक्षण आवश्यक होता है। इसी प्रकार साध्य (जिसे सिद्ध करना है) का भी परीक्षण आवश्यक होता है।

२

परीक्षण से निष्कर्ष निकलता है कि वेद पौरुषेय (पुरुषकृत) हैं, क्योंकि इसकी सिद्धि में हेतु वाक्यता है। जहाँ-जहाँ वाक्यता है, वहाँ-वहाँ पौरुषेयता देखी गई है। जैसे—रामायण, महाभारत आदि। वेदों में भी वही वाक्यता विद्यमान है, अतः वेद पौरुषेय हैं। यद्यपि यह सत्य है, किन्तु तर्क-समुचित नहीं है क्योंकि रामायण-महाभारत की वाक्यता के साथ ही उनके कर्ता का भी स्मरण होता है। वेदों में वाक्यता तो है किन्तु कर्ता का स्मरण नहीं होता। अतः वाक्यता को हेतु मानकर वेदों को पौरुषेय सिद्ध करना कठिन है। अब साध्य–पौरुषेयता का परीक्षण करना चाहिए। पौरुषेयता का क्या अर्थ है? व्यास-वाल्मीकि-कालिदास आदि के ग्रन्थों में जो पद्यों की आनुपूर्वी पायी जाती है, वह उन्हीं की ही है। तत्सदृश आनुपूर्वियों की अपेक्षा न करते हुए उन्होंने अपने-अपने ग्रन्थों के प्रणयन किये हैं। अर्थात् 'सत्यं सत्यं पुनस्सत्यमुद्धृत्य भुजमुच्यते। वेदशास्त्रात्परं नास्ति न दैवं केशवात्परम् ॥' 'तपःस्वाध्यायनिरतम्', 'स राज्यं गुरुणा दत्तम्' इत्यादि पद्यों में पद-संघटनारूप आनुपूर्वी के सदृश आनुपूर्वी की अपेक्षा किये बिना ही उन मनीषियों ने ग्रन्थ रचे हैं। अत एव उनमें पौरुषेयता का व्यवहार है। वेदों के वाक्यों की आनुपूर्वियों में तत्सदृश आनुपूर्वी की निरपेक्षता नहीं है। अर्थात् वेदों का अध्ययन करनेवाले अपने गुरुमुख से उच्चरित आनुपूर्वी की अपेक्षा करके ही उच्चारण करते हैं। उन गुरुओं ने भी अपने गुरु के उच्चारण का अनुसरण करते हुए ही अध्ययन किया है। यही परम्परा सृष्टि के आरम्भ से ही चली आ रही है। सृष्टि के आदि में चतुर्मुख ने अपने गुरु ईश्वर के उच्चारण का अनुसरण करके ही अध्ययन किया है। अतः 'गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण' प्रकार से वेदों का अध्ययन होता है। वेदग्रन्थों के पढ़ने से कोई वेदाध्यायी नहीं कहा जायगा। पढ़ने और अध्ययन की क्रियाओं में भेद है। अक्षरों का वाचन पढ़ना कहा जाता है तथा गुरुमुखोच्चारण के बाद शिष्य का अनूच्चारण अध्ययन कहलाता है। क्योंकि वेदवाक्यों के उच्चारण में वर्ण-स्वर-स्थान-प्रयत्न-काल आदि की अपेक्षा होती है। शिष्य गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण के द्वारा ही शिक्षित हो सकते हैं, केवल पुस्तकों के वाचन से वेद को नहीं प्राप्त कर सकते। इनके नियम शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। इन नियमों को अच्छी तरह जाननेवाला ही सुचारु रूप से अध्यापन कर सकता है। इसी अध्यापन-परम्परा से प्राप्त शब्दराशि को वेद कहा जाता है। पूर्व-पूर्व आनुपूर्वी की अपेक्षा करते हुए ही आगे बढ़ना वेद की अपौरुषेयता है। ऐसी स्थिति वेदों की ही है, अन्य ग्रन्थों की नहीं। सर्वप्रथम उपदेश देनेवाले ईश्वर की भी वेदों की प्राप्ति में गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण ही एकमात्र साधन है। भेद केवल इतना ही है कि परमेश्वर गतकल्प के वेदों का स्मरण कर चतुर्मुख को उपदेश देते हैं। कलम-दावात लेकर ईश्वर ने वेदों का प्रणयन किया है, ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इससे ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का अपकर्ष होता है। इसलिये 'यः कल्पः स कल्पपूर्वः' न्याय से परमेश्वर ने पूर्वकल्प के वेदों का स्मरण कर ब्रह्मा को उपदेश दिया है। ऐसा मानने से कहीं भी दोष नहीं होता, साथ ही ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध हो जाती है। क्योंकि उपदेश के द्वारा प्राप्त वेदों में पौरुषेयता सिद्ध नहीं होती। सिद्ध मन्त्रों का उपदेश होता है। उपदेष्टा ईश्वर नये मन्त्रों

की कल्पना करके पढ़ा सकते हैं, किन्तु वहाँ उपदेश शब्द का व्यवहार नहीं होता। पढ़ाने की अपेक्षा उपदेश का अधिक महत्त्व है। पञ्चाक्षरी, षडक्षरी, पञ्चदशाक्षरी, गायत्री आदि मन्त्रों का उपदेश होता है, पढ़ाना नहीं। अतः ब्रह्मा ने स्वतःसिद्ध वेदमन्त्रों का उपदेश दिया, उनका प्रणयन कर पढ़ाया नहीं। इस प्रकार मानने पर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का रक्षण होता है।

'अर्थं बुद्ध्वा शब्दरचना' न्याय से अर्थ को हृदयङ्गम करके ही शब्द की रचना की जाती है, किन्तु यह नियम लौकिक मानवों के लिए है। यदि ईश्वर भी इसी न्याय का आश्रय लेकर प्रवृत्त होंगे तो वे भी साधारण मानव की श्रेणी में आ जायँगे, फिर ऐश्वर्य की सार्थकता कैसे सिद्ध होगी? अतः ईश्वर ने वेदों का उपदेश दिया, ऐसा ही कहना उचित है।

शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त

यदि कोई कहे कि किसी ऋषि-महर्षि ने ही वेदों की रचना की है जिसके नाम का स्मरण हम नहीं कर पाते, तो यह भी उपपत्तिरहित माना जायगा। ऋषि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि तथा महर्षि आदि शब्द क्रियाविशेष को निमित्त बनाकर प्रवृत्त होते हैं। अर्थज्ञान के लिए प्रवृत्त शब्दों के चार निमित्त होते हैं—१–जाति, २–क्रिया, ३–गुण और द्रव्य। गो-अश्व आदि शब्द गोत्व आदि जातियों को निमित्त मानकर, पाचक-अध्यापक आदि शब्द पाक-अध्ययन आदि शब्द गुण को निमित्त कर तथा देवदत्त-यज्ञदत्त आदि सञ्ज्ञा-वाचक शब्द द्रव्य को निमित्त बनाकर प्रवृत्त हैं। इनमें ऋषि आदि शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त मननरूप क्रिया है। इसी क्रिया के तर-तम भाव को लेकर ऋषि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि आदि शब्दों की प्रवृत्ति है। मनन ही भावना है। भावना की विशेषता से ही ऋषि-राजर्षि आदि में तर-तम भाव है। वैदिक सम्प्रदाय में आज भी प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता तथा छन्द का स्मरण करनेवाले उपलब्ध हैं। सावित्री मन्त्र को लें। इस मन्त्र के ऋषि-विश्वामित्र, छन्द-निचृद् गायत्री तथा देवता-सविता का स्मरण उन लोगों में विद्यमान है, जो परम्परा से जप करते आ रहे हैं। मनन के विशेष व्यापार से भिन्न-भिन्न ऋषियों ने मन्त्रों का साक्षात्कार किया। अत एव 'दर्शनादृषिः', 'मननान्मन्त्रः' ऐसा कहा गया।

वेदों में पाश्चात्यों का दृष्टिकोण

प्रत्येक मन्त्र के, प्रत्येक यजुष् के तथा प्रत्येक साम के ऋषि, देवता तथा छन्दों की स्थिति यदि आज भी बनी हुई है, तो समग्र वेद के रचयिता का स्मरण क्यों नहीं होता? मन्त्रों में, सूक्तों में हम जिन ऋषियों का स्मरण करते हैं, वस्तुतः वे उन मन्त्रों को बनाने-वाले नहीं हैं, किन्तु भावना-विशेष से देखनेवाले हैं। दर्शन से ही तो 'ऋषि' बनता है। वह ऋषि अपनी मननक्रिया से मन्त्र का अनुभव करता है। इतने प्रशस्त इस मार्ग को छोड़कर हम भारतवासी विदेशियों के संकुचित मार्ग में भूलकर वेदों की पौरुषेयता एवं उनके पौर्वापर्य को सिद्ध करने में स्वयं ही तत्पर हैं तथा अपने बच्चों को भी यही पाठ

पढ़ा रहे हैं। नयी-नयी वस्तुओं का आविष्कार भले ही किया जाय किन्तु परम्परागत प्राचीन सम्प्रदायों से सिद्ध पदार्थों को भली प्रकार समझने के लिए भी नवयुवकों को अवसर दिया जाना चाहिए। यद्यपि विदेशी विद्वानों ने वैदिकवाङ्मय को समझने के लिए निश्चित ही महान् श्रम किया है, किन्तु चिन्तन के आधार-रूप में मात्र ऐतिहासिक दृष्टि थी, शास्त्रीय दृष्टि नहीं। वस्तुतः हमारे शास्त्रकारों का वेदाध्ययन तथा वेद-निर्दिष्ट कर्मों के आचरण से जितना गहरा सम्बन्ध था, उसकी तुलना में विदेशी विद्वान् नहीं के बराबर रहे हैं, ऐसा कहना असंगत नहीं होगा। शास्त्रकारों के दृष्टिकोण को भी इस सन्दर्भ में पूर्णतः ध्यान में रखना चाहिए। दोनों पक्षों को यथावत् समझ कर निकर्ष पर परीक्षण करके ही तारतम्य स्थापित करना उचित माना जायगा। ऐतिहासिक दृष्टि में एक सुनिश्चित आरम्भविन्दु की कल्पना करके वहाँ से वे अपने विचारों को उपस्थापित करते हैं, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से वह आरम्भविन्दु सिद्ध नहीं है। नयी पीढ़ी के युवक पाठकों के लिए एक-दो विषय प्रस्तुत किये जा रहे हैं। उन्हें विचार करना चाहिए।

शास्त्रकारों का दृष्टिकोण

ऋग्वेद का पहला मन्त्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥

अर्थात् 'मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ जो भविष्य में आनेवाले हितों को देखता हो, यज्ञ का देव हो, यज्ञानुष्ठान में ऋत्विक् हो, देवताओं को बुलानेवाला हो तथा रत्नों के धारण में विशिष्ट हो।' इस मन्त्र को बनानेवाला मानव प्रथमतः तो अग्नि की उक्त विशेषताओं से परिचित होगा, पुनः इस आनुपूर्वी के प्रणयन में प्रवृत्त होगा। किन्तु कौन ऐसा मनुष्य है जो अग्नि की इन विशेषताओं से परिचित है? फिर अग्नि की इन विशेषताओं से अपरिचित इस प्रकार की शब्दरचना कैसे कर सकता है?

इसी प्रकार वेदों में सम्बुध्यन्त पदों के प्रयोग मिलते हैं। सन्निहित या व्यवहित, परिचित या अपरिचित व्यक्तियों को पुकारने में सम्बुध्यन्त पदों का प्रयोग होता है। 'अग्ने नय सुपथा राये', 'आयुर्दा अग्ने', 'अग्ने यशस्विन्' इत्यादि ऋचाओं में 'हे अग्ने! मुझे अच्छे मार्ग में ले चलो', 'हे अग्ने! तुम आयु देनेवाले हो', 'हे अग्ने! तुम यशस्वी हो' आदि अर्थ प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार सूर्य, इन्द्र, वरुण, विश्वेदेव आदि अनेक देवताओं के विविध मन्त्रों में सम्बोधन के वाक्य मिलते हैं। उन-उन देवों को सम्बोधित करके हम उनसे विभिन्न कार्यों को सम्पन्न कराने के लिए प्रार्थना करते हैं। यहाँ विचारणीय है कि ये अग्नि, सूर्य आदि कौन हैं। प्रत्यक्षरूप से हम अग्नि को जलानेवाला जानते हैं तथा सूर्य आदि को ताप आदि करनेवाला। इन्हें ले चलनेवाला, आयु देनेवाला तथा यशस्वी होनेवाला भी जब तक न समझा जाय तब तक वाक्य की रचना कैसे हो सकती है? इसको कल्पना या उत्प्रेक्षा कहकर टाला नहीं जा सकता, क्योंकि वहाँ भी अन्यत्र विद्यमान

पदार्थ या उसकी शक्ति को समझ कर ही उत्प्रेक्षा की जाती है। कोई प्रेयसी को सम्बोधित कर उत्प्रेक्षा करता है—

झटिति प्रविश गेहं मा बहिस्तिष्ठ कान्ते
ग्रहणसमयवेला वर्तते शीतरश्मेः।
तव मुखमकलङ्कं वीक्ष्य नूनं स राहुः
ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय॥

'हे प्रिये! घर के अन्दर जल्दी चली जाओ, क्योंकि चन्द्रमा के ग्रहण का यह समय है। कलङ्कयुक्त चन्द्रमा को छोड़कर राहु तुम्हारे निष्कलङ्क मुख को ग्रस लेगा।' यहाँ कवि चन्द्रमा के राहुग्रास को पुराणों से जानकर उत्प्रेक्षा करता है। इस प्रकार कौन कब इस विषय को लिखा होगा यह सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है।

अग्नि का निर्वचन

अग्नि शब्द का अर्थ केवल दहन करनेवाला ही नहीं है किन्तु आकर दहन कर ले जानेवाले चैतन्य को अग्नि कहते हैं। अग्नि शब्द इण्, दह तथा नीञ् धातुओं से बना है। इन तीनों क्रियाओं के अर्थ का अग्नि में हम अनुभव नहीं करते हैं, किन्तु ऐसे व्यक्ति को सम्बोधित करते हैं। यह एक कल्पना है, ऐसा कहकर हम छुटकारा नहीं पा सकते, क्योंकि शब्द भी प्रत्यक्ष-अनुमान आदि के सदृश एक प्रमाण है। प्रमिति के करण को प्रमाण कहते हैं। प्रमिति का अर्थ है—प्रमाज्ञान। किसी भी ज्ञान का एक करण अवश्य होता है। चक्षु से घट-पट आदि का ज्ञान होता है तो चक्षु उसका करण है, त्वचा से ज्ञान होता है तो त्वगिन्द्रिय करण होता है। उसी प्रकार शब्द से ज्ञान होता है तो उसके प्रति निश्चित एक करण को मानना पड़ेगा। शब्द-शब्द से हम ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक अनुभव करते हैं। ध्वनि को सुनकर अर्थ का अनुमान करते हैं कि यह भेरी-मृदंग आदि की ध्वनि है, यह सिंह, घोड़ा, ग़ज आदि की ध्वनि है, यह मानव की ध्वनि है आदि। इनमें मानव के अतिरिक्त ध्वनि को सुनकर हमें स्पष्ट रूप से अर्थ का ज्ञान नहीं होता किन्तु मानव की ध्वनि सुनकर यदि हम पद-पदार्थसंकेत रखते हों तो विशद अर्थ का ज्ञान होता है। मानव के प्रयत्नों से उत्पन्न ध्वनि वर्णात्मक शब्द की अभिव्यञ्जक है। अभिव्यक्ति उस पदार्थ की होती है जो पहले से ही विद्यमान हो। यदि वर्णात्मक शब्द की अभिव्यक्ति मानेंगे तो वे पहले से ही विद्यमान रहते हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। अत एव कतिपय दर्शनशास्त्र के प्रवर्तकों ने उन वर्णों को नित्य एवं आकाश में सर्वत्र व्याप्त माना है, कतिपय दार्शनिकों के अनुसार मानवों के प्रयत्नों से उत्पन्न ध्वनियाँ वायु या विद्युत्शक्ति के द्वारा अनन्तानन्त वर्णों को उत्पन्न करती हुयी श्रोता के कान तक पहुँचती हैं और अर्थावबोध करती हैं। दार्शनिक इस विषय में मतभेद रखते हैं किन्तु आकाश को वर्णात्मक शब्द के आश्रय या अधिकरण मानने में सहमत हैं। दार्शनिक अपने सिद्धान्तों के अनुरूप पदार्थों को मानते हुए एक प्रशस्त मार्ग का आश्रय कर चलते हैं, तो कोई अभिव्यक्ति मानकर चलता है तो दूसरा उत्पत्ति मानता है; इस विवाद में हमें नहीं पड़ना है। वस्तुतः दोनों पक्षों में पदज्ञान अर्थावबोध का कारण सिद्ध हो जाता है, और वह पद

वर्णात्मक है। जिस-किसी का जो भी करण हो, वह व्यापारवान् होने से ही अपने कार्य को सम्पन्न कर सकता है। पदज्ञान करण हो तो उसका व्यापार पदार्थज्ञान, एवं पद के साथ पदार्थ का संकेतज्ञान सहकारिकारण है, अन्त में शाब्दबोध उसका फल है। इसी निष्कर्ष को नैयायिक प्रतिपादित करते हैं—

पदज्ञानन्तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥

इन नियमों द्वारा जैसे लौकिक वाक्यों से शाब्दबोध-अर्थावगति होती है, उन्हीं नियमों द्वारा वैदिक वाक्यों की भी अर्थावगति होती है। लौकिक और वैदिक पद-पदार्थ भिन्न नहीं हैं। यद्यपि वेद अलौकिक अर्थ के प्रतिपादक हैं तथापि लौकिक जीवन में आत्मसात् करने के लिए ही वे अलौकिक अर्थ उपस्थापित करते हैं। जैसे धर्म और मोक्ष। धर्म और अधर्म का विवेचन वेद और तन्मूलक वैदिक वाङ्मय स्मृति-पुराण करते हैं। सब का मूल वेद है। उसकी अपौरुषेयता का दिग्दर्शन पूर्व कराया जा चुका है। मानव की बुद्धि-शक्ति परिच्छिन्न एवं सातिशय होती है। बुद्धिशक्ति से अगोचर विषयों का प्रतिपादन वेद करता है। मानव उन पदार्थों को समझने के लिए पर्याप्त बुद्धिशक्ति रखते हैं। मानव अपने बुद्धिबल से नये-नये पदार्थों का अविष्कार कर सकता है किन्तु वह सातिशय ही रहेगा। मानवमात्र की बुद्धिशक्ति तर-तम भाव से ओत-प्रोत है। अतः प्रत्येक मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि कोई हमसे भी अधिक आविष्कार कर सकता है। 'सर्वज्ञस्सुगतो बुद्धः' कह कर अमरसिंह ने बुद्ध भगवान् को 'सर्वज्ञ' संज्ञा दी, किन्तु बुद्ध भगवान् ने कहीं भी अपने को सर्वज्ञ नहीं कहा है। सर्वज्ञ की अवस्था वह होती है कि कौन किससे कहे, अल्पज्ञ ही कह सकता है कि मैं सर्वज्ञ हूँ। सर्वज्ञ होने में वेद मार्ग प्रदर्शित करता है। वह अपने को कहीं भी सर्वज्ञ का निर्देश नहीं करता। अतः यदि सर्वज्ञ की संज्ञा किसी को दी जाय तो वह वेद को ही दी जानी चाहिए। इसीलिए मीमांसकों ने वेद को सर्वज्ञ के स्थान में रखा है। वेद केवल वर्णों का समुदाय नहीं है, अपितु प्रत्येक वर्ण वायु, अग्नि, मही, इन्दु तथा अर्क इन पाँच देवताओं में से किसी-न-किसी देवता से अधिष्ठित है। वर्णमाला का पाँच विभाग कर एक-एक विभाग का एक-एक देवता माना गया है। शिक्षा-ग्रन्थों में इसका विशद विवरण पाया जाता है। विश्व में कोई भी मानव ऐसा नहीं होगा जो इनको न मानता हो। हाँ, सम्भव है इनको देवता के रूप में अलग से न मानता हो, किन्तु ये सभी को अभीष्ट हैं।

भारत की परम्परा

भारत की यह चिरन्तन परम्परा है कि शिष्य अध्यापक को वेतनभोगी व्यक्तिमात्र नहीं मानते किन्तु गुरु-आचार्य मानते हैं, गंगा-यमुना आदि नदियों को शरीर के मल को मिटाने का साधनमात्र नहीं मानते किन्तु देवता मानते हैं; तब वायु-अग्नि आदि में देवता बुद्धि रखने में क्या आश्चर्य है? यही हमारी परम्परा है। इसे अन्धविश्वास कहकर नहीं मिटा सकते। चन्द्र और सूर्य जल और ऊर्जा के स्थान में रखे गये हैं। वायु, अग्नि,

धरती, जल और ऊर्जा की अधिदेवतायें वेद के प्रत्येक वर्णों में विद्यमान हैं, इस तत्त्व को ऋषि-महर्षियों ने अपने विज्ञान से पता लगाया है। आज के वैज्ञानिक जिन तत्त्वों का आविष्कार करते हैं उनका हम उपभोगमात्र करते हैं, हम उनके आविष्कार करने में असमर्थ हैं क्योंकि अच्छे वैज्ञानिक की प्रक्रिया से हम अपरिचित हैं। इसी प्रकार चिरन्तनों द्वारा आविष्कृत तत्त्वों के उपभोगमात्र में हम लगते हैं, उपभोग के लिए भी नियम रहते हैं जिनका आश्रयण तथा आचरण आवश्यक होता है। आचरण के भी नियम होते हैं, जिनका पालन आवश्यक होता है। यह एक नियम है कि अध्ययन बोध के लिए, बोध आचरण के लिए और आचरण भी प्रचार के लिए होता है। इससे सिद्ध होता है कि अध्ययन, बोध, आचरण और प्रचार सब मिलकर एक पदार्थ हैं। प्रचारपर्यन्त यदि अध्ययन नहीं है तो वह अध्ययन अधूरा ही रह जाता है। इसी को मीमांसाशास्त्र के विद्वान् 'चतुरवदान' न्याय कहते हैं। श्रौत-स्मार्त कर्मों में देवता के लिए चार अवदान की हुयी हवि दी जाती है। चारों में एक की भी न्यूनता होने पर कर्म विगुण हो जाता है। कर्मवैगुण्य होने से फलप्राप्ति नहीं होगी। यही नियम अध्ययन में भी लागू होगा।

वेदाध्ययन के प्रकार

वेदों का अध्ययन साधारण पढ़ना नहीं, इसमें कई प्रकार के नियम हैं। प्रत्येक पक्ष में तिथियाँ निश्चित होती हैं और अनध्याय के दिन भी परिगणित हैं। इसके अतिरिक्त गुरुकुल में विशेष अतिथि के आने पर, मेघाच्छन्न दिन होने पर तथा अनेक निमित्त हो। पर अनध्याय माना जाता है। अध्ययन का अर्थ है गुरुमुख से उच्चारण के बाद शिष्य द्वारा अनूच्चारण। वेदों में काण्ड, अध्याय या प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त प्रत्येक पचास पद का एक भाग; इस प्रकार विभाग होते हैं। इनमें कुछ अनुवाक या सूक्त अथवा अध्याय या प्रपाठक के अंश को लेकर जितना छात्र ग्रहण-अनूच्चारण कर सकें, उतने अंश को गुरु बोलते हैं। शिष्य उसका अनूच्चारण करेंगे। प्रतिदिन पदों के अंश को बढ़ाकर गुरु उच्चारण करेगा और शिष्य उसका अनूच्चारण करेंगे। द्वितीया से द्वादशी तक (अष्टमी को छोड़कर) उसी अंश का अध्यापन होगा। त्रयोदशी से प्रतिपदा तक अनध्याय रहेगा। पुनः द्वितीया से नये भाग का आरम्भ होगा। नूतन पाठ के अध्यापन से अतिरिक्त समय में शिष्य अधीत अंश को विभाजित कर प्रतिदिन १०-१० आवृत्ति करेंगे। आवृत्ति के समय अशुद्धियों को सुधारने के लिए गुरु उपस्थित रहेंगे। इस रीति से संहिता-ब्राह्मण का अध्ययन विकृति-पाठों के साथ १२ वर्षों में समाप्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन अधीत भागों का ब्रह्मयज्ञाध्ययन होगा। वेद के हर-एक पद की हजारों आवृत्तियाँ होगी। साथ ही 'श्रावण्यां पौर्णमास्यामुपाकृत्य तैष्यां पौर्णमास्यामुत्सृजेत्' श्रावणी पूर्णिमा से आरम्भकर माघपूर्णिमा तक वेद का अध्ययन एवं अवशिष्ट मासों में वेदाङ्ग व्याकरण-शिक्षा आदि का पठन विहित है। षडङ्ग वेद के अध्ययन-निमित्त बारह वर्षों का पाठ्यक्रम है। संक्षेप में कह सकते हैं कि ग्रहणाध्ययन, धारणाध्ययन, ब्रह्म-यज्ञाध्ययन ये तीन प्रकार के अध्ययन तथा नियत रूप से तीनों कालों की सन्ध्या, गायत्री-जप, समिदाधान और ब्रह्मचर्यपालन शिष्यों के अनिवार्य कर्तव्य हैं। पर्युषित अन्न का

भोजन वर्जित है। इन कठोर नियमों का पालन करते हुए अध्ययन करना ही एक तप है—'स्वाध्यायस्तपः'। न केवल तप ही है किन्तु नियमपालन से अध्ययन करना एक संस्कार माना गया है। इस रीति से संस्कारों से संस्कृत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस पवित्र भूमि की पवित्रता की रक्षा करते रहे हैं।

वेद शिक्षक हैं

वेद एक प्रकार का शिक्षक है। शिक्षक वह है जो अज्ञात अर्थ का बोध करा कर साधु कर्मों में प्रवर्तित करता हुआ अच्छे मार्ग से ले चलता है। शिक्षक वह है जो स्वयं संस्कारों से संस्कृत होकर शिष्यों को पढ़ाता है। शिक्षक वही बन सकता है जो अपने आचरणों द्वारा शिष्यों को आचार-संहिता का उपदेश करता हो। शिक्षक वही है जो अपनी ज्ञानरूपी धनराशि को शिष्यवर्ग में शनैः शनैः वितरित कर उन्हें सुसमृद्ध बनाता है। स्वच्छ चित्त से अनुसन्धान करने पर वेद में शिक्षक के पूर्वोक्त गुण-गण प्राप्त हो जाते हैं। जैसे कुछ अच्छे शिक्षकों द्वारा शिक्षाप्रतिष्ठान प्रतिष्ठित कहलाता है, वैसे ही हमारा पवित्र यह भारतवर्ष वेदरूपी महान् शिक्षक से प्रतिष्ठित हुआ है। न केवल प्रतिष्ठित है किन्तु भारतवर्ष ही अन्य देशवासियों के लिए शिक्षक बना हुआ है। इतना महत्त्व वेद का क्यों हैं ? श्रद्धा-विश्वास ही कारण है या अन्य कोई व्यावहारिक कारण भी है ? श्रद्धा-विश्वास के बिना कोई तत्त्व सिद्ध नहीं होता; इसे आज के वैज्ञानिक भी मानते हैं, किन्तु अन्य भी अनेक कारण हैं।

वेद ठगने के लिए नहीं

स्मृति, पुराण, इतिहास तथा दर्शनों के प्रवर्तक ऋषि-महर्षियों ने वेद को आधार बनाकर अपने साहित्य का प्रणयन किया है। क्या लोगों को ठगने के लिए इस अनल्प ग्रन्थराशि की रचना हुई है ? इस प्रकार ठगने से उन्हें क्या लाभ हुआ होगा ? जिनकी रचनाओं के अध्ययन से स्वार्थहीनता, निष्कपटता तथा निर्लोभता का अनुभव होता है, वे ग्रन्थ लोगों को ठगने के लिए लिखे गये हैं, यह कथन कहाँ तक संगत होगा। वे अपने बुद्धिबल से वेदराशि का मथन करके तत्त्वों का निरूपण किये हैं, जिनका विवेचन आगे के प्रकरणों में किया जायगा। 'धन्या पितृमुखी कन्या धन्यो मातृमुखस्सुतः' के अनुसार वे वेदरूपी माता-पिता की सन्तान हैं। श्रुति-संज्ञा से माता एवं वेद-संज्ञा से पिता का रूप धारण कर वेद ने अपनी सन्तान को शिक्षित किया है। श्रुति माता, वेद भगवान् पिता के प्रतिबिम्ब हैं। अच्छे शिक्षक का प्रतिफलन प्रतिभासम्पन्न शिष्यों में पाया जाता है। यही परम्परा और यही सम्प्रदाय। परम्परा सम्प्रदाय की परिभाषा है, जिसका अर्थ है—अविच्छेदेन गुरु-शिष्यभाव से विद्या प्राप्ति। सम्प्रदाय के विच्छेद के कारण ही आज हम अन्धविश्वास कहने का साहस करते हैं।

संस्कार की आवश्यकता

आज हम लोगों में उस संस्कार के अभाव से इस प्रकार की मनोवृत्ति बदली है। संस्कार और आहार-व्यवहार के अनुरूप मनोवृत्तियाँ परिवर्तित होती रहती हैं। धरती

की मिट्टी को जैसे-जैसे संस्कारों–खाद आदि से परिवर्धित करते हैं वैसे-वैसे वह फलप्रद देखी जाती है, उसी प्रकार हम भी हैं। हमारा शरीर भी पाञ्चभौतिक है। मल-मूत्र आदि प्रदूषणों से प्रदूषित स्थान में रहकर हम पैदा हुए हैं किन्तु उन प्रदूषणों से सम्पर्क न होने के लिए प्रकृति ने 'जरायुरूप' वेष्टन से वेष्टित किया है। अत एव हम 'जरायुज' कहलाते हैं। बाहर आ जाने पर बाह्य प्रदूषणों से बचने के लिए विविध संस्कारों से संस्कृत होकर हम वेदों के सूक्ष्म पदार्थों के ग्रहणयोग्य बनाये जाते हैं। मीमांसकों का न्याय है कि 'भूत-भाव्युपयोगि हि द्रव्यं संस्कारमर्हति' बीते हुए काल में उपयुक्त या भावि भविष्यत् में उपयोग में आने वाला जो द्रव्य वही संस्कार के योग्य होता है। उत्पन्न हुए हम भावी काल में उपयोग में आने वाले हैं। अत एव हम संस्कारों के योग्य हैं। योग्य होकर संस्कारयुक्त न होना उचित नहीं है। उन अनेक संस्कारों में शिक्षा प्रारम्भिक संस्कार है। जिस वेद से हम शिक्षित होते हैं वह वेद भी संस्कृत होता है।

संस्कार चार प्रकार के हैं—उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति; इनमें यह आप्ति अर्जन संस्कार है। गुरुमुखोच्चारण-अनूच्चारण से हम वेद को प्राप्त करते हैं तो हम जैसे संस्कृत हुए हैं वैसे वेद भी संस्कृत होता है। क्योंकि वेद का आगे जीवन में उपयोग होनेवाला है, हमारा भी उपयोग होनेवाला है। अतः उपयोक्ष्यमाण संस्कार सिद्ध होता है एवं हमारे प्राचीन लोगों में वेद उपयुक्त हुआ है, हम अपने अर्जन संस्कार से उपयुक्त का भी संस्कार करते हैं तो एक प्रकार से वेद को प्राप्त करना उपयुक्त और उपयोक्ष्यमाण संस्कार हो जाता है। यही भारत की पुरातन परम्परा रही है। आज हम इस परम्परा से बहुत दूर हट गये हैं।

वेद मित्र हैं

वेद शिक्षक होते हुए 'सखा' भी हैं। 'समानं ख्यायते' इति सखा। हम सबको समान रूप से देखने वाला सखा है। वह अपने सखा को जानने वाला भी है—

यस्तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीꣳ शृणोत्यलकꣳ शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥
(तै० आ० २.१५०)

वेद "मेरा सखा कौन है" यह जानने वाला है 'सखिवित्'। और स्वयं सखा है 'सखायं'। वेद की रक्षा अध्ययन से होती है। अध्ययन करने वाला ही वेद का सखा है। उसको जानते हुए स्वयं ऐहिक और पारलौकिक श्रेयः प्रेय को देकर उस सखा की रक्षा करते हुए स्वयं सखा भी बनता है। उस वेद को जो छोड़ता है वह निश्चित ही भाग्यहीन है। वेद को छोड़कर अन्य साहित्य को सुननेवाला मिथ्या ही सुनता है क्योंकि वह सुकृत मार्ग को नहीं जानता।

यह लौकिक न्याय है कि अपने सखा से हम जैसा व्यवहार करेंगे, उसी प्रकार वह भी व्यवहार करेगा किन्तु वेद-सखा ऐसा नहीं है। भले ही हम अपने मार्ग से हट भी जाते हों या सखा के साथ व्यवहार में विरुद्ध भी हो जाते हों तब भी उस विरुद्ध मार्ग से हमें

हटाकर साधु मार्ग को दिखलाते हुए वेद-सखा विरोध को मिटाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार शिक्षक और सखा के स्वरूप को वेद दिखलाता है। अतः इस प्रकार के शिक्षक और सखा को छोड़कर आज हम अपनी परम्परा से विमुख हो गये हैं।

वैदिक-परम्परा का आश्रयण

प्रश्न किया जा सकता है कि आज के युग में इस परम्परा के आश्रयण से क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न के उत्तर के पूर्व प्रश्नकर्ताओं को निश्चय कर लेना होगा कि हम भारतीय हैं, हमारे माता-पिता और उनके माता-पिता आदि भारतीय ही थे। भारतीयता वहुत पुराने समय से आज तक चली आ रही है। यह परिवर्तित होनेवाली नहीं है। भेद-भाव को छोड़कर समानरूप से वेद हित का ही उपदेश करता है। हित और अहित, भला और वुरा, सत्य व अनृत, कर्तव्य और अकर्तव्य, भक्ष्य और अभक्ष्य, धर्म और अधर्म आदि की पहचान के विना लोकयात्रा उचित नहीं है। इनके पहचानने का उपाय एक निष्पक्ष व्यक्ति का उपदेश ही है। यह उपदेश वेदों द्वारा ही उपलब्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-यापन के लिए पूर्वोक्त पहचान आवश्यक है। आज हम विज्ञान की धारा में वहकर आगे बढ़ने के प्रयत्न में लगे हैं। वढ़ना ही उचित है। विज्ञान प्रत्यक्ष विकास का उत्तम साधन है किन्तु भौतिक विकास मात्र से मानव को तृप्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि भौतिक विकास सातिशय होता है, अतिशयित पदार्थों को पाकर पहले परिगृहीत पदार्थों को छोड़ना पड़ता है। भोजन वनाने का साधन काष्ठ था, अनन्तर मिट्टी का तेल, कोयला, हीटर, गैस आदि क्रमशः उपलब्ध हुए। उत्तरोत्तर वस्तुओं में सरलता पायी गयी। भोजन वनाने में समय कम लगने लगा। शारीरिक परिश्रम में लाघव का अनुभव हुआ। कुशल मानवों के वुद्धि-विकास का यह अवश्य परिणाम है किन्तु उत्तरोत्तर पदार्थों के यथावत् वने रहने पर यह परिणाम सुखद है। जैसे पूर्व-पूर्व पदार्थों में हेयवुद्धि होती है वैसे ही उत्त-रोत्तर पदार्थों से भी उत्तर पदार्थ उत्पन्न होने पर वे पूर्व पदार्थ ही वनकर हेयवुद्धि के कारण वन जाते हैं। आज हम जिस वस्तु को उत्कृष्ट समझकर प्रवृत्त होते हैं कल वह निकृष्ट हो जाती है, तो उसमें उत्कृष्टता का महत्त्व क्या रह जाता है ? जो वस्तु भौतिक वल-प्रद होकर आत्मवल को भी सम्पन्न करनेवाली होगी, वही उत्कृष्ट कोटि में गिनी जानी चाहिए। उसकी उत्कृष्ट कोटि में परिगणना के लिए भौतिक शक्ति का अर्जन परम्परागत रीति से होना चाहिए। आध्यात्मिक शक्ति के अर्जन में भौतिक शक्ति प्रयोजक ही नहीं किन्तु अविनाभाव रूप से सम्बद्ध है। यही चिरन्तन भारतीयों की संस्कृति है। आज की परिस्थिति में इस चिरन्तन संस्कृति का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न के उत्तर को समझने हेतु अपनी भारतीयता छोड़ देना ठीक नहीं। मैं इस विषय का छोटे-छोटे उदाहरणों से उपपादन करता हूँ—धैर्य से पढ़ें। शयन से उठकर पहला काम होता है शौच जाना तथा दतुअन करना। आज की पद्धति में शौच से शुद्ध होने के लिए वस्त्र, कागद और सावुन का उपयोग होता है। कुछ सम्पन्न व्यक्ति इन्हें ख़रीदकर उपयोग में लाते हैं। इसी प्रकार दतुअन के लिए विनाका टूथपेस्ट एवं व्रश का उपयोग करते हैं। इन्हें भी सम्पन्न व्यक्ति ही उपयोग में लाते हैं। देखा-देखी से साधारण व्यक्ति भी आडम्बर के लिए इनको खरीद

कर उपयोग में लाते हैं। इतना ही नहीं, सर्वथा असमर्थ व्यक्तियों को समानता स्थापित करने हेतु उन्हें खरीद कर दिया जाता है। जरा विचार करें—धन का कितना व्यय होता होगा। इसे बचाने से कितने गरीबों का उपकार होगा। गरीबी को दूर करना राष्ट्र का परम उद्देश्य है किन्तु महँगी वस्तुओं के उपयोग के लिए प्रेरणा दी जाती है। वेद भगवान्—

प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं दधातु मे।
क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्॥

इस प्रकार प्रत्येक मानव को संकल्प लेने के लिए प्रेरित करते हैं। यहाँ 'अहम्' पद ध्यान देने योग्य हैं। यह किसी विशेष व्यक्ति का वाचक नहीं है। सभी भारतीय 'अहम्' पद के वाच्य हैं। यह शब्द एकता का द्योतक है। हम इस राष्ट्र में जन्म लिये हैं—कीर्ति और समृद्धि हमें प्राप्त हो। प्राप्ति के लिए कर्तव्य हो कि क्षुत्-क्षुधा, पिपासा-प्यास को नष्ट कर ज्येष्ठा-अलक्ष्मी को राष्ट्र से हटाऊँगा। अलक्ष्मी का अर्थ दरिद्रता-गरीबी है। गरीबी हटाने का एकमात्र उपाय है—मितव्ययिता। हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने शौच, दतुअन, स्नान, पान आदि क्रियाओं के साधनरूप उन वस्तुओं के निर्देश किये हैं जो मितव्यय-साध्य हैं। जल, वनस्पति, मृत्तिका, सूर्य-रश्मि, वायु आदि प्राकृतिक साधनों से कार्य-निर्वाह के लिए उन्होंने ग्रन्थों को बनाया है। आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाना ही उनका प्रधान उद्देश्य रहा है। इस प्रधान उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त ही व्यावहारिक जगत् के पदार्थों का आश्रय किया गया है। यह तो निश्चित है कि प्रधान को सुसम्पन्न कराने के लिए अंगों की आवश्यकता पड़ा करती है। अंगों के विना प्रधान अपने कार्य को सफल करने में समर्थ नहीं होगा किन्तु वे ही अंग प्रधान के उपकारक होते हैं जो स्वयं सुसंस्कृत हों—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानायोपकल्पते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते॥

अर्थात् गुण-अंग स्वयं सुसंस्कृत होकर प्रधान के उपकारक बनते हैं, क्योंकि प्रधान के संस्कृत अंग ही अत्यधिक सहायता करने में उपयुक्त होते हैं। वेद के इन मन्त्रों पर ध्यान देकर हमें चिन्तन करना चाहिए कि वे हमें क्या बतला रहे हैं—

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम्॥
यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम।
सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतांश्च प्रतिग्रहँस्वाहा॥
(तै० आ० १०।२३)

माध्याह्निक सन्ध्या में सूर्यार्घ्य देने के पूर्व आचमन के समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। तीनों काल के सन्ध्यानुष्ठान में प्रधान कर्म माने गये हैं—गायत्रीमन्त्र से सूर्यार्घ्य देना एवं गायत्री का जप करना। इस प्रधान कार्य का उपकारक है आचमन-रूप अंग। इसका साधन है—जलतत्त्व, जिसका संस्कार करने वाला है यह मन्त्र। यह है संस्कार की परम्परा—मन्त्र से संस्कृत हुआ जल, उस जल के आचमन से संस्कृत हुई

आत्मा और इस प्रकार से संस्कृत आत्मा के द्वारा प्रधान सूर्यार्घ्य सम्पन्न हुआ। अव मन्त्र के अर्थ पर विचार करें—जल तत्त्व पृथिवी को पवित्र करता है, वह पृथ्वी पवित्र होकर मुझे पवित्र करती हैं। न केवल मुझे ही किन्तु जिनके द्वारा वेदाध्ययन का संस्कार मुझको प्राप्त हुआ है, उस ब्रह्मणस्पति-आचार्य को पवित्र करे, उस आचार्य द्वारा संस्कृत 'ब्रह्म' वेद मुझको पवित्र करे। इतना ही नहीं, मैंने जो उच्छिष्ट-जूठन वस्तु का सेवन किया होगा और दुश्चरित्र वना होगा और प्रतिग्रह के अयोग्य वस्तु का प्रतिग्रह किया होगा, इन सभी पापों को दूर कर मुझे पवित्र करें। जैसे जल पेट में जाकर आत्मा को पवित्र करता है वैसे ही शरीर के वाहरी प्रदेशों को भी शुद्ध करता है।

इसी प्रकार मिट्टी के विषय में भी मन्त्र कहता है—

मृत्तिके हन मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्।
मृत्तिके ब्रह्मदत्तासि काश्यपेनाभिमन्त्रिता।
मृत्तिके देहि मे पुष्टिं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

जैसे जल स्वयं पवित्र होकर दूसरों को पवित्र करता है वैसे मृत्तिका-मिट्टी भी पवित्र करती है। मनुष्य जानकर या अज्ञानवश पाप करता है। मानवमात्र भ्रम-प्रमाद आदि दोषों से दूषित हो जाता है। हे मृत्तिके! हमारे पाप को दूर करो, जो मेरा दुष्कर्म है उसको क्षमा करो। तुम परमात्मा से प्रदत्त हो और काश्यप महर्षि से अभिमन्त्रित हो, मुझे वलवान् बनाओ, तुम्हारे में सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं। स्नान करते हुए मिट्टी से शरीर में लेप तथा शिर में लगाने को कहा है। हम खर्चीली सावुन लगाते हैं और दतुअन के रूप में टूथपेस्ट तथा व्रश का उपयोग करते हैं। दोनों में व्यावहारिक अन्तर अत्यधिक है। पहला साधन मितव्ययिता का द्योतक तथा आध्यात्मिक शक्ति का संवर्धक है किन्तु दूसरा अधिक खर्च कराने वाला तथा शरीर के बाहरी भाग की शोभा वढ़ाने वाला है। पहला 'अलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्' इस संकल्प का साधक है किन्तु दूसरा दरिद्रता का पोषक है। चञ्चला और चपला ये दो नाम लक्ष्मी के हैं। यदि हम अधिक खर्चीले होंगे तो लक्ष्मी कैसे रह पायेगी, राष्ट्र की गरीवी को हम कैसे दूर कर पायेंगे। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर ये मन्त्र प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार के मंत्र अनन्त हैं जो आध्यात्मिक शक्ति का संवर्धन करते हैं तथा मितव्ययिता की ओर हमें ले जाते हैं। मृत्तिका से शरीर को लिप्त करते हुए 'श्रीर्मे भजतु', 'अलक्ष्मीर्मे नश्यतु' मन्त्र वोला जाता है। मन्त्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार सायणाचार्य लिखते हैं—'**अस्मत्तोऽस्मत्कालीनतोऽस्मद्वन्धुवर्गतोऽस्मद्ग्रामतोऽस्मद्राष्ट्रतो वहुयोजनान्तरितं दुरितं दूरीभवत्वित्यर्थः**' (तै० आ० पृ० ४२४ पूना० सं०)। भाष्यकार की यह पंक्ति विचारने योग्य है। मन्त्र में 'मे' अस्मद् शव्द की षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप है। एक ही व्यक्ति मन्त्र का उच्चारण करता है तो उच्चारण करने वाला ही फलभागी प्रतीत होता है। पहले कहा जा चुका है कि 'अहम्' शव्द एकवचन में रहने पर भी प्रत्येक का वाचक होकर समष्टि का वोधक है। इसी आशय को भाष्यकार दिखाते हैं—'यह दारिद्र्यरूपी पाप हम लोगों से, हम लोगों के काल से, हमारे वन्धुवर्ग से, हमारे जनपद और राष्ट्र से अनेक योजनों दूर भाग जाय।'

यह हमारी परम्परागत भारतीय संस्कृति है। यह भारतीयों में भावात्मक एकता की द्योतक है। अलग-अलग व्यक्ति का समाज, जनपद, देश या राष्ट्र नहीं बनता है। अनेक व्यक्तियों की समष्टि समाज, अनेक समाजों की समष्टि जनपद, अनेक जनपदों की समष्टि देश व प्रान्त तथा अनेक प्रान्तों की समष्टि एक राष्ट्र बनता है। जैसे एक समाज में एक व्यक्ति का अलग स्थान नहीं होता है, वैसे ही जनपद, प्रान्त और राष्ट्र में एक का अलग स्थान नहीं है। व्यक्ति पूजन का हमारे राष्ट्र में स्थान नहीं है तथापि कोई देवी सरस्वती, देवी दुर्गा, त्रिपुरसुन्दरी, शंकर, कृष्ण, राम आदि व्यक्तियों का पूजन करते हुए समष्टि की भावना करते हैं। यही विशेषता भारतीय संस्कृति में है। हम समान होकर भी विशेषता का आदर करते हैं। पहले कहा जा चुका है कि विशेषता से रहित सामान्य नहीं होता है। चराचरात्मक इस जगत् में सभी वस्तु एक-दूसरे के आश्रित है। मानव देवों के आश्रित हैं तो देव मानवों के आश्रित हैं। यद्यपि वेद ऋक्-यजु-साम-अथर्वरूप से एवं कर्मकाण्ड-उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के रूप से इसी प्रकार विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेध-अर्थवाद रूप से अवश्य विभक्त हैं किन्तु वेद के रूप से एक होकर सभी एक-दूसरे के आश्रित हैं। यदि एक अंग बनकर आश्रय होता है तो दूसरा प्रधान बनकर। इस प्रकार गुण-प्रधान भाव होते हुए भी सभी मिलकर एक कार्य को सम्पन्न कराने में जुट जाते हैं। ऋक् यजु और साम के नाम से भिन्न होते हुए वेद, कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के समय एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। इससे हमें शिक्षा मिलती है कि मानव अपने जीवन में पूर्वोक्त पद्धति का अनुसरण करे। वेद स्वयं इसका प्रतिपादन करता है। वेद का यह सन्दर्भ ध्यान देने योग्य है। पहले कहा गया है कि अंग और प्रधान एक-दूसरे के आश्रित हैं, इसी प्रकार कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड भी एक-दूसरे से अवलम्बित हैं। विहित कर्मों के अनुष्ठान के विना उपासना सफल नहीं बन सकती है, उपासना-ध्यान के विना ज्ञानी नहीं बन सकता है। ज्ञानी-जीवन्मुक्त होने के बाद वेद-विहित अपने कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि स्व-स्वरूप प्राप्ति के अनन्तर योगी का और कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता है, किन्तु वह योगी देहपात तक कुछ-न-कुछ लौकिक व्यवहार करता है। उनके उन व्यवहारों की यागरूपता बतलाने के लिए यह प्रसङ्ग आरम्भ किया गया था किन्तु अधिकारी मनुष्य के भी विषय में यह लागू होगा। आगे कहते हैं—

'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्मम्, उरो वेदिः, लोमानि बर्हिः, वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यम्, मन्युः, पशुः, तपोऽग्निः, दमः शमयिता, दक्षिणा, वाग्घोता, प्राण उद्गाता, चक्षुरध्वर्युः, मनो ब्रह्मा, श्रोत्रमग्नीत्।'

दर्शपूर्णमास आदि श्रौत नित्य कर्मों के अनुष्ठान में जो साधन बतलाये गये हैं, वे मानव के शरीर के अंग हैं। यज्ञों में यजमान रहता है, उसके स्थान में 'आत्मा' एवं पत्नी के स्थान में 'श्रद्धा', इध्म-काष्ठ के स्थान में शरीर, वेदि के स्थान में 'उरः' छाती, बर्हिः—कुशा के स्थान में लोम-रोम, 'वेद'-कुशमुष्टि के स्थान में शिखा, यूप के स्थान में हृदय, आज्य के स्थान में काम, पशु के स्थान में मन्यु-क्रोध, अग्नि के स्थान में तप, शमयिता इन्द्रियों को दमन करने वाले के स्थान में दम, होता के स्थान में वाक्, उद्गाता के स्थान

में प्राण, अध्वर्यु के स्थान में चक्षु, आग्नीध्र ऋत्विक् के स्थान में श्रोत्र। इस रूप से हमारे शरीर के अवयवों को यज्ञों के साधनों से तादात्म्य दिखाकर आगे वेद, जीवन में हमारा आचरण जीवन-मरण, प्राकृतिक काल आदि को सोमयाग के साथ तुलना कर दिखाता है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्म-उपासना-ज्ञान परस्पर में सम्बन्ध रखने वाले हैं और वह सम्बन्ध अनिवार्य है। शरीररूपी पञ्जर में बद्ध आत्मा शरीरपात मात्र से बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता है। कर्म के द्वारा संचित पुण्य-पाप को भोगे विना मुक्त कैसे होगा ? विहित कर्मों के अननुष्ठान से पातकी हो जाता है और अनुष्ठान से सञ्चित फल के उपभोग के लिए भोगायतन शरीर का ग्रहण होता है।

कर्म त्यजेम यदि नूनमधः पतेम
यद्याचरेम न कदापि भवं तरेम।
कर्म त्यजेदिति चरेदिति च प्रवृत्ता
वादेन केन निगमा इति न प्रतीमः॥

यह एक विषम स्थिति है कि यदि विहित कर्मों को छोड़ेंगे तो अवश्य अध:पतन, यदि आचरण करेंगे तो 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' इस न्याय से संसार बन्धन होगा। वेद 'कर्मों को छोड़ो और करो' कहता हुआ उसके आशय को स्पष्ट नहीं करता है। अतः एतदर्थ एकमात्र उपाय है कि—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः' इस नीति के अनुसार बन्ध और मोक्ष की कारणभूत मनोवृत्ति को नियन्त्रण में रखें। यह नियन्त्रण कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्वोक्त सन्दर्भ को समन्वित करना है। हमारे चाहने मात्र से पेड़ से फल नहीं टपकेगा। उसके लिए अनुकूल प्रयास चाहिए। इसके लिए सांसारिक विषयों से विमुखता की ओर चित्तवृत्ति को ले जाना पड़ेगा। यह कार्य अत्यन्त कष्ट-साध्य है किन्तु असाध्य नहीं। प्रथम सोपान पर खड़े होकर अन्तिम सोपान को नहीं प्राप्त कर सकते। क्रमशः ही ऊपर चढ़ना होगा। हमें चारों ओर से विषयरूपी भुजंग घेरे हुए हैं। उनका अतिक्रमण यत्नसाध्य है। उन्हें अपने अनुकूल बनाना होगा, हटाना या मारना असंभव है—

जातं जातं गतमपि गतं बाल्यतो लौल्यतो वा
नेतः स्थेयं क्षणमपि गृहे मुञ्चतः को मुहूर्तः।
इत्यत्यन्तव्यवसितधियो निस्सरन्तोऽपि गेहा-
दावर्तन्ते झटिति रुदतां सान्त्वहेतोश्शिशूनाम्॥

इन विषयरूपी भुजंगों से वचने के लिए घर से भागने का निश्चय कर निकलते हैं किन्तु दरवाजे पर रोते हुए बच्चों को देख कर दया आती है और उनकी सान्त्वना के लिए घर लौट आते हैं। अतः भागने से काम नहीं चल सकता, किन्तु उन विषयों को अपनाकर अनुकूल कर लेना होगा। उसका उपाय है—

विषयाननुकूलयितुं विषयिणि हृदये विधीयतां यत्नः।
दृशि देयमौषधं दृश्ये दत्वा कः कृती भवति॥

विषयों को अनुकूल करने हेतु हमें कहीं भागना न पड़ेगा। विषयों का निर्माण करनेवाले परमात्मा का आश्रयण करना है। वह विषयी है। हम विषयों से खींचे जाते हैं किन्तु वह

विषयों को अपने वश में रखनेवाला है। उसके पास विषय-वशीकरण शक्ति है, उस शक्ति को प्राप्त करने हेतु उसी का आश्रयण करना होगा। वह परमात्मतत्त्व सर्वव्यापक है, अन्यत्र जाकर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है, आपके पास बिल्कुल समीप में है। वह है अपना हृदय। अपनी आँखों में डालने के योग्य औषध को दर्पण में प्रतिबिम्बित नेत्र में डालकर कोई कृतकृत्य नहीं होता। उस हृदय को पहचानने के लिए वेद भगवान् उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं—

पद्मकोश-प्रतीकाशꣳ हृदयञ्चाप्यधोमुखम्।
अधो निष्ट्या वितस्त्यान्ते नाभ्या उपरि तिष्ठति॥

पद्म-कमल के कोश-मध्य छिद्र के प्रतीकाश-सदृश जो विद्यमान है वह हृदयशब्द का अर्थ है। लौकिक कमल ऊपर की ओर मुख किये रहता है किन्तु यह हृदय-कमल नीचे की ओर मुख किये रहता है और निष्ट्याः—कण्ठ प्रदेश के अधः-नीचे, नाभ्या उपरि-नाभिप्रदेश के ऊपर वितस्त्यान्ते—वितस्ति बारह अंगुल परिमाण को कहते हैं, उसके अन्त-अवसान में पूर्वोक्त कमल रहता है। और वह—

ज्वालमालाकुलं भाति विश्वस्यायतनं महत्।
सन्ततꣳ शिलाभिस्तु लम्बत्याकाशसन्निभम्।
तस्यान्ते सुषिरꣳ सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

ज्वालाओं की मालाओं-परम्पराओं से युक्त एवं इस ब्रह्माण्ड का आधारभूत होकर प्रकाशमान रहता है। उस हृदय के समीप में एक सूक्ष्म छिद्र है जिसे सुषुम्ना नाडी नाल कहते हैं। उसी छिद्र में यह सारा जगत् विद्यमान है।

तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः।
सोऽग्रभुक् विभजन् तिष्ठन्नाहरमजरः कविः॥
तिर्यगूर्ध्वमधश्शायी रश्मयस्तस्य सन्ततः।

उस सुषुम्नानाल के बीच अनेक ज्वालाओं से युक्त चारों ओर फैली हुई नाड़ियों में संसरण होने से विश्वतोमुखः—बहुविध मुखवाली एक महान् अग्नि है, वह अग्नि अपने सामने प्राप्त अन्न का सर्व प्रथम भोजन करती हुई अन्न का स्थूल, मध्यम और अणुरूप से विभाजन कर शरीर के अवयवों तक पहुँचाती है और उस अग्नि की रश्मियाँ अगल-बगल, ऊपर और अधोभाग में व्याप्त रहती हैं।

सन्तापयति स्वं देहमापादतलमस्तगः।
तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता॥

वह शरीर के सभी भागों को तपाती है। उसके बीच में एक ज्वाला विद्यमान है जो अत्यन्त सूक्ष्म और सुषुम्नानाड़ी के द्वारा प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त व्यवस्थित है।

उस ज्वाला का सादृश्य बतलाते हैं—

नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा।
नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा॥

नीलवर्ण वाले वादल के मध्य में विद्यमान विद्युत्रेखा के समान प्रकाशमान है और नीवार धान्य के शूकदीर्घ पुच्छ के समान तन्वी-सूक्ष्म शरीरवाली, पीली वह ज्वाला शोभित होती है। वह अणूपमा-अणु पदार्थों के समान है।

तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः।
स ब्रह्म स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥

पूर्वोक्त उस शिखा के वीच जगत्कारणभूत परमात्मा व्यवस्थित हैं। उसी के रूपान्तर हैं– ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि। वही सर्वान्तर्यामी, मायारहित, शुद्ध चित्स्वरूप है। इस प्रकार विषयी हृदय कमल के ध्यान से सभी सांसारिक विषय अपने अनुकूल हो जाते हैं और विषयरूपी सर्पों से वच सकते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में पहुँचने के लिए प्रत्येक मानव को शुद्धचित्त होना तथा सर्वपापों से मुक्त होना आवश्यक है। इसीलिए कर्मकाण्ड आधार है, भूमिका है। उत्तमोत्तम ध्वनिकाव्यों के निगूढतत्त्व रस का आस्वादन कर निरतिशय आनन्द को प्राप्ति के लिए 'सहृदय' शुद्ध हृदयवाले ही अधिकारी होते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य लिखते हैं—

योऽर्थस्सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥

अर्थात् सहृदयश्लाघ्य अर्थ को काव्य की आत्मा मानकर उसके वाच्य ओर प्रतीयमान दो भेद होते हैं। यहाँ वाच्यार्थ-अभिधेयार्थ प्रतीयमान अर्थ की भूमि-आधार है, नींव है। अत एव आत्मकोटि में वह गिना गया। अर्थात् विना वाच्यार्थ के ज्ञान से प्रतीयमान अर्थ की स्थिति नहीं वनती, उसी प्रकार सत्, चित् और आनन्द की प्राप्ति विना कर्मानुष्ठान से नहीं होगी। अतः जितना महत्त्व ज्ञानयोगी का है उतना ही कर्मयोगी का भी है। वाच्य अर्थ को समझे विना प्रतीयमान-व्यङ्ग्य अर्थ समझना दुष्कर है। यदि अपने को 'सहृदय' वनाना हो तो वाच्यार्थ को समझना आवश्यक है। यदि अपने को शुद्धहृदय विषय-विमुख और विरक्त वनाना हो तो विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों का आचरण करना ही होगा। यह शरीर आत्मा का भोगायतन है। पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन आदि शरीर के ही आश्रित हैं। आधारभूत शरीर के नष्ट हो जाने से इन्द्रियों का नाश सुनिश्चित है, किन्तु शरीर से आश्रित रहने पर भी शरीर के नाश से आत्मा का विनाश नहीं होता है। विषयों के उपभोग के निमित्त आत्मा शरीर चाहती है। अतः आत्मा के लिए शरीर उपाधि है, इन्द्रियों का तो वह अधिकरण है। दोषरहित पदार्थ को हम कहीं रखना चाहेंगे तो दोषरहित स्थान में ही रखते हैं। दूषित स्थान को शुद्धकर दोषरहित पदार्थ को रख सकते हैं। आत्मा शुद्ध और दोषरहित है। इसका औपाधिक आश्रय शरीर है। वह शरीर यदि शुद्ध और दोषरहित हो तो संबलित आत्मा का वल मिलता है। यदि वह शुद्ध नहीं है तो आत्मा दुर्वल वन जाती है। अतः शरीर की शुद्धि आवश्यक है। पापकर्मों एवं दुराचारों से शरीर की अशुद्धि मानी गई है। शुद्धि और अशुद्धि दोनों ही दो प्रकार की होती हैं— वाह्यशुद्धि और अन्तःशुद्धि। चाहे शुद्धि हो, चाहे अशुद्धि; ये प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं होतीं किन्तु शास्त्र से ज्ञान होता है। रजक द्वारा धोकर लाये गए वस्त्र के पहनने से शरीर अशुद्ध हो जाता है किन्तु घर में धोकर सुखाये गये धौतवस्त्र के पहनने से वही शरीर शुद्ध कह-

लाता है। वस्त्र मलिन ही क्यों न हो धुला होने से शुद्ध माना जाता है। मिट्टी से बने हुए पात्र से भक्ष्य का भक्षण कर धोने मात्र से उसको शुद्ध नहीं समझा जाता है एवं धातु से बनी हुई थाली में भोजन कर धो देने से उसी आदमी के लिए वह शुद्ध समझी जाती है, दूसरे के लिए नहीं; किन्तु वह पात्र आग से गरमा देने पर शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार शुद्धाशुद्धि जानने के लिए धर्मग्रन्थ या बड़ों के कथनों की शरण लेनी होगी। शास्त्रकारों ने 'गोक्षीर' न्याय कहा है—गोक्षीर परम पवित्र है किन्तु अपवित्र चमड़े का सम्बन्ध होने पर अपवित्र हो जाता है। गोदुग्ध की पवित्रता या अपवित्रता दृष्टिगोचर नहीं होती। उसे शब्द से ही समझना पड़ता है। मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्य का निर्वाह नहीं होता है। पहले कहा जा चुका है कि शब्द भी एक दृढ़ प्रमाण है। अतः इन विषयों को श्रुतिमाता या तन्मूलक स्मृतिग्रन्थ अथवा तन्मूलक शिष्टाचार को प्रमाण मानकर सिद्ध करना तर्क-संगत है। व्यावहारिक प्रपञ्च में रहते हुए कुछ वस्तुओं का परिज्ञान अपने बुद्धिबल मात्र से हम नहीं कर सकते। अपनी परम्परा से भी परिज्ञान करना पड़ता है। उस परम्परा का भी कुछ मूल होना चाहिए। यदि समुचित आधार नहीं मिलता हो तो परम्परागत वृद्धों के वाक्य को ही मानकर निश्चय करना न्यायसङ्गत होगा। जननाशौच या मरणा-शौच लग जाने पर उसके स्पर्श मात्र से स्पर्श करनेवाला अशुद्ध समझा जाता है। क्यों ? अशौचवाले यथाविधि नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान में अधिकारी नहीं होते हैं। इसी कारण उनका स्पर्श करने वाला भी कर्मानुष्ठान का अधिकारी नहीं होता। स्नान से वह शुद्ध हो जाता है किन्तु अशौचवाले स्नान करने पर भी शुद्ध नहीं होते। यह हमारी संस्कृति है। अतः बाह्यशुद्धि के साथ ही अन्तः शुद्धि भी होनी चाहिए। अन्तःशुद्धि का सम्बन्ध आत्मा से है और बाह्यशुद्धि का शरीर से। अन्तःशुद्धि ही संस्कृति है, बाह्यशुद्धि को सभ्यता कह सकते हैं। धोती, चूड़ीदार पैजामा, अचकन, साफा, टोपी आदि भारतीय सभ्यता के चिह्न हैं। सूट, कोट, हैट, टाई, बूट, साक्स आदि दूसरे देश की सभ्यता के चिह्न हैं। ये सभ्यताएँ उस-उस देश की जल-वायु शीतोष्णता आदि पर आधारित हैं। इसी प्रकार संस्कृति का भी आधार होना चाहिए। वह आधार है वेद और तन्मूलक ग्रन्थ या परम्परागत आचार। परम्परागत आचार अपने सम्प्रदाय से प्राप्त हैं। सम्प्रदाय के अनुसार गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और श्रौतसूत्रों की रचना हुई है। ये सूत्रग्रन्थ तत्तत्सम्प्रदाय द्वारा समागत वेद-शाखाओं के आधार पर प्रणीत हैं। सम्प्रदाय शब्द का अर्थ कहा जा चुका है—अविच्छिन्न गुरु-शिष्यभाव से विद्या-प्राप्ति। यहाँ 'विद्या' शब्द से वेद-शाखा का ग्रहण हैं। अध्ययन वेदशाखा का ही होता है। अध्ययन शब्द का भी अर्थ बतलाया जा चुका है—गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण। जैसे हम अपने गुरु के उच्चारण के अनुसार वेदशाखा को प्राप्त करते हैं वैसे अपने गुरु, उनके गुरु इस परम्परा से अध्ययन होता है। वेद, वेद की शाखाएँ, उनके सूत्रग्रन्थ आदि का विवेचन आगे करेंगे। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि शुद्धि और अशुद्धि के विषय-स्वरूप का निर्णय शब्दैकसमधिगम्य है—मात्र शब्द-प्रमाण का विषय है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि अन्तःशुद्धि आत्मा से सम्बन्ध रखती है, वह क्या है ? जबकि आत्मा नीरूप है, निरवयव है तो उसकी शुद्धि-अशुद्धि से क्या मतलब ? पहले कह दिया गया है कि व्यावहारिक प्रपञ्च में हमें रहकर तदनुसार ही वस्तुतत्त्व का निर्णय

करना चाहिए। हम व्यवहार करते हैं—मेरा शरीर दुर्बल हो गया, पहले पुष्ट रहा आजकल पतला हो गया, मेरी इन्द्रियाँ पहले के समान कार्य नहीं करती हैं, मेरी वुद्धि एवं मन आज अच्छे नहीं हैं, मैं जानता हूँ कि उसने इस काम को नहीं किया है, मैंने जिस काम को किया उसे अभी याद करता हूँ, आदि व्यवहारों में कहीं 'मेरे' कहीं 'मैं' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'मेरे' प्रयोग में शरीर, इन्द्रिय, मन और वुद्धि से अतिरिक्त एक वस्तु भासित होती है, जो मैं शब्द का अर्थ है। भासमान यही आत्मा है। शरीर की वलपुष्टि से यह वलवान् नहीं बनता किन्तु मन और चित्त की वलवत्ता से आत्मवल मिलता है। शरीर की पुष्टि में आहार और व्यायाम साधन हैं, मन-वुद्धि का आहार है शास्त्रोक्त संस्कार। उसी का आत्मा से सम्बन्ध है और उससे ही आत्मवल की प्राप्ति होती है। यह हमारी भारतीय परम्परा है। यह परम्परा वेद से उत्पन्न है। वैदिक मन्त्रों के अर्थानुसन्धान से प्रतीत होता है कि हम किन-किन कारणों से पापभागी होते हैं और क्या करने से उन पापों से मुक्त होते हैं। पापों से मुक्त होने के उपाय वेदों द्वारा क्यों कहे गये हैं? प्रपञ्च में मनुष्य अच्छे धार्मिक कार्यों में संलग्न रहकर भी अदृश्य अनेक पापों से सम्वद्ध हो ही जाता है। उसे मालूम नहीं होता कि मैंने पाप किया है। इसी प्रकार वुरे कार्यों में संलग्न होकर कुछ अच्छे कार्यों को करता हुआ समझता है कि मैं अच्छा कार्य करता हूँ, अतः कैसे पापभागी हो सकता हूँ। पहले कोटि के व्यक्ति अज्ञान से पाप कर देते हैं तो दूसरे जानकर करते हैं। जानकर हो चाहे अज्ञान से, उसका प्रायश्चित्त करना ही है। 'प्रायश्चित्तेन नश्यन्ति पापानि सुमहान्त्यपि' यह शास्त्रवचन है। प्रायश्चित्त शब्द का निर्वचन मिलता है कि—'प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधकम्'। अर्थात् प्रायः शब्द पापपरक है, चित्त शब्द उसका विशोधपरक है। अतः प्रायश्चित्त स्नान, दान, होम, जप, व्रत आदि से करने का विधान है। जैसे—

अत्याशनादतीपानात् यच्च उग्रात्प्रतिग्रहात्।
तन्नो वरुणो राजा पाणिना ह्यवमर्शतु॥
सोऽहमपापो विरजो निर्मुक्तो मुक्तकिल्विषः।
नाकस्य पृष्ठमारुह्य गच्छेद् ब्रह्म सलोकताम्॥

यह मंत्र नदी, तालाव, समुद्र आदि में स्नान करते समय वोला जाता है। मन्त्र का अर्थ है—'जो व्यक्ति देव-ऋषि-पितृ-मनुष्य के लिए विहित देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, को न कर भोजन कर लेता हो वह 'अत्याशन' दोष से युक्त, एवं जो अपनी इच्छा या वुद्धि के अनुसार जीवन-यापन करता हो, उससे द्रव्य ग्रहण करता हो वह 'उग्र' दोष से ग्रसित हो जाता है, इन कारणों से उत्पन्न जो हमारा पाप है, उसको मिटाने हेतु राजा जलस्वामी वरुण भगवान् अपने हाथ से स्पर्श करके पाप को दूर करें, जिससे मैं रजोगुण-रहित राग-द्वेष आदि से मुक्त होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकूँ।' इस मन्त्र से अवगत होता है कि पाप का सम्वन्ध किस प्रकार होता है और पाप से मुक्ति कैसे मिलती है तथा यह स्नान केवल शरीर के मल को दूर नहीं करता किन्तु आत्मवल भी प्राप्त कराता है। हम पाप एवं उसके निराकरण को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं करते हैं किन्तु मन्त्र पाप के हेतु को दिखलाकर स्नान को प्रायश्चित्त वतला रहा है। पाप के हेतु अनुचित रूप से खाना-

पीना, दुष्प्रतिग्रह आदि प्रत्यक्ष हैं किन्तु उनके कार्य अप्रत्यक्ष हैं और प्रायश्चित्त से उनका मिटना भी अप्रत्यक्ष है। अत एव वेद-शास्त्रों में अत्यन्त प्रामाण्य बुद्धि रखने वाले पूर्वोक्त हेतुओं में प्रवृत्त न होकर प्रायश्चित्त के अनुष्ठान में हेतु के संशय से प्रवृत्त हो जाते हैं। एक वर्ग इस प्रकार का है। दूसरा वर्ग कहता है कि अमुक कारण से पाप का सम्बन्ध हुआ, किन्तु उसको मिटाने का साधन भी है, ऐसा निश्चय कर हेतुओं में और उसके निवारक प्रायश्चित्तों में प्रवृत्त हो जाता है। तीसरा वर्ग हेतु-प्रदर्शक और तन्निवारक शास्त्र को न मानता हुआ अपनी इच्छानुसार दुष्कर्मों में या सत्कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। इन तीन प्रकार की प्रवृत्ति के वैचित्र्य में क्या कारण हैं, यह विचारणीय है। विचारने से निष्कर्ष निकलता है कि आजकल बढ़ती हुई वैज्ञानिक यान्त्रिक धारा में बहती हुई जनता के सामने सही दिशा दिखलाने वाली शिक्षा का अभाव ही है। हमारी सन्तान दिन-प्रतिदिन विज्ञान द्वारा आविष्कृत पदार्थों के चाकचिक्य से आकृष्ट होकर घर के बड़े लोगों के अनुशासन में रहना पसन्द नहीं करती और बड़े लोगों में आध्यात्मिक चेतना-वर्धक सामग्री के अभाव से सन्तति को संस्कारों से संस्कृत करने में असमर्थता को पहचान कर अपनी बुद्धि का आधार लेकर चलती है। 'यदि पिताजी ही स्नान-सन्ध्या नहीं करते हैं तो मुझे क्यों करना है' इस प्रकार बोलने वाले लड़के देखे गये हैं। यह नई पीढ़ी का दोष नहीं है। नई पीढ़ी का बालक प्रत्यक्ष प्रमाणमात्र से स्वीकार करने के अनुकूल शिक्षा ही को विद्यालयों में प्राप्त करता है और शिक्षकों के मनोवृत्ति का अनुसरण करता हुआ घर के संरक्षक माता-पिता की प्रवृत्तियों से परिचित होकर स्वच्छन्द विचरण करने लग जाता है। बिगड़ते हुए बालकों के आचरणों को देखकर दुःखी होने वाले संरक्षकों एवं सन्तुष्ट होने वाले संरक्षकों को भी आज हम देख रहे हैं। विश्व में चारों ओर बड़े जोरों से बहती हुई विज्ञान-धारा को इस समय रोकना असाध्य ही नहीं प्रत्युत अनुचित भी है किन्तु प्राचीन आध्यात्मिक छोटी धारा को उससे मिला देना आवश्यक है। राष्ट्र के सभी वर्गों के लोग समय रहते हुए इस पवित्र कार्य में जुट जायँ तो इसमें संशय नहीं कि प्राचीन और नवीन धारा मिलकर देश को सुभिक्ष और स्पृहणीय बना सकती हैं।

बड़े-बड़े वैज्ञानिक अपने बुद्धि-बल से सूक्ष्मातिसूक्ष्म पंचभूत पदार्थों की शक्ति को जानकर विविध व्यावहारिक वस्तुओं का आविष्कार करते हैं, जिन्हें अपने व्यवहार में लाकर जनता सन्तुष्ट होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश में अन्तर्निहित शक्ति का परिचय प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक सूक्ष्म यन्त्रों का निर्माण कर तद्द्वारा परिचय प्राप्त कर अपने बुद्धि-प्रकर्ष के अनितरसाधारण दक्षता को जनवर्ग के बीच प्रदर्शित करते हैं, और अपने आविष्कृत पदार्थों द्वारा जन-मानस को आकृष्ट करते हैं। उन वैज्ञानिकों को वह दक्षता कैसे प्राप्त हुई, यह विचारणीय है। बिना किसी कारण के दक्षता-प्राप्ति अत्यन्त असंभव है। वैज्ञानिकों के शरीर उन्हीं पाञ्चभौतिक तत्त्वों से बने है, यह प्रत्यक्ष है। प्रत्येक भूत पदार्थ की शक्ति विभिन्न है। वह एकत्र न होकर इस शरीर में विद्यमान है। उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधन भी इस शरीर में विद्यमान हैं। हम रसनेन्द्रिय से गन्ध को नहीं पहचान सकते हैं, न तो घ्राणेन्द्रिय से रस आदि को। हमारे शरीर की रचना ही इस प्रकार की है। बहिर्देश में विद्यमान पदार्थ को आँख से देखते हैं किन्तु

अपनी आँख को नहीं देख पाते। वैज्ञानिक जिन वस्तुओं को आँख से नहीं देख सकेंगे उनको देखने के लिए यन्त्रों का निर्माण करते हैं। इसके अनुकूल ही वे शिक्षा से संस्कारों को प्राप्त किये हैं। जो इस संकार को शिक्षा से पाते हैं वे पूर्वोक्त दक्षता को प्राप्त करते हैं। अचेतन पदार्थ चेतन के कार्य कर लेते हैं, उन अचेतनों में चैतन्य-शक्ति के न रहने पर वे चेतन के कार्यों को नहीं कर सकेंगे। उस चैतन्य को पहचान कर वैज्ञानिक कृत्रिम चैतन्य का आविष्कार करते हैं। किन्तु जैसे कि चक्षु अपने को नहीं देख पाता है वैसे वैज्ञानिक अपने चैतन्य को नहीं देख पाते हैं और समझ लेते हैं कि अपनी बुद्धि से ही कार्य सम्पन्न होता है। मानवमात्र के पास बुद्धि और विवेक की वह शक्ति विद्यमान है किन्तु उसके उद्बोधक संस्कार न होने से सभी एक-रूपता को नहीं प्राप्त करते हैं। विज्ञान का पाठ पढ़ने वाले सभी वड़े वैज्ञानिक नहीं बनते हैं, पढ़ाने वाले भी सभी को एकरूप से ही पढ़ाते हैं किन्तु पढ़ने वालों में कतिपय ही उत्कृष्ट कोटि में आते हैं। इसका कारण है अपनी विशिष्ट मनन-क्रिया के द्वारा मन-बुद्धि को एकाग्रता में लाकर तत्त्व का परीक्षण करना। वही विशिष्ट वैज्ञानिक कहलाता है। उनमें भी तर-तमभाव होता है, उसका कारण है कि अपनी बुद्धि पर ही अहंभाव हो जाता है। बुद्धि से भी अतीत तत्त्व को न मानकर अपनी बुद्धि पर ही विश्वास करता है और बुद्धि के प्रेरक तत्त्व पर ध्यान नहीं रखता है। जो उस तत्त्व पर ध्यान रखता हुआ अपनी मनन प्रणाली में लगा रहता है वह सर्वोत्कृष्ट वैज्ञानिक वनता है। इस प्रकार की मनन प्रणाली में रहता हुआ वह निर्दिष्ट विषय के अतिरिक्त समस्त विश्व को भूल जाता है। इसी एकाग्रता का परिणाम है उनके द्वारा आविष्कृत पदार्थ। एकाग्रता के तर-तम भाव से वैज्ञानिकों में तारतम्य सिद्ध होता है। अत एव ऋषि, राजर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षियों में तारतम्य माना जाता है। इन शब्दों की प्रवृत्ति-निमित्त क्रियाएँ होती हैं, ये शब्द जातिप्रवृत्तिनिमित्तक नहीं हैं। जिन क्रियाओं को हम प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं उनमें सामान्य-विशेष भाव है। अत एव इनमें भेद परिलक्षित होता है। वैज्ञानिकों में भी यही स्थिति है। आज के वैज्ञानिक और ऋषि-महर्षियों में इतना भेद अवश्य मानना पड़ता है कि वैज्ञानिक लोकोपयोगी पदार्थों का आविष्कार करते हैं और ऋषि-महर्षि अलौकिक पदार्थों का आविष्कार करते हैं। निरुक्त-कार भास्कराचार्य ने 'दर्शनाद् ऋषिः' कहा है। अपनी अतिशयित मनन-क्रिया द्वारा उन अलौकिक पदार्थों का दर्शन किया, अत एव ऋषि बने हैं। जितने वेद के मन्त्र हैं वे ऋषियों के मनन द्वारा आविर्भूत हुए हैं—'मननान्मन्त्रः'। वैज्ञानिक भी अपने आविष्कृत पदार्थों के फारमूले लिखते हैं, तदनुसार अन्य लोग उनका प्रयोग कर पदार्थों के आविष्कार में लगते हैं। ऋषियों के मन्त्र भी फारमूले हैं, उनका प्रयोग हमें करना है, तभी हम अलौकिक पदार्थ तक पहुँच सकते हैं। जैसे पञ्चभूत-पदार्थों में विद्यमान शक्ति को जानकर वैज्ञानिक अनुसन्धानात्मक क्रिया द्वारा लौकिक पदार्थों का आविष्कार करते हैं, वे ही पञ्चभूत, ऋषियों के मनन द्वारा समुद्भूत मन्त्रों के अक्षरों में विद्यमान हैं। व्यास-शिक्षा में महर्षि कहते हैं—

अनिलाग्निमहीन्द्वर्काः

अनिल-वायु, अग्नि-तेज, मही-पृथ्वी, इन्दु-जल, अर्क-ऊर्जा ये पाँच मन्त्रों के अक्षरों में

विभक्त हैं। जितने अक्षर हैं उन्हें पाँच वर्गों में विभक्त कर पूर्वोक्त अनिल आदि का विन्यास दिखलाये हैं। वे वर्ग इस प्रकार के हैं—

शिक्षाकार व्यास के मत से—अ, आ, ए, क, च, ट, त, प, य और ष ये वायु-देवता के हैं; इ, ई, ऐ, ख, छ, ठ, थ, फ, र और स ये अग्नि-देवता के हैं; उ, ऊ, ओ, ग, ज, ड, द, ब, ल और ह ये पृथ्वी-देवता के हैं, ऋ, ॠ, औ, घ, झ, ढ, ध, भ, व और ळ ये चन्द्र-देवता के हैं; ऌ, ङ, ञ, ण, न, म, क्ष और श ये सूर्य-देवता के हैं। (व्या० शि० सू० ४८९ देखें)। वर्णों में इस प्रकार पाँच देवताओं को प्रदर्शित कर शिक्षाकार ने, वर्णों में और उदात्त आदि चार स्वरों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों को भी प्रदर्शित किया है। इतना ही नहीं, वेदाध्ययन करनेवालों को प्रदर्शित देवताओं एवं जातियों का ठीक-ठीक स्मरण भी रखना चाहिए, कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी एकात्मकना की चेतना प्राप्त करें और देवता एवं जातियाँ मिलकर अपने कार्यों को करें। इसका परिणाम यह निकलता है कि हम जातिवाद को हटायें, न कि जातियों को। शिक्षा-ग्रन्थों के अनुसन्धान से ज्ञात होता है कि शिक्षा के क्षेत्र में राजनीति का प्रवेश सर्वथा न हो।

अन्तर इतना है कि वैज्ञानिक अनिल आदि को अचेतन मानकर चलते हैं, ऋषि-महर्षि इन्हें चेतन-देवता मानते हैं। वे देवता तत्तद् भूतपदार्थगत शक्तियाँ हैं। वैज्ञानिक इन शक्तियों को अपनी बुद्धि से उत्पन्न मानकर अहं भावना करते हैं, ऋषि-महर्षि दैवी शक्ति मानकर अलौकिक तत्त्व पर भरोसा रखते हैं। मानव का बुद्धिबल सातिशय होता है और दैवी शक्ति का बल निरतिशय रहता है। आज की युवा पीढ़ी को चिन्तन करना चाहिए कि वैज्ञानिक जिन पाँच भूतों के आश्रय से अपनी बुद्धि का उपयोग कर एक नुक्सा या फारमूला तैयार कर हमें देते हैं, उस नुक्से या फारमूले के अनुसार हम ठीक-ठीक प्रयोग कर फल की प्राप्ति करते हैं। हमारे प्रयोग के विना फल की प्राप्ति सम्भव नहीं। हमारे चिरन्तन महर्षि भी शब्दात्मक वेद-सन्दर्भ और वेदमन्त्र के अक्षरों में पाँच भूत पदार्थों को देवतारूप देकर अनेक फारमूले बनाये हैं जिनके जप, पारायण, हवन आदि प्रयोगों द्वारा फल प्राप्त होते हैं। दुनियाँ में एक भी मानव ऐसा नहीं हो सकता है जो वायु, अग्नि, भूमि, इन्दु और सूर्य को नहीं चाहता हो। इनको अचेतन मानकर इनकी शक्ति द्वारा बुद्धि से पदार्थों का आविष्कार करें, अथवा चेतन मानकर उन शक्तियों को पहचान कर प्रयोग में लायें; दोनों में अन्तर है। एक में भौतिकता का प्राधान्य है और दूसरे में आध्यात्मिकता का। प्रथम विज्ञानवान् बनता है तो दूसरा प्रज्ञानवान्। इसकी विवेचना तैत्तिरीय उपनिषद् में की गई है। अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों का निरूपण करते हुए—

> **विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवास्सर्वे ब्रह्मज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुत इति।** (तै० आ० ८.२)

कहा है। यहाँ का प्रसङ्ग है—भृगु नामक ऋषिपुत्र अपने पिता जी से ईश्वर तत्त्व को

जानने के लिए प्रश्न करते हैं। पिताजी ने पुत्र की योग्यता एवं अधिकार को जानकर पहले अन्न को ब्रह्म बतलाकर उपासना करने को कहा। उसकी प्रगति देख कर क्रमशः प्राण और मन की ब्रह्म के रूप से उपासना के लिए प्रेरित किया। मन को ब्रह्म के रूप से उपासना करते हुए भृगु को विशेष अनुभूतियाँ हुईं। अन्नमय एवं प्राणमय दोनों पृथक् तत्त्व हैं, वैसे मन को पृथक् तत्व न मानकर अन्तःकरण की वृत्ति मानने वाले कुछ हैं। अर्थात् अन्तःकरण की ४ वृत्तियाँ होती हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। मन संशयात्मक, बुद्धि निश्चयात्मक, अहंकार अभिमानात्मक और चेतनात्मक चित्त है। ये वृत्तियाँ क्षणिक हैं और कालभेदेन होने वाली हैं। वृत्तिरूप मानने पर मन की पृथक् सत्ता नहीं होगी। ऐसा न होने पर मन की एकाग्रता का अभाव हो जायगा। एकाग्रता के अभाव से सूक्ष्म वस्तु का ग्रहण संभव नहीं है। अत एव छान्दोग्य में मन को भौतिक माना गया। भौतिक होने से मन पृथक् तत्त्व सिद्ध होकर करण रूप को धारण कर सकता है। करणत्व और कर्तृत्व अलग-अलग तत्त्व हैं। इनका सामानाधिकरण्य नहीं। कर्तृत्व विज्ञान में और करणत्व मन में है, अत एव मनोमय कोश के अनन्तर विज्ञानमय कोश का प्रतिपादन संगत होता है। मनोमय कोश का विज्ञानमय कोश पूरक है। सत्त्वगुण की कार्यभूत ज्ञानशक्ति में तमोगुणमिश्रित मन जैसे राग-द्वेष आदि से अभिभूत होता है वैसे रजोगुण से अभिभूत विज्ञान की 'अहम् कर्ता' इस रूप की वृत्ति होकर उसके विकाररूप विज्ञानमय होती है। 'अहं कर्ता' यह अहंप्रत्यय अन्तर्मुख होकर प्रमाता का ग्राहक है। स्वयं प्रमेय होकर भी प्रमाता अपने को प्रमाता 'अहं' समझता है। इस प्रकार समझने पर उसकी प्रवृत्ति को यह सन्दर्भ बतलाता है 'विज्ञानं यज्ञं तनुते'। सत्त्वगुणयुक्त होते हुए रजोगुणाभिभूत होने से सृष्टि में प्रवृत्त होकर विविध लौकिक कर्मों का भी प्रवर्तक हो जाता है। उन लौकिक कर्मों के परिणाम का उपभोक्ता लोग उपभोग कर उस वैज्ञानिक की प्रशंसा करने लगते हैं, तो वैज्ञानिक अहंभाव (ममता) से आक्रान्त होकर ईश्वर तत्त्व की ओर बढ़ नहीं पाता है। ममता का त्याग असंभव है, वह त्यागी नहीं कहा जा सकता। ममता करो किन्तु सर्वत्र करो—

त्यक्तव्यो ममकारः त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ।
कर्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्तव्य.॥

भृगु इस विज्ञानमय कोश की उपासना कर अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका। रजोगुण-मिश्रण को दूर करने की दृष्टि से पुनः पिताजी के पास आकर 'अधीहि भगवो ब्रह्मे'ति पूछा तो पिता ने 'आनन्दमय' कोश का उन्हें उपदेश दिया। उसकी उपासना से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में वह समर्थ हुआ। इस आख्यायिका का निष्कर्ष यह निकलता है कि विज्ञान से हम लाभान्वित होते तो हैं किन्तु उससे विगड़ते भी हैं। विगाड़ को दूर करने के लिए उचित संस्कारों की आवश्यकता है, जिन्हें वेद के आश्रय से चिरन्तन समाजशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में परिवर्तित किया है। समाज के सुधार के लिए कात्यायन, आश्वलायन, द्रुह्यायण, लाप्स्यायन, वौधायन, आपस्तम्ब आदि आचार्य प्रवृत्त हुए हैं, वे वेदरूपी महान् छायावृक्ष के आश्रय से ही ग्रन्थों की रचना किये हैं।

वह वृक्ष अनेकानेक शाखाओं से समृद्ध है। इस वृक्ष की शाखाएँ बहुत दूरतक फैली हुई थीं किन्तु शाखाओं के होते हुए भी वृक्ष एक ही था। अत एव सभी आचार्य 'वैदिक' इस एक संज्ञा से परिगणित थे। हम यह कह सकते हैं कि समग्र पृथ्वी में वही एक मत था, जो वैदिक शब्द से व्यवहृत था। एक इस वेदवृक्ष को ऋक्, यजु, साम और अथर्व रूप से विभाजित कर अपने कठिन तपोबल से व्यासाचार्य प्रत्येक शाखा को परिष्कृत कर 'वेदव्यास' इस नाम से प्रख्यात हुए। परिष्कार का तात्पर्य शुद्धाशुद्धिसे नहीं, किन्तु पृथ्वी में सर्वत्र व्याप्त इस वृक्ष की शाखाओं के अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था से है। उन दिनों अपने-अपने अधिकार के अनुसार अवश्य कर्तव्यों में यह वेदाध्ययन प्रधान था। अपनी शाखा का अध्ययन करके संभव होने पर वेदान्तर की शाखा का भी अध्ययन करें। इस परम्परा में अव्यवस्था का अनुभव कर व्यासाचार्य ने समाज में शाखाध्ययन के सम्प्रदाय को व्यवस्थित किया। सम्प्रदाय शब्द का अर्थ पहले कहा जा चुका है। अर्थात् एक यजुर्वेद का व्यक्ति अपनी शाखा का अध्ययन कर यजुर्वेद की ही शाखान्तर का अध्ययन नहीं कर सकता, वेदान्तर की शाखा का अध्ययन कर सकता है। एवं अपने वेद की परम्परागत शाखा का अध्ययन किये बिना दूसरी शाखा का अध्ययन नहीं कर सकता इत्यादि नियमों को व्यासाचार्य ने व्यवस्थित किया। अत एव वेदव्यास कहलाने लगे। इससे पता चलता है कि वेदाध्ययन की परम्परा उससे पहले भी चल रही थी और सभी वेदों की सभी शाखाओं का अध्ययन-अध्यापन होता था। जितने ऋषि-महर्षि लक्षणग्रन्थों के प्रवर्तक थे वे सभी लक्षणग्रन्थों को ध्यान में रखकर ही उन ग्रन्थों को बनाये। लक्ष्य उपलब्ध थे, आगे की पीढ़ी में उनके विस्मरण की संभावना से लक्ष्यों के स्मरण के निमित्त लक्षण-ग्रन्थ बने हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र भारत में शिक्षा का अभाव कभी नहीं था। हमारे पूर्वज अशिक्षित नहीं थे। पुस्तक पढ़ने से ही शिक्षित नहीं होते। सुनने से एवं आचरण से भी शिक्षित होते हैं। प ़ाये और सुनाये बिना भी अपने आचरण से ही पूर्वज लोगों को शिक्षित करते थे। इतना ही नहीं, स्मरण कराते हुए भी लोगों को शिक्षा-दीक्षा देते थे। अत एव 'श्रुति', 'स्मृति', 'पुराण', 'इतिहास' आदि प्रादुर्भूत हुए। श्रवणेन्द्रिय से ही विद्या की प्राप्ति होती थी। अत एव वेद को 'श्रुति' कहते हैं। चिरन्तन आचार-व्यवहार आदि का स्मरण कर शिक्षा पाते रहे। अत एव 'स्मृति' कहा जाता है। पुराण, इतिहासों द्वारा आचरणों को दिखाकर सच्चरित्र की शिक्षा देते थे। आज का जितना प्रभूत वाङ्मय है वह सब भारत से ही समुद्भूत हुआ है और वह वेदमूलक है। श्रुति के अतिरिक्त अवशिष्ट सूत्र-भाष्य-पुराण-इतिहास और धर्मग्रन्थों का मीमांसक 'स्मृति' शब्द से व्यवहार करते हैं। स्मृति तब होगी जब अनुभव हुआ हो। अननुभूत पदार्थ का स्मरण नहीं होता है। अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष, उससे संस्कार होते हैं, उन संस्कारों के उद्बोध से स्मरण होता है। स्मरण में आये पदार्थों को लेखबद्ध करने पर 'स्मृति' ग्रन्थ कहलाता है। स्मृतिग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल से ही 'श्रुति' परम्परा का लोप या उसमें शैथिल्य प्रारम्भ हो गया था। मीमांसा शास्त्र के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि अपने सूत्रों के स्मृत्यधिकरण में सभी स्मृतियों को वेदमूलक सिद्ध करते हुए जिन स्मृतियों के मूलभूत वेद उपलब्ध न हों उनकी प्रामाण्यसिद्धि के लिए 'अपि वा कर्तृ-

सामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्' सूत्र की रचना करते हैं। अर्थात् जिन स्मृतियों का मूल उपलब्ध न हो उनकी मूलश्रुति का अनुभव करो। अनुमान में हेतु देते हैं कि 'कर्तृ-सामान्यात्'। वेदों में प्रतिपादित कर्म एवं आचरणों के जो कर्ता हैं वे ही स्मृतिग्रन्थों के भी कर्ता हैं। यही कर्तृसामान्य है। महर्षि जैमिनि का इतना विश्वास था कि स्मृति-ग्रन्थ-प्रणेता मनु-याज्ञवल्क्य आदि वेद-विरुद्ध मार्ग का आश्रय नहीं ग्रहण कर सकते। इतना विश्वास होते हुए भी इनकी स्मृतियों में जो वेद-विरुद्ध हैं उनका अप्रामाण्य साधने में संकोच भी नहीं करते। महर्षि जैमिनि महान् चिन्तक के साथ निष्पक्ष परीक्षक भी थे। जैमिनि सूत्र के भाष्यकार श्री शवर स्वामी अनुपलब्ध मूल स्मृतियों का अनुमान से प्रामाण्य साधते हुए दृष्ट प्रयोजन वाली स्मृतियों को दृष्ट-विधया ही धर्म में प्रामाण्य एवं वेद-विरुद्ध स्मृतियों को आत्यन्तिक अप्रमाण्य मानते हैं। तदनन्तर प्रवृत्त भट्टपाद अपने वार्तिक में भाष्यकार की रीति से सहमत नहीं थे। भाष्यकार ने 'गुरुरनुगन्तव्यः' इस स्मृति का विचार करते हुए गुरु के आनेपर उठना, जाते हुए गुरु के पीछे जाना, उनके आदेश पर जागरूक रहना आदि लिखते हुए कहा है कि इस प्रकार देख कर सुप्रसन्न गुरु उसे विशेष रूप से पढ़ायेंगे। इस प्रत्यक्ष फल से इस स्मृति का प्रामाण्य सिद्ध करते हैं। यहाँ वार्तिककार भट्टपाद कहते हैं कि गुर्वनुगमन आदि का दृष्टफल होने से प्रामाण्य मानने पर जो शिष्य उस फल को न चाहता हो वह उसका आचरण नहीं करेगा, एवं जो शिष्य इन नियमों का पालन नहीं करेगा गुरु भी उसको नहीं पढ़ायेंगे, यह वात होगी। किन्तु परम्परा में ऐसा नहीं होता है। जो गुरुकुल में प्रविष्ट होता था, गुरु उन सवको समान रूप से पढ़ाते थे और शिष्य भी धर्मवुद्धि से उत्थान, अनुगमन आदि का नियमित रूप से आचरण करते थे। जहाँ धर्म-वुद्धि हो वहाँ नियमविधि मानकर इन कर्मों का अदृष्टप्रयोजनजनकत्व मानना चाहिए। परम्परा का पालन सिद्ध होगा। अन्यथा कृषि आदि के समान वेदाध्ययन लौकिक कर्म हो जायगा। इसमें अलौकिकता को लाना है। अर्थात् नियमपूर्वक अध्ययन से विद्याप्राप्ति करनी चाहिए, इससे अनुशासन-पालन एवं मन्त्रों के वल से वाक्शुद्धि प्राप्त होती है। भट्टपाद का तात्पर्य है कि कृषि आदि के समान विद्या नहीं है। विद्या-प्राप्ति के लिए परम्परा से सम्प्रदाय वना हुआ है। सम्प्रदाय के विच्छिन्न हो जाने से अन्य विद्याओं के समान वेद-विद्या भी उदरपोषण का साधन वन जायगी। यह परम्परा उन दिनों नहीं थी। अत एव 'गुरुरनुगन्तव्यः' आदि स्मृतियों को वेदमूलक मानकर धर्मवुद्धि से नियमों का पालन होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि महर्षि जैमिनि के काल से ही शाखाध्ययन में शैथिल्य आ गया था। महाभाष्यकार अपने काल में २८ ऋग्वेद की, १०१ यजुर्वेद की और १००० सामवेद की शाखाओं का स्मरण करते हैं—'अष्टाविंशतिधा वाह्वृच्यम्, एकशतमध्वर्युशाखा, सहस्रवर्त्मा सामवेदः' उनके गणनाकाल में शाखाओं की संख्या इतनी ही थी। किन्तु—

भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णिं स्थविरं शयानम्। इन्द्र उपव्रज्य उवाच भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेनेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच—भरद्वाजेत्यामन्त्र्य—

वेदा वा एते। अनन्ता वै वेदाः। एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिः अन्ववोचथाः। अथ तम् इतरदननूक्तमेव। ये हि इमं विद्धि अयं वै सर्वविद्या इति।

(तै० ब्रा० ३।१०।११)

इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि भरद्वाज महर्षि तीन पुरुषायु को प्राप्तकर वेदाध्ययन किये, पुनः ब्रह्माजी से अध्ययन करने हेतु आयु माँगे, तो ब्रह्मा ने कहा—सामने जो तीन पहाड़ दीखते हैं उनमें से एक-एक मुट्ठी ले आओ। लाकर रखने पर ब्रह्मा बोले—तीन पुरुषायु में तुमने इतना ही अध्ययन किया—'अनन्ता वै वेदाः' कहकर ब्रह्मचर्य समाप्त करने का आदेश दिये। इससे स्पष्ट है कि वेद की शाखाएँ गणना की विषय नहीं हैं। अत एव भट्टपाद अपने तन्त्रवार्तिक में श्रुतिविरुद्ध स्मृतियों को आत्यन्तिक अप्रामाण्य न मानते हुए मूलभूत श्रुति के लाभपर्यन्त अननुष्ठान लक्षण अप्रामाण्य इसलिये सिद्ध करते हैं कि कदाचित् भविष्य में लुप्तशाखा के उपलब्ध होनेपर पूर्वोक्त स्मृति की क्या गति होगी। भट्टपाद के इस उदार प्रतिपादन से अनुमान कर सकते हैं कि स्मृतिकर्ताओं पर उनकी क्या आस्था थी। स्मृतिग्रन्थ भारतीय संस्कृतियों के स्रोत हैं। परम्परा के स्मारक हैं, एकात्मकता के बोधक हैं, आध्यात्मिकता के पोषक हैं तथा मितव्ययिता के परिचायक हैं।

यद्यपि प्रान्त के भेद एवं शाखा के भेद से स्मृति तथा निबन्धग्रन्थ प्रणीत हैं और आचारों में विभिन्नता है तथापि मीमांसकों ने होलाकाधिकरण में सभी को तुल्य प्रमाण सिद्ध कर भारत की एकात्मकता को दिखलाया है। प्राच्य, पाश्चात्य, उदीच्य, दाक्षिणात्य आदि शब्दों का निष्कृष्ट निर्वचन नहीं हो सकता। आज के परिप्रेक्ष्य में जबकि ऋग्वेद की २८ शाखाओं में केवल २ शाखाएँ शाकल और बाष्कल, यजुर्वेद की १०१ शाखाओं में शुक्ल यजुर्वेद की २ माध्यन्दिनीय और काण्व, कृष्ण यजुर्वेद में ४ तैत्तिरीय, मैत्रायणीय, कठ और कपिष्ठल, सामवेद की १००० शाखाओं में ३ कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय, अथर्व वेद में १ शाखा कुल १३ शाखाएँ ही परिगणना में आती हैं, इनमें भी अध्ययन-अध्यापन में ४-५ ही हैं, उनमें भी उदरपोषण के निमित्त जितना आवश्यक है तन्मात्र का अध्ययन हो रहा है। ऐसी स्थिति में हमारी संस्कृति के परिचय के लिए स्मृति, सूत्र-धर्म ग्रन्थ ही अवलम्बरूप में बचे हैं। शाखाओं का लोप अध्ययन-अध्यापन के अभाव से हुआ है। बची हुई शाखाओं की दशा भी दयनीय है। आज हम वैदिक-विज्ञान के चमत्कार को प्रत्यक्षतः दिखा नहीं पा रहे हैं। नियमपालनपूर्वक नियत अध्ययन से ही वाणी शुद्ध होती है। मन्त्रों की शक्ति को वाणी की शुद्धता से ही पूर्वज दिखलाते थे। उस शुद्धि के लिए ब्रह्मचर्य-पालन, अनुशासन-पालन आदि के द्वारा वेद का ग्रहण करते थे और विहित संस्कारों से संस्कृत होते थे। खेद है कि क्रिया में भूतकाल का ही प्रयोग करना पड़ रहा है, वर्तमानकाल का नहीं। अब भी हम अवशिष्ट वेदशाखाओं के अध्ययन-अध्यापन के लिए सुनियोजित और नियमित व्यवस्था के लिए दत्तचित्त होंगे तो प्राचीन भारतीय परम्परा को चला सकते हैं।

वेद के विषय में बहुत कुछ चर्चा पहले हो चुकी है तथापि पुनः उसकी आवश्यकता

समझकर मीमांसकों के एक सिद्धान्त को बतलाना चाहता हूँ। चिन्तक, परीक्षक और अनुसन्धाता महर्षि जैमिनि—

> **औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थः तेन सह सम्बन्धः अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम् बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। (जै० सू० १.१.५)।**

इस सूत्र से प्रतिपादित करते हैं कि—शब्द, अर्थ और उसका सम्बन्ध नित्य है एवं ऐसा कोई एक काल नहीं है जिसमें शब्द, तदर्थ और तत्सम्बन्ध का विच्छेद हुआ हो। अत एव वेद का निरपेक्ष प्रामाण्य माना जाना चाहिए। शब्द की नित्यता, अर्थ की नित्यता और तत्सम्बन्ध की नित्यता कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि जैमिनि ने प्रश्नोत्तर के रूप से अनेक सूत्रों का प्रणयन किया है। इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए भाष्यकार शबरस्वामी जो लिखते हैं, उसके एक संक्षिप्त भाग को यहाँ उपस्थित करता हूँ। पूरे सन्दर्भ का प्रदर्शन एक ग्रन्थ ही हो जायगा। अतः उद्धृत वाक्यों पर नयी पीढ़ी के लोग ध्यान दें और विचार करें। शबरस्वामी के ये वाक्य हैं—

> **वृद्धानां स्वार्थेन संव्यवहरमाणानामुपशृण्वन्तो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते। तेऽपि वृद्धा यथा बाला आसंस्तदान्येभ्यो वृद्धेभ्य इति नास्ति आदिरित्येवं वा भवेत्। अथवा न कश्चित् एकोऽपि शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध आसीत्। अथ केनचित्सम्बन्धाः प्रवर्तिता इति। अत्र वृद्धव्यवहारे सति नार्थादापद्येत सम्बन्धस्य कर्ता। अपि च व्यवहारवादिनः प्रत्यक्षमुपदिशन्ति, कल्पयन्तीतरे सम्बन्धारम्। न च प्रत्यक्षे परिपन्थिनि कल्पना साध्वी। तस्मात्सम्बन्धुरभावः। अन्वयव्यतिरेकश्च, यथास्मिन् देशे सास्नादिमति गोशब्द एवं सर्वेषु दुर्गमेष्वपि। बहवस्सम्बन्धारः कथं सम्पत्स्यन्ते। एको न शक्नुयात्। अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्ता। अपर आह—अव्यतिरेकश्च, न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तः कश्चित्कालोऽस्ति, यस्मिन्न कश्चिदपि शब्दः केनचिदर्थेन सम्बद्ध आसीत्। कथम् ? सम्बन्धक्रियैव हि नोपपद्यते। अवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वता केनचिच्छब्देन कर्तव्यः। येन क्रियेत तस्य केन कृतः ? अथान्येन केनचित्कृतः, तस्य केनेति तस्य केनेति नैवावतिष्ठते। तस्मादवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वता अकृतसम्बन्धाः केचन शब्दाः वृद्धव्यवहारसिद्धा अभ्युपगन्तव्याः।**

अर्थात् आजकल के दृष्टान्त से हमें निश्चय करना है कि हमारे बालक-बालिकाएँ पद-पदार्थसंगति को वृद्धों के व्यवहार से प्राप्त करते हैं। वे भी वृद्ध अपनी बाल्यावस्था में अपने पूर्वज वृद्धों के व्यवहार से प्राप्त किये हैं। अतः पद-पदार्थसम्बन्ध का आदि सिद्ध नहीं होता है अथवा अर्थापत्ति-प्रमाण से कल्पना की जाय कि 'शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, किसीने सम्बन्ध किया होगा', तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि वृद्ध का व्यवहार विद्यमान है। व्यवहारवादी प्रत्यक्ष प्रमाण को उपस्थापित कर रहा है, तो उसके विरुद्ध संबन्ध कल्पना करने वाले का पक्ष कैसे उत्थित हो सकेगा। अतः शब्द और अर्थ

का सम्बन्ध करने वाला नहीं है। शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का व्यतिरेक कहीं नहीं पाया जाता। जिस देश में गोशब्द का सास्नावाले अर्थ में प्रयोग है उसी अर्थ में दुर्गम देश में भी गो शब्द का प्रयोग पाया जाता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का यदि व्यतिरेक होता है तो संबन्ध करने वाले अनेकों को स्वीकार करने पर शब्द और तदर्थ व्यवस्थित नहीं रह सकते। सूत्रगत अव्यतिरेक शब्द का अर्थान्तर भी है—कोई ऐसा काल नहीं था जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध न रहा हो। 'हमारे भारतीय एक समय मूक ही रहे और अशिक्षित ही रहे,' यह मानने में कोई प्रमाण नहीं क्योंकि मूक-अवस्था में रहने के अनन्तर किसी ने शब्दार्थ-सम्बन्ध को बनाकर लोगों को सिखलाया है, ऐसी कल्पना करनी होगी। यह संभव नहीं। शब्दार्थ-सम्बन्ध करते हुए उन्हें 'गोशब्द सास्नादिमान् अर्थ का वाचक है, घटशब्द कम्बुग्रीवादिमान् अर्थ का वाचक है' ऐसा बोलते हुए शब्दार्थ-सम्बन्ध को कहना होगा। उच्चारण किये विना सम्बन्ध का सिखाया जाना कठिन है। जिन शब्दों से वह सम्बन्ध बनाकर सिखाता है उन शब्दों का सम्बन्ध कैसे सिद्ध हुआ! शब्दान्तर से कहने पर पुनः उनका सम्बन्ध किससे है? इस प्रकार की अनवस्था होगी। अतः अनादिकाल से वृद्ध व्यवहारों में कतिपय नित्य शब्द विद्यमान थे, उनको लेकर वृद्ध-व्यवहार की उपपत्ति बनानी होगी। वे ही नित्यशब्द वेद हैं। शबर स्वामी की इस विवेचना से सिद्ध होता है कि हमारे भारतीय समाज के लिए वेद एवं वैदिक साहित्य एक बहुत बड़ा अवलम्ब है। क्योंकि सामान्य एवं विशेष धर्म का निर्णय वेद तथा तन्मूलक वैदिक साहित्य से ही हो सकता है। धारयतीति धर्मः। धर्म तो देश को धारण करने के लिए महान् स्तम्भ है। मीमांसकों, दार्शनिकों और स्मृति-निबन्धकारों ने प्रचुर साहित्य का निर्माण कर हमें दिया है। केवल वर्ग-विशेष के ही नहीं किन्तु देश के सभी वर्ग के योगक्षेम के लिए उनका प्रयास है।

कतिपय लोग कहा करते हैं कि वेद और वैदिक साहित्य ब्राह्मणों का बिछाया हुआ जाल है। स्वस्थचित्त होकर चिन्तन करने से ज्ञात होगा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय; वैश्य और शूद्र सभी के श्रेय की बातें वेदों में मिलती हैं। एक घर की चार सन्तानें घरेलू कार्यों को विभक्त कर एक-एक कार्य को चलाने का भार लेती हों तो इनमें वैषम्य की शंका क्यों होगी। चारों के अपने बल, सामर्थ्य, प्रतिभा, अधिकार आदि से अपना कार्य सञ्चालन करते रहने पर सभी पहलुओं से घर का कार्य सुसम्पन्न होगा। उसी प्रकार भारतमाता के चारों पुत्र मिलकर मर्यादा एवं परम्परा का उल्लंघन किये विना कार्यरत होते हों तो ब्राह्मणों का अतिशय क्यों होगा। भावात्मक चेतना की आवश्यकता है। जातिवाद का खण्डन होना चाहिए, जाति के खण्डन में क्यों लगाव है? खटमलों को ही मारना ठीक है, घर क्यों जलाया जाय। वस्तुतः देखा जाय तो कोई भी अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर रहा है, ऐसी अवस्था में कलह का क्या स्थान है? हम अपने धर्म का पालन नहीं करते हों तो वेद और वैदिक साहित्य का क्या दोष है? वेद और वैदिक साहित्य के ज्ञानार्जन में क्या आपत्ति है? उस अंश में हम यों ही शिथिल हो चुके हैं, किन्तु भारत की चिरन्तन परम्परा को अक्षुण्ण रखने में और उस परम्परा के जानने के साधनों में द्वेष-बुद्धि

क्यों होती है ? नास्ति कहने वाले नास्तिक को पहले 'अस्ति' का प्रतिपादन करके ही नास्ति कहना पड़ता है। प्रतियोगी के ज्ञान के विना अभाव का ज्ञान असंभव है। किसी पदार्थ को उपलब्ध करना हो तो 'अस्ति' मानकर ही उपलब्ध किया जा सकता है। नास्ति मानकर वह किसका उपलम्भ करेगा। अपनी समझ में न आनेमात्र से नास्ति कहना बुद्धिमत्ता का द्योतक नहीं है। अस्ति-नास्ति की परम्परा आज की नहीं है किन्तु चिरकाल से ही प्रवृत्त है। एक-दूसरे के खण्डन के लिए दर्शनों में विभिन्नता नहीं है किन्तु विचार से बुद्धिविकास के लिए विभिन्नता प्रवृत्त है। अपनी बुद्धि से समन्वय दृष्टि रखकर विचार करना चाहिए। आस्तिक-नास्तिक का अहि-नकुल के समान विरोध होगा किन्तु इस विरोध से समाज को दूषित नहीं करना चाहिए। भट्टपाद अपनी तर्कसंगत युक्तियों से वेद के बहिर्भूत मत की आलोचना करते हैं, किन्तु समन्वय दृष्टि से उस मत की पुष्टि भी करते हैं। अपने तन्त्रवार्तिक ग्रन्थ में स्मृति-प्रामाण्य को साधते हुए विज्ञानवाद, शून्यवाद क्षणभङ्गुरवाद, नैरात्म्यवाद आदि वेदातिरिक्त मत का भी समन्वय करते हुए कहते हैं कि—

विज्ञानामात्रक्षणभङ्ग-नैरात्म्यादिवादानामप्युपनिषदर्थवादप्रभवत्वं विषयेष्वात्यन्तकं रागं निवर्तयितुम् इत्युपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम्।

(तं० वा० स्मृत्यधिकरण)।

भट्टपाद की यह उक्ति अपनी उदारता से व्यवस्थित समाज की कल्पना की ओर हमें ले जाती है और एकात्मकता की चेतना का उद्बोध करती है। आपस में आदरभाव रखने का उपदेशक है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि हम जिसमें आत्मीय भावना करते हैं वह हमारा बन जाता है। विषयों में अत्यन्त अनुरक्त रहना अच्छा नहीं। जहाँ तक हो सके विषयों से विमुख रहना अच्छा है। इस विषय में नास्तिक दर्शन सहायता पहुँचाता हो तो वह आत्मीय बन जाता है। अत एव नास्तिक दर्शन को उपनिषद् एवं अर्थवादमूलक भट्टपाद ने सिद्ध किया है।

निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण संस्कृतवाङ्मय स्मृति-निबन्ध-पुराण-इतिहास आदि का आधार वेद है। ये सभी वेद के आश्रित हैं। वेदरूपी महान् वृक्ष की छायाओं में बैठकर मनु-यम-वसिष्ठ-भृगु-अङ्गिरा-बृहस्पति-उशना-भारद्वाज-गौतम-आपस्तम्ब-संवर्त—व्यास—शातातप शंख-लिखित-हारीत-याज्ञवल्क्य-प्रचेता-बौधायन-आश्वलायन-कात्यायन-शांखायन-लाट्यायन-जैमिनि-पाणिनि-कपिल-कणाद आदि महामनीषी महर्षियों ने स्मृति-सूत्र-निबन्ध-दर्शन आदि संस्कृत वाङ्मय का सृजन किया। इन मूलग्रन्थों के भाष्य, वार्तिक एवं टीकाएँ पतञ्जलि-शबर-वात्स्यायन-शंकर-रामानुज आदि ने प्रवर्तित किये। पश्चाद्वर्ती महामनीषी ग्रन्थकारों ने शास्त्र एवं दर्शनों का बड़ा विस्तार किया। वेदों के अध्ययन-अध्यापन, शास्त्रों के पठन-पाठन, आचारों के चिन्तन-मनन देशव्यापी चलते थे। इसके अतिरिक्त वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार धर्मग्रन्थों में विहित जातकर्म, नामकरण आदि संस्कारों के अनुष्ठान प्रत्येक कुल में यथाविधि होते थे। कालचक्र की तीव्र गति से अध्ययन-अध्यापन के अभाव से जिस

प्रकार वेद-शाखाओं का लोप हुआ, उसी प्रकार यथाविधि संस्कारों को करने की क्षमता के अभाव से संस्कारों के अनुष्ठान का भी लोप हुआ। स्मृति-सूत्रग्रन्थों के अध्ययन से जन्म से लेकर मरणपर्यन्त संस्कार प्रतीत होते हैं। वेद शाखाओं की विभिन्नता से संस्कारों में भी कुछ भेद पाया जाता है। वस्तुतः मौलिक रूप से संस्कार एक है किन्तु उसके प्रयोग में भेद है। यहाँ जनन से लेकर प्रायः सभी संस्कारों का निरूपण किया जा रहा है।

यद्यपि सूत्र-ग्रन्थों में विवाह-संस्कार से आरम्भ किया गया है, तथापि जनन से मरणान्त संस्कारों के निरूपण की इच्छा से 'जातकर्म' से प्रारम्भ किया जाता है। पाठक इस क्रम-व्यतिक्रम को क्षमा करेंगे।

जातकर्म

उत्पन्न बच्चे के लिए पिता के द्वारा जो संस्कार अनुष्ठित होता है वह जातकर्म कहलाता है। सन्तान उत्पन्न होते ही सचैल स्नान कर शुद्धवस्त्र को पहिन सूतिकागृह में जाकर नालच्छेद के पूर्व पिता द्वारा यह संस्कार करने का विधान है, किन्तु शिशु के रक्षण-निमित्त सूतक से निवृत्त होने पर ग्यारहवें दिन इसको सम्पन्न करने की परम्परा चली है, वालक का यह प्रथम संस्कार है। तिथि, वार, नक्षत्र आदि को बोलकर 'जातं कुमार-मिमं जातकर्मणा संस्करिष्यामि' यह संकल्प किया जाता है। 'संस्करिष्यामि' इस परस्मै-पद के प्रयोग से पता चलता है कि इस संस्कार से होने वाले फल का भागी पुत्र है, स्वयं पिता नहीं। माता-पिता चाहते हैं कि उत्पन्न शिशु दीर्घायु रहे और जीवन में फूले-फले। पारस्कराचार्य अपने गृह्यसूत्र में कहते हैं—

जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति।

अर्थात् उत्पन्न हुए वच्चे के नालच्छेदन से पूर्व मेधा-बुद्धि-जनन मन्त्र एवं आयुष्यमन्त्र को उसे सुनावें। मन्त्र को सुनानेवाला वच्चे का पिता है। बच्चा मेधावी वने और आयुष्य-वाला हो, यही इस क्रिया का उद्देश्य है। सुनाना इस क्रियाके विना भी पिता, माता और बान्धव चाहते ही हैं कि यह वच्चा मेधावान् रहे, आयुष्मान् हो। तव मन्त्र सुनाने की क्या आवश्यकता है? यह प्रश्न होना सहज है। विचार करने से यह समाधान निकलता है कि न्यायालयों में न्यायाधीश के सामने साक्ष्य देने को हम खड़े होते हैं। हम सत्य ही वोलेंगे, वञ्चना या प्रतारणा न करेंगे, इतना निश्चय होने पर भी न्यायालय के कर्मचारी हमें शपथ ग्रहण कराते हैं, उसी वाक्य को वोलना पड़ता है। तत्समानार्थक वाक्यान्तर को हम वोल नहीं सकते। वोलने से न्यायाधिकरण एवं न्यायाधीश की आज्ञा का उल्लं-घन समझा जाता है। अर्थात् उस अर्थ को कहने के लिए वही वाक्य उच्चारित होगा, यह न्यायाधिकरण का नियम है। हम पूछ नहीं सकते—यह नियम क्यों वनाया गया? उसी प्रकार वेदपुरुष न्यायाधीश है। वेद न्यायाधिकरण है। पारस्कर आदि सूत्रकार न्याया-धिकरण के कर्मचारी हैं। हम शपथ ग्रहण करने वाले हैं। इस भावना से वेद को हमें देखना चाहिए। न्यायालय जनता को न्यायमार्ग दिखलाकर उसपर चलने की प्रेरणा देते हैं, क्योंकि जनता को अपनी ओर खींचकर नियंत्रण में रखना चाहते हैं। नैतिकता न रहने पर देश डवाँडोल हो जायगा। नीति ही तो धर्म है। धर्म धारक होता है। पहले कहा जा चुका है कि ईंटों से देशरूपी इमारत वनायी गयी है, जिसमें हम वास कर रहे हैं। सभी देशवासियों को अपने परम्परागत धर्म में रखकर देश को अनितरसाधारण वनाना वेदरूपी शिक्षक या न्यायाधीश का तात्पर्य है। वेद, देशवासियों के जीवन में मिल-कर उन्हें अलौकिकता की ओर ले जाने को सोचता है, तो हमें भी वेद से मिलने की धारणा रखनी चाहिए। वेद-मन्त्रों के अर्थ का विचार कर हम देखें तो पूर्वोक्त कथन की संगति किस प्रकार सिद्ध होती है, मालूम होगा। मेधाजनन मन्त्र केवल बच्चे को सुनाने

तक ही सीमित नहीं है। मधु-पुष्परस एवं घृत को मिलाकर सुवर्ण-शलाका से बच्चे की जिह्वा में लगाने का भी विधान है। मधु-घृत-सुवर्ण इन तीनों का योग 'ट्रिप्लान इन्जेक्शन' के स्थान पर माना जा सकता है।

त्वयि मेधां त्वयि प्रज्ञामग्निस्तेजो दधातु,
त्वयि मेधां त्वयि प्रज्ञां त्वयीन्द्र इन्द्रियं दधातु,
त्वयि मेधां त्वयि प्रज्ञां त्वयि सूर्यो भ्राजो दधातु।

इन तीन मन्त्रों से एक-एक मन्त्र के अन्त में जिह्वा में लगाने का विधान है। तेज, इन्द्रिय-पुष्टि और भ्राज ये तीनों बच्चे के धारक हैं। तीन मन्त्र, तीन वस्तु, तीन देवता (अग्नि, इन्द्र, सूर्य) और तीन वार, यह तीन की संख्या विशेष महत्त्व रखती है। 'हेयं दुःखमनागतम्' भविष्य में आने वाले दुःख से बचने के ये उपाय हैं, ऐसा समझ कर प्राचीन ऋषियों ने इसे कार्यान्वित किया है। इसके अनुसार चलने से मितव्ययिता का भी मार्ग प्रशस्त होता है। भारत की स्वस्थ परम्परा रही है—देव-देवियों में श्रद्धा, निष्ठा और भक्ति रखना। प्राचीन लोग श्रद्धा, निष्ठा और भक्ति से ही कार्यनिर्वाह करते थे, यही नहीं किन्तु इन तीनों के साथ पुरुषकार-उद्यम भी करते थे। केवल शारीरिक बल-सम्पत्ति मात्र में उनका ध्यान नहीं था, किन्तु दैवी एवं आत्मशक्ति से सम्पन्न होना उनका अभिलषित था। शारीरिक शक्ति माँ के स्तन्य से ही प्राप्त हो जाती है तो अन्य पोषक तत्त्व बच्चे के लिए अनावश्यक हैं, देवबल और आत्मबल की प्राप्ति के निमित्त जातकर्म आदि संस्कारों को प्राचीन मनीषियों ने अपनाया है। अत एव पारस्कर ने भूः भुवः स्वः इन तीन व्याहृति-मन्त्रों को मेधाजनन का साधन माना है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा लोकत्रय की सृष्टि करते हुए इन व्याहृतियों को कहकर ही सृष्टि किये हैं—

भूरिति वा अयं लोकः, भुव इत्यन्तरिक्षम्, स्वरित्यसौ लोकः।

शाखान्तर में कहा गया है। इन तीनों व्याहृति मन्त्रों की देवताएँ हैं—अग्नि, वायु, सूर्य। व्याहृतियों से होम करते हुए—

'भूः स्वाहा' अग्नय इदं न मम, 'भुवः स्वाहा' वायव इदं न मम,
'स्वः स्वाहा' सूर्यायेदं न मम।

इस प्रकार त्याग किया जाता है। मधु, घृत और सुवर्ण ये तीनों उक्त तीन देवताओं की शक्ति के द्योतक हैं।

इस प्रकार बच्चे को शक्ति सम्पन्न कराकर 'अथास्यायुष्यं करोति' आयुष्यमन्त्र सुनाया जाता है—

अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्मान् तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि,
सोम आयुष्मान् स ओषधीभिरायुष्मान् तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि।

इत्यादि। अर्थात् वनस्पतियों से अग्निदेव वृद्धिगत होते हैं, उस देव के द्वारा मैं तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ, एवं ओषधियों से चन्द्र परिपुष्ट होता है उस देव के द्वारा मैं तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ। इस प्रकार आयुष्यकरण मन्त्रों में—

ब्रह्म आयुष्मत् तद् ब्राह्मणैरायुष्मत् तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि।

यह मन्त्र है। ब्राह्मणों द्वारा ब्रह्म-वेद परिपुष्ट होता है, उस वेद-भगवान् के द्वारा मैं तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ। इससे अवगत होता है कि वेद और लोक का कितना सम्बन्ध है। मानव-जीवन के साथ वेद मिला-जुला रहता है। आयुष्यकरण मंत्र सुनने के पश्चात् ही बच्चे को स्तन्यपान कराया जाता है। स्तन्यपान से ही बालक हृदय वाला बनता है। आज बोतल से पाउडर का दूध पिलाना प्रचलित हो गया है। यद्यपि वह दूध पोषक तत्त्वों से अवश्य ही पुष्ट है, बालक को स्वस्थ रखने में समर्थ है किन्तु हृदय सुन्दर नहीं बन पायेगा। हृदय-विहीन रहना भारतीय के लिए उचित नहीं है।

आधुनिक विज्ञान के आश्रयण से आविष्कृत प्राणधारक औषधों से जनता का महान् लाभ है ही, किन्तु ये औषध अधिक खर्चीले हैं, सभी लोग उपयोग नहीं कर पायेंगे। वैदिक विज्ञान हमें मितव्ययिता की ओर ले चलता है। आजकल वैदिक विज्ञान में निष्ठा नहीं है, किन्तु ऐसा उचित नहीं है। असमर्थता के कारणों का अन्वेषण करना चाहिए। कारण स्पष्ट है—नियमपूर्वक वेद के अध्ययन का अभाव। नियमपालनपूर्वक अध्ययन करने वाले व्यक्तियों की वाणी में एक असाधारण शक्ति विद्यमान थी। अत एव सूतिकागृह में प्रविष्ट होकर जिस प्रकार जातकर्म संस्कार करना है, उस प्रकार से करते थे। किसी पुरोहित के द्वारा कराने की आवश्यकता नहीं थी। आज तो वैसा पुरोहित भी मिलना कठिन हो गया है। जो पद्धति आत्मार्थ प्रचलित थी वह आज व्यावसायिक बन गयी है। आत्मविश्वास भी तो एक वस्तु है। हम तो आत्मविश्वास को खो बैठे हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है—अब भी यदि हम नियमित रूप से वेदाध्ययन में लोगों को प्रवृत्त कराकर नमूने के तौरपर परीक्षण करें तो कुछ सफलता प्राप्त कर सकते हैं। वेदवृक्ष की शाखाएँ अवश्य सूख गई हैं, किन्तु मूल में आर्द्रता अवश्य है। शान्त वातावरण में विद्यमान आर्द्रता को सिञ्चित कर पल्लवित कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान की धारा के बढ़ने से क्या हुआ, उस धारा में इस वैदिक धारा को मिला सकते हैं। अधिक खर्च को रोक सकते हैं।

जातकर्म संस्कार के प्रकरण का अध्ययन करने से अनेक बातें प्रकाश में आती है। मेधाजनन मन्त्रों में एक ऋचा है—

मेधान्ते देवस्सविता मेधां देवी सरस्वती।
मेधान्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा॥

इसमें सविता, सरस्वती और अश्विनौ ये तीन देवताएँ हैं। सविता अच्छे कर्मों के प्रेरक हैं, सरस्वती विद्याधिष्ठात्री देवता है, अश्विदेवता द्वित्वघटित होने से दो देव हैं। ये दोनों देवों में श्रेष्ठ वैद्य हैं। मानव-जीवन में मेधा को अच्छे कार्यों को करने, परम्परागत विद्या को प्राप्त करने एवं स्वास्थ्य को अच्छा रखने में लगाना चाहिए। ये तीनों ही कार्य व्यक्तिगत उत्थान के ही लिए नहीं, किन्तु समाज की उन्नति के लिए हैं। अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सन्तति को मेधायुक्त बनायेंगे तो स्वस्थ समाज का निर्माण होगा, जिससे देश का गौरव बढ़ेगा। इसी उद्देश्य को मुख्यरूप से मन में रखकर महर्षियों ने इस संस्कार को प्रवर्तित किया है।

आज के समालोचक कहते हैं कि 'यह ब्राह्मणों का जाल है, एक व्यवसाय के रूप में प्रवर्तित कर रक्खा है, इससे जीविकोपार्जन होता है' इत्यादि। ऋक्शाखा के लिए आश्वलायन, यजुशाखा के लिए कात्यायन-पारस्कर-आपस्तम्ब-बौधायन, सामशाखा के लिए शाङ्खायन-लाट्यायन, अथर्वशाखा के लिए अंगिरा तथा सर्वशाखासाधारण के लिए गौतम आदि ने सूत्रग्रन्थों का प्रणयन कर समाज को दिया। श्रुतिपरम्परा का लोप होते हुए देखकर इन महर्षियों ने नाना शाखाओं से संग्रह कर स्मरण के लिए इन स्मृतिग्रन्थों को प्रवर्तित किया। क्या इन महर्षियों को द्रव्य-संग्रह की भावना हो सकती है? क्या यशः-प्राप्ति उद्देश्य हो सकता है? क्या लोगों को ठगने की दृष्टि हो सकती है? आज हम 'सत्य बोलना चाहिए, परायी स्त्रियों में मातृबुद्धि रखनी चाहिए, परद्रव्य को लोष्ठ के समान देखना चाहिए, परोपकार में लगना चाहिए' इत्यादि अच्छी बातों के प्रचार करने वालों को निःसंकोच कहने में प्रवृत्त हो जाते हैं तो ये सब राजनीति से प्रेरित होकर प्रचार करते हैं। आज 'राजनीति' शब्द मिथ्या के अर्थ में गिना जाने लगा है। जब से नाना मत वाले विपक्षी आये तब से यह 'राजनीति' शब्द असत्य के अर्थ में आ गया है क्योंकि विपक्षियों की नीति में ऐकमत्य नहीं है। प्राचीन काल में 'अस्ति-नास्ति' ये दो ही पक्ष थे। अस्ति कहने वाले अनेक होते हुए भी, विभिन्न मार्ग में चलते हुए भी अस्तित्व में एकमत, एवं नास्ति कहने वाले अनेक होते हुए भी विभिन्न मार्गों का आश्रयण करते हुए भी नास्तित्व में एकमत थे। यही नीति उन दिनों थी—

अन्यैस्सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्।
परस्परं विरोधे तु वयं पञ्च शतं च ते॥

अर्थात् विपक्षियों के साथ विरोध होने पर हम एक सौ पाँच और आपस में विरोध होने पर हम पाँच, वे सौ। ऐसी जब नीति थी तब 'ब्राह्मणों का यह जाल है', कहने का अवसर कहाँ होगा? उस समय के विपक्षी लोग इस बात को कहते ही थे किन्तु तर्क-संगत बातों को कहने पर विपक्षियों में मानने की सहन-शक्ति थी। अपनी कुल-परम्परा में आये हुए संस्कारों को स्वयं करने में सभी समर्थ थे। वेदाध्ययन-परम्परा को नहीं छोड़ते थे। करने-कराने में आत्मनिर्भर थे। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणों का जाल कहने के लिए क्योंकर अवसर प्राप्त होगा।

हम उस परम्परा से दूर हट गये, जातकर्म आदि संस्कारों को करने की इच्छा होने पर भी करने का ज्ञान न होने से दूसरे का सहारा लेने लगे; ब्राह्मणों द्वारा कराने लगे। ब्राह्मणों की क्षमता क्षीण होने लगी तो कात्यायन आदि ने कौन-सा जाल फैलाया। सूर्य, अग्नि, सरस्वती आदि देवताएँ ब्राह्मणों की ही नहीं हैं। इतना अवश्य है कि ब्राह्मणों ने परम्परा के लोप को देखकर कराने के अधिकार को अपने हाथ में रक्खा। क्योंकि अन्यान्य लोग अपने धन्धे को बढ़ाने में लगे थे। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने निजी कार्य में लगे थे। ब्राह्मण अपने बच्चों की ही मेधा और आयुष्य नहीं चाहते थे, किन्तु समाज के सभी वर्ग के बच्चों की चाहते थे और कराते थे। इसका मतलब यह नहीं है कि ब्राह्मणों ने जाल बिछाया। वेद 'त्वयि मेधां' कहता हुआ 'त्वयि' शब्द से ब्राह्मणमात्र को नहीं कहता है। युष्मच्छब्द क्षत्रिय, वैश्य आदि में भी लग सकता है। इस संस्कार से वे

वञ्चित क्यों हों ? पढ़ने, करने, देने आदि कार्यों में सबका समान अधिकार है। पढ़ाने, कराने और लेने के कार्यों को अपनाया, क्योंकि पढ़ाने का कार्य निःशुल्क विहित है। कराना और लेना ही द्रव्योपार्जन का साधन था। इसको ब्राह्मणों ने ले रक्खा। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का दूसरे प्रकार से भी द्रव्योपार्जन होता था। एवञ्च कोई भी कुछ किये विना चुपचाप वैठकर आहार नहीं करता था। करने-कराने, पढ़ने-पढ़ाने में मेधा की आवश्यकता थी ही। इस स्थिति में 'ब्राह्मणों ने जाल फैलाकर अपना धन्धा शुरू किया', कहना कहाँ तक संगत है ?

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

हर-एक व्यक्ति का अपने धर्म पर आरूढ रहना न्यायसिद्ध है। इसमें थोड़ा भी व्यतिक्रम हुआ तो धर्मस्तम्भ हिलने लगता है। नाना प्रकार के उपद्रव और कलह का होना शुरू हो जाता है। समाज में एकात्मकता का भंग हो जाता है। इस सन्दर्भ में मीमांसकों के 'एक-प्रसरताभङ्ग' न्याय पर दृष्टि देनी चाहिये। सभी वाक्यों में जितने पद हैं वे भिन्न-भिन्न अर्थों के प्रतिपादक होते हैं, किन्तु वाक्य एक मिले हुए अर्थ का प्रतिपादक होता है। मिले हुए अर्थ का प्रतिपादन न करने पर वाक्य खण्डित हो जायगा। खण्डित होना उचित नहीं है। अतः विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन का भंग हो जाने के भय से पूर्वविहित पदार्थ का भी पुनर्विधान माना जाता है। एक अर्थ का प्रतिपादन करना ही एकात्मकता है। अनेकों को एक सूत्र में बाँधकर रखना ही समाज है। अनेक समाजों का सन्निवेश ही एक देश की शोभा है। सूत्रकारों ने भिन्न-भिन्न पद्धति का शाखाभेद से आश्रय किया—किन्तु मेधाजनन क्रिया एक है और आयुष्यकरण क्रिया भी एक है, उनके मन्त्र समान हैं, शाखाएँ भिन्न हैं, किन्तु वेद एक है। मितव्ययितारूप उद्देश्य एक है। इस पवित्र उद्देश्य को लेकर सभी गृह्यसूत्र चलते हैं। ऐसी स्थिति में 'ब्राह्मणों ने जाल विछाया' कहना कैसे संगत होगा ?

कराल काल की तीव्र गति से चारों वर्ण विकृत हो गये हैं, कोई भी अपने धर्म पर चलने को तैयार नहीं है तथापि इसको देखते रहना उचित नहीं है। पुनः इन संस्कारों को यथाविधि प्रवर्तित कराकर स्वस्थ समाज का निर्माण करना देश के गौरव का विषय होगा।

जातकर्म का क्रम

पुत्र के उत्पन्न होते ही पिता वच्चे के मुख का निरीक्षण करके नदी या तालाब में उदङ्मुख होकर स्नान करे। नदी-तालाव न रहने पर घर ही में पहले से ही भरे हुए शीतल जल में सुवर्ण डालकर स्नान करे। शुद्ध वस्त्र पहन कर परम्परागत भस्म-चन्दन आदि को धारण कर आचमन करे। नालच्छेद के पूर्व स्तन्य-पान न किये हुए, शुद्ध, पूर्वाभिमुख, माता की गोद में विद्यमान वच्चे के पास वैठकर पुण्याहवाचन करे। तिथि, वार, नक्षत्र, देश और काल का स्मरण कर—

इमं मम कुमारं गर्भाम्बुपानजनितसकलदोषनिवृत्तये मेधायुष्याभिवृद्धये, सकलपापनिवृत्तये च परमेश्वरमुद्दिश्य परमेश्वरप्रीत्यर्थं जातकर्मणा संस्करिष्यामि।

ऐसा सङ्कल्प करे। एक कांस्य-पात्र में मधु और घृत को सुवर्ण से मिलावे। मिले हुए द्रव्य को लेकर बच्चे को प्राशन करावे। प्राशन का मन्त्र है—

भूस्त्वयि मेधां दधामि, भुवस्त्वयि मेधां दधामि, स्वस्त्वयि मेधां दधामि, भूर्भुवस्स्वः सर्वं त्वयि दधामि।

इसको मेधाजनन कहते हैं। शाखान्तर से—

त्वयि मेधां त्वयि प्रजां त्वय्यग्निस्तेजो दधातु, त्वयि मेधां त्वयि प्रजां त्वयीन्द्र इन्द्रियं दधातु, त्वयि मेधां त्वयि प्रजां त्वयि सूर्यो भ्राजो दधातु।

ये तीन मन्त्र पठित हैं। यह मेधाजनन कहलाता है।

इसके बाद आयुष्यकरण का प्रसङ्ग आता है। बच्चे की नाभि के समीप या दाहिने कान के पास इन आठ मन्त्रों का पढ़ना आयुष्यकरण कहलाता है—

अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्मान् तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।
सोम आयुष्मान् स ओषधीभिरायुष्मान् तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।
ब्रह्मायुष्मत् तद्ब्राह्मणैरायुष्मत् तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।
देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।
ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।
पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।
यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभिरायुष्मान् तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।
समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।

इन आठ मंत्रों को तीन वार जपना है। इन मंत्रों का अर्थ है—अग्नि वनस्पति-काष्ठों से आयुष्मान् होता है, उस आयु से तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ। सोम-चन्द्रमा औषधियों से आयुष्मान् होता है उस आयु से तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ। वेद ब्राह्मणों से आयुष्मान् होता है उस आयु से तुम्हें आयुष्मान करता हूँ। देवता लोग अमृत से आयुष्मान् होते हैं, उस आयु से तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ। ऋषि व्रतों से आयुष्मान् होते हैं, उस आयु से तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ। पितर स्वधा से आयुष्मान् होते हैं, उस आयु से तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ। यज्ञ दक्षिणाओं से आयुष्मान् होता है, उस आयु से तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ। समुद्र नदियों से आयुष्मान् होता है, उस आयु से तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ। यही आयुष्यकरण है। यदि पिता बच्चे का निरतिशय आयुष्य चाहता हो तो वात्सप्री मन्त्र को बच्चे के कान में सुनावे। वात्सप्र ऋषि के द्वारा देखा गया मन्त्र वात्सप्री कहा जाता है। 'दिवस्परि' इस अनुवाक में पठित मन्त्र वात्सप्री कहा जाता है। इस अनुवाक की अंतिम ऋचा को छोड़कर अवशिष्ट मन्त्र का जप करना है।

आयुष्यकरण के अनन्तर पिता पाँच ब्राह्मणों को नियुक्त कर या स्वय ही हर-एक दिशा में घूमकर पूर्वोक्त आयुष्य-पुष्टि के लिए अनुप्राणन करे। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व इन पाँच दिशाओं में पाँच ब्राह्मणों को नियुक्त कर प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान इन पाँच प्राणों के नाम लेने को कहे या स्वयं पिता तत्तत् दिशाओं के अभिमुख होकर नाम ले। इसका तात्पर्य है कि प्राणवायु एक होकर भी स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न नाम का हो जाता है। इसके व्यतिक्रम से रोग उत्पन्न होते हैं, अतः इसमें व्यतिक्रम

न हो किन्तु अपने-अपने स्थान पर रहते हुए बच्चे को निरोग बनावें। इसके बाद जिस भू-प्रदेश में बच्चा पैदा हुआ हो, उस भूमि का अभिमन्त्रण इस मन्त्र से करना चाहिए—

वेद ते भूमिः हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद् विद्यात् पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदश्शतम् शृणुयाम शरदश्शतम्।

मन्त्र का अर्थ है—हे भूप्रदेश! तुम्हारे हृदय को यह भूमि-अधिष्ठात्री देवता जानती है जो हृदय आकाश में विद्यमान चन्द्रमा में आश्रित है। चन्द्रमा में कलङ्क-सा जो दीखता है वह भूमि की छाया मानी जाती है। इस रहस्य को भूमिदेवता जानती है। मैं उसको जानता हूँ, वह मुझे जानता है। इसलिए सौ वर्ष जीते रहेंगे, सौ वर्ष सुनते रहेंगे। अभिमन्त्रण का तात्पर्य है—जिस प्रदेश में बच्चा गिरा है, उस प्रदेश में बालग्रह रहता हो तो उसका ज्ञान तुम्हें है ही। उससे यह बच्चा पीड़ित न हो, दीर्घायु रहे। इसके बाद—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्रुतं भव। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्।

इस मन्त्र से बच्चे का स्पर्श करना चाहिए। मन्त्र का अर्थ है—हे कुमार! तुम अश्मा-मणिके समान दृढ़ रहो, परशुः-आयुध के समान शत्रुओं का सामना करने की शक्ति रखो, हिरण्यमस्रुतम्-मिलावट से रहित सुवर्ण के समान तेजस्वी रहो, क्योंकि तुम पुत्ररूप से आत्मा हो। अतः तुम सौ वर्ष जीवित रहो। वात्सप्र मन्त्र और इस मन्त्र से स्पर्श, संस्कार होने से मुख्य काल का उल्लंघन होने पर भी गौण काल में करना ही चाहिए। पुनः बच्चे की माता का अभिमन्त्रण इस मन्त्र से करे—

इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः।
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरत्॥

अर्थात् हे वीरे! तुम वीरवती-पुत्रवती हो और इडा-यज्ञपात्र या तद्गत द्रव्य हो, मित्रा-वरुणों के अंश से युक्त हो, जिस कारण से तुम वीर बच्चे को पैदा की हो उससे तुम जीवत्पुत्रवती रहो, क्योंकि तुम हमें जीवत्पुत्रवान् बनायी हो। इसके बाद पिता माँ के दक्षिण स्तन को धोकर बच्चे को पिलाता है। उसके लिए—'इमं स्तनम्' 'यस्ते स्तन' ये दो मन्त्र हैं। पुनः जल से पूर्ण घड़े को शय्या के निचले भाग में 'आपो देवेषु' मन्त्र का उच्चारण करते हुए रखता है और अग्नि को स्थापित कर चावल के कण एवं सरसों को अग्नि में डालता है। उसके लिए मन्त्र है—

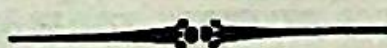
शण्डा मर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः।
मलिम्लुचो द्रोणसश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा॥

बच्चे को परेशान करने वाले जितने बालग्रह हों वे सब यहाँ से हट जायँ। कूकर-खाँसी आदि उपद्रव न होने पावें। यह मन्त्र का तात्पर्य है। मेधाजनन से लेकर इतनी कर्म-की प्रक्रिया नालच्छेद के पूर्व नहीं हो सकती है, क्योंकि आहार के बिना शिशु का जीवन कठिन है; अतः जातकर्म का मुख्य काल नालच्छेद के पूर्व होने पर भी मेधाजनन मात्र नालच्छेद के पूर्व सम्पन्न कराकर अवशिष्ट संस्कार सूतक के निवृत्त होने पर किया जाता है। मेधाजनन का मुख्य काल छूट जाने से आगे मेधाजनन का लोप ही हो जायगा।

आज जातकर्म संस्कार मात्र ग्रन्थों में रह गया है। प्रसूति का कार्य प्रायः अस्पतालों, नर्सिंग होमों में होता है तो वहाँ इस कर्म का अवसर कहाँ ? वैदिक विज्ञान एवं लौकिक विज्ञानों में फलतः भेद जानने के निमित्त से भी हमारा प्रयत्न होना चाहिये। वैदिक विज्ञान को एकदम अविश्वास के कारण हटा देना भारतवासियों के लिए उचित नहीं होगा। पाश्चात्य देश की रीति-रिवाज का अनुसरण कर हम पांश्चात्त्य वन सकते हैं किन्तु स्वयं आदर्श वनकर नहीं रहना चाहते, यह दुःख की वात है। हम अपनी संस्कृति के पालन में तत्पर न हों तो दूसरा कौन पालन करेगा। हमें पुनः इस संस्कार को प्रवर्तित कराकर वैदिक विज्ञान के तत्त्व को समझने का यत्न करना चाहिए।

षष्ठी पूजन

वच्चे के जन्म-दिन से पाँचवें या छठें दिन यह पूजन होता है। यह संस्कारों में परिगणित नहीं है, तथापि देशभर में प्रचलित है। छठें दिन की पूर्वरात्रि में यह पूजन होता है। इस पूजन की देवता प्रधानतया षष्ठी देवी हैं। राका, अनुमति, सिनीवाली और कुहू ये चार कन्याएँ और वातघ्नी (वातरोग का निवारण करने वाली और वालकों का क्रीडन कराने वाली) षष्ठी और शिशुरक्षिणी इस प्रकार छः देवताएँ हैं। इन मूर्तियों को दीवाल में लिखकर वच्चे का पिता षोडशोपचार से पूजा करता है। जन्मदा देवी को वलि दी जाती है। रात में स्त्रियों के गाने-वजाने तथा पुरुष के शस्त्र धारण करते हुए जागरण करने का पुराणों में विधान है। यह पूजन परम्परागत है। पुत्रजनन की खुशी में होता है और शिशु के आयुरारोग्य की कामना की जाती है।



नामकरण

एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्

इस विधान के अनुसार ग्यारहवें दिन पिता पुत्र का नामकरण संस्कार करता है। सूतक से शुद्ध हो जानेपर पत्नी-सहित पिता तिथि-वार-नक्षत्र आदि का संकीर्तन कर संकल्प करता है—अमुकनक्षत्रे अमुकराशौ जातस्यास्य कुमारस्य नाम सन्धास्यावः। नामकरण में पत्नी का भी अधिकार है, अत एव 'सन्धास्यावः' बोला जाता है। नामकरण संस्कार में पिता का ही कर्तृत्व है किन्तु माता भी पुकारने का नाम रखती है। अतः कुछ प्रान्तों में दोनों को मानकर 'सन्धास्यावः' द्विवचन का प्रयोग करते हैं। पारस्कराचार्य 'पिता नाम करोति' कहकर पिता का ही अधिकार बतलाते हैं—अतः 'नामकरणसंस्कारेण संस्करिष्यामि' संकल्प होता है। ग्यारहवें दिन बच्चे के साथ माता-पिता स्नान आदि से शुद्ध होकर धौतवस्त्र का परिधान कर एवं परम्परागत तिलक को ललाट में लगाकर विनायक-पूजन, पुण्याहवाचन और पुण्याहजल से घर का प्रोक्षण करके माता की गोद में लेटे हुए बच्चे के दाहिने कान में नाम सुनाते हैं। दो अक्षर या चार अक्षर का नाम होना चाहिए। उन अक्षरों में ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, य र ल व ह नाम के आद्याक्षर हों और य र ल व ये मध्य में हों तथा नाम दीर्घान्त हो एवं कृत्प्रत्ययान्त हो, तद्धितान्त न हो, यह क्रम है। अथवा बच्चे के पितामह आदि का नाम हो। घोषवदक्षर आदि में अन्तस्थ मध्य में कृत्प्रत्यय और गुरु अन्त में रखने के नियम का तात्पर्य है कि पूर्व अक्षरों के वायु-अग्नि-भूमि-इन्दु और सूर्य देवताएँ दिखलायी गयी हैं। निर्दिष्ट अक्षरों में पाँचों देवताएँ मिल जाती हैं और चार जातियों का भी संग्रह हो जाता है। यह नामकरण संस्कार परम्परागत एकता का द्योतक सिद्ध होता है। वायु-अग्नि-भूमि-चन्द्रमा और सूर्य के प्रति भौतिक बुद्धि रखकर विचार करें या देवता-बुद्धि रखकर; उभयथा परिणाम एक ही निकलेगा। क्योंकि इन पाँचों को न माननेवाला एक भी जगत् में नहीं मिलेगा। किन्तु सन्देह होगा कि इन अक्षरों में वे हैं या नहीं। ऋषियों ने अपने विज्ञान से वायु आदि को परिगणित किया है, उसका कुछ मूल होना चाहिए। वह मूल हमे प्रत्यक्ष नहीं है, अन्वेपण का विषय है। जैसा कि कहा जा चुका है कि हमारी परम्परा है, मानकर चलना है। ये पाँचों मात्र ब्राह्मण के नहीं किन्तु सभी वर्णों के हैं। ऐसी अवस्था में 'ब्राह्मणों का यह जाल है' कहकर इस परम्परा को उदासीन या हेय-दृष्टि से देखना उचित नहीं। एकाक्षर कोश-ग्रन्थों के अध्ययन से इसका मूल मिल भी सकता है। वैदिक और तांत्रिक, श्रौत और स्मार्त कर्मकाण्डों में पदार्थ प्रायः मिले-जुले रहते हैं। व्यवहार के लिए वैदिक, तान्त्रिक, श्रौत, स्मार्त आदि सञ्ज्ञाएँ चली हैं। इनका मूल एक है। परवर्ती लोग अपना व्यवसाय बनाकर रखने लगे तो साधारण जनता का विश्वास घट गया। इस प्रकार यह तो पुरुषों का दोष है, ऋषियों का मूल तो निर्दुष्ट है। विधि के अनुसार जिस बच्चे का हम नामकरण संस्कार करते हैं वह बच्चा संस्कृत होता ही है,

श्रेयःप्राप्ति का भागी बनता ही है, इसके अलावा उसको उस नाम से पुकारने वाले भी श्रेयोभागी बनते हैं। हम किसी बच्चे का 'गिरिधारी' नाम रखते हैं तो इस नाम में ग् इ् र् इ ध् आ र् ई इतने वर्ण हैं। इनमें 'अ' वायु है, 'इ' अग्नि है, 'ध' चन्द्रमा है, 'ग' भूमि है। इस नाम में चार तत्त्व मिले हुए हैं। गिरिधारी शब्द कृष्ण का वाचक है। हमारी परम्परा में नाम-पारायण एवं जप का अति माहात्म्य है। स्वयं बच्चा इस नाम से मिला हुआ है एवं पुकारने वाले भगवन्नामोच्चारण के फलभागी बनते हैं। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि बच्चे की अवस्था का जीवन्मुक्त की अवस्था से तुलना करें। जीवन्मुक्त की अवस्था—

देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्

है। यही अवस्था बच्चे की भी है। जीवन्मुक्त पर-ब्रह्मस्वरूप है और वही परब्रह्म बच्चा भी है। हम मायिक जगत् में परब्रह्म को नाम-रूप देकर व्यवहार करते हैं।

मायिक जगत् में बच्चा उत्पन्न होनेपर भी कुछ काल तक माया से अनभिभूत रहता है। हम अभिभावक धीरे-धीरे उस बच्चे को मायिक जगत् में लाते हैं। नामकरण संस्कार में जो नाम रक्खा गया है, उसके अर्थ को समझकर उसका अनुसन्धान कर सकता है। अनुसन्धान की प्रवृत्ति न होने पर भी योग्यता रखता है। वह योग्यता माता-पिता एवं शिक्षक के द्वारा उत्पन्न करायी जाती है। इतना फल है नामकरण संस्कार का।

जीवन्मुक्त की अवस्था तक पहुँचने के लिए ऋषियों ने विविध संस्कारों को प्रवर्तित किया। यदि हम इन संस्कारों से अथवा इन संस्कारों के प्रतिनिधि रूप से विहित क्रिया-कलापों से वञ्चित रहेंगे तो लक्ष्य को प्राप्त करना संभव नहीं होगा। नाम के अन्त में शर्मा, वर्मा, गुप्ता आदि जोड़ा जाता है किन्तु इसे जोड़ने में उच्च-नीच भाव पूर्वजों का नहीं था। सभी समान अर्थ वाले हैं किन्तु अवस्था-विशेष के परिचायक हैं। पहले कहा जा चुका है कि समानता-सामान्य विशेष को छोड़कर नहीं रह सकती। हम जिस बच्चे को प्रथम अवस्था में जैसा देखते थे, वह सर्वत्र समान है किन्तु व्यवहार में आनेपर समानता को विशेष में बदलना पड़ता है। यही व्यावहारिक जगत् है। इसे परिवर्तित करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए, यही परम्परा है। परम्परा के साथ चलता हुआ मानव देश और काल के प्रभाव से स्वयं परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तन का उद्यम नहीं करना चाहिए। यदि अपने-आप परिवर्तन आ जाता हो तो उसमें परम्परा नहीं कटेगी किन्तु हमारे पौरुष से यदि परिवर्तन आयेगा तो परम्परा कट जायगी।

अत एव यथासमय बच्चे को चन्द्रदर्शन, सूर्यदर्शन एवं देवता-देवियों के दर्शन कराते हुए निष्क्रमणिका के रूप में मन्त्रसहित संस्कार करते हैं। जो बच्चा अपने स्वरूप में मग्न रहा उसे बाहरी जगत् का परिचय कराकर व्यावहारिक बनाते हैं। बच्चे का पिता ग्रामान्तर में जाकर पुनः घर लौटते ही पुत्र को देखकर इस मन्त्र को जपता है—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

हे पुत्र ! तुम हमारे अङ्ग से उत्पन्न हो, हृदय-अन्तरङ्ग से भी अधिजायसे-अधिकरूप में उत्पन्न हो। अतः तुम निश्चित ही मेरे पुत्र हो, सौ वर्ष तक जीवित रहो। इतना कहकर बच्चे की मूर्धा को सूँघता है। उसके लिए यह मन्त्र है—

प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम्

अर्थात् हे पुत्र ! प्रजापति-ब्रह्मा जी के हिंकार—सामवेद से या स्नेहभरित शब्द से तुम्हें सूँघता हूँ। हे असौ—अमुक नामवाले पुत्र ! तुम सौ वर्ष तक जीवित रहो। इसी मन्त्र में 'प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेण' के स्थान पर 'गवां त्वा हिंकारेण' रखकर तीन वार जप करके दाहिने कान में—

अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।
अस्मे शतँ शरदो जीवसे धा अस्मै वीरान् शश्वत इन्द्र शिप्रिन्॥

इस मन्त्र को जपना चाहिए। इसका अर्थ है—हे मघवन् !-इन्द्र तुम ऋजीषिन्-पिघले हुए चित्तवाले हो। हे इन्द्र ! तुम शिप्रिन्—सुख देनेवाले हो। अस्मे—इस कुमार को, रायः—ऐश्वर्ययुक्त धनधान्य इस प्रकार का हो जो प्रचुर और सभी लोगों के द्वारा वरणीय हो, उसको प्रयन्धि—दो। अस्मे—इस कुमार के जीवसे—जीवन के लिए और शाश्वत वीरान्—पुत्र-पौत्र आदि को अधाः—दो।

इसी प्रकार वायें कान में इस मन्त्र का जप करना चाहिए—

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मै।
पोषँ रयीणामरिष्टिं तनूनाँ स्वात्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

अर्थात्—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! अस्मे—इस बच्चे को सर्वश्रेष्ठ सुमङ्गल धन का वितरण करो, एवं चित्ति-ज्ञान को तनूनामरिष्टिम्—शारीरिक नीरोगता प्रजापति के सर्वतोमुख सौभाग्य का वितरण करो। रयीणाम्-धन की पोषं-पुष्टि, वाचः-वागिन्द्रिय का स्वात्मानम्-माधुर्य, अन्हां सुदिनत्वम्—साफल्य का वितरण करो। इस सन्दर्भ से यह अनुमान किया जा सकता है कि पिता-पुत्र का सम्वन्ध और मानव-जीवन में वेद का सम्वन्ध किस प्रकार है। आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक उन्नति की कामनाओं द्वारा बच्चे के कानों में पिता मन्त्रों को जपता हुआ उसे दैविक सम्पदा से पुष्ट करता है। यद्यपि वालक इन वातों को समझने में समर्थ नहीं है तो भी पिता मन्त्रों की शक्ति से परिचित होकर ही मन्त्रों को सुनाता है।

सूत्रग्रन्थों के निर्माता स्वयं अनुभव करके ही इस परम्परा को प्रवर्तित किये हैं। कौन ऐसा पिता होगा जो अपने पुत्र को सर्वाङ्गीण सम्पन्न नहीं देखना चाहेगा। परम्परागत इस पद्धति का आश्रय लेकर पिता अपने पिता के विषय में अत्यधिक श्रद्धा क्यों नहीं रखेगा ? यह नैतिक उन्नति का आदर्श है।

अन्नप्राशन

बालक के छठें मास में अन्नप्राशन संस्कार होता है। पिता द्वारा बच्चे को अन्न खिलाना एक संस्कार माना जाता है। अन्न खाना भूख को दूर करने के लिए होता है। यद्यपि इसका फल स्पष्ट है तथापि इस संस्कार को प्राचीनों ने अदृष्ट फलवाला भी माना। पहले कहा जा चुका है कि दृष्ट फल होते हुए भी अदृष्ट फल भी माना जाना चाहिए। जैसे—गुरु का अनुगमन आदि। धर्मबुद्धि से जितने कार्य किये जाते हैं वे सभी आध्यात्मिक चेतना को उत्पन्न करते हुए जीवन में कल्याणाधायक हैं। 'जीने के लिए अन्न होता है, अन्न के लिए जीना नहीं' इस सिद्धान्त को प्राचीनों ने अपनाया है। इससे मितव्ययिता भी प्रकाश में आती है। प्राणधारण—जीवन का कारण अन्न माना जाता है। अन्न खाने के लिए, जीवन मानने पर अमितव्ययिता का भी प्रसङ्ग होगा। मितव्ययिता को दृष्टि में रखकर ही ये संस्कार किये जाते हैं। किञ्च—छठें मास में बच्चे का मन सोचने-विचारने के योग्य नहीं रहता है। धीरे-धीरे उस मन को बनाने के उद्देश्य से भी 'अन्न-प्राशन' किया जाता है। मन को बनाने में अन्न साधन है। छान्दोग्य में कहा है 'भुक्त-मन्नं त्रेधा विभजते' अर्थात् खाया हुआ अन्न तीन प्रकार से विभक्त होता है—स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म। स्थूल और मध्यम पुरीष-मांस-मेदोरूप से परिणत होता है किन्तु सूक्ष्म मनोरूप से परिणत होता है। शैशव अवस्था से ही इसके लिए अभ्यास कराते हैं ताकि शुद्ध अन्न का सेवन करता हुआ बच्चा अच्छे मनवाला बन सके। बच्चे का यह संस्कार करने से अभिभावक को भी शुद्ध अन्न के सेवन की प्रेरणा मिलती है। यही परम्परा है।

छान्दोग्य श्रुति के अनुसार यद्यपि मन भौतिक सिद्ध होता है तथापि भौतिक शरीर जैसे आहार के क्रम से बढ़ता है वैसे मन आहार से बढ़ता नहीं, किन्तु सूक्ष्मवस्तुओं के ग्रहण में समर्थ होता है। विचार करने, युक्त-अयुक्त की समीक्षा करने तथा भक्ष्य और अभक्ष्य की विवेचना करने आदि में मन प्रवृत्त होता है। इसे वेद-वेदार्थ, स्मृति और दर्शन मन का आहार मान सकते हैं। मन को एक बन्दर का रूप दे सकते हैं। वह चञ्चल है। चञ्चलता को हटाकर स्थिरता लाने के लिए ही प्राचीनों ने प्रयास कर ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके अर्थ समझ कर यदि हम इन संस्कारों को करें तो उस काल तक मनोनिग्रह होगा ही। हम शैशवावस्था से ही शिशु को बनाते हैं। यही ऋषि-महर्षियों की परम्परा है। ब्राह्मणों ने जाल बिछाया, कहकर हमें इसमें उदासीन भावना नहीं रखनी चाहिए। हमारी प्रवृत्ति देखकर ही बालकों की प्रवृत्ति होती है। अपने पूर्वजों की प्रवृत्ति को देखकर हमारी प्रवृत्ति होनी चाहिए। हम जैसे-तैसे रहें, हमारी सन्तान उचित मार्ग पर चले, यह सोचना संगत नहीं। जैसा कि कहा जा चुका है—पारस्कर-कात्यायन आदि ने परम्परा में विद्यमान आचार-विचारों को स्मृति रूप से प्रणीत किया है। हमारा भी कर्तव्य है कि इसको चलाते रहें और स्वयं उन आचार-विचारों में रहें। हम मानते हैं कि आजकल के यान्त्रिक युग में रहकर इसका आचरण हम नहीं

कर सकेंगे, किन्तु परम्परा का छोड़ना हमारे लिए शोभा नहीं देता है। ये संस्कार सभी नित्य-नैमित्तिक कर्मों में परिगणित हैं। कामना-विशेष के लिए भी विहित होते हैं। कामना-विशेष को छोड़कर नित्य-नैमित्तिक समझ कर हम इसलिए कर सकते हैं कि कामनापूर्वक करने पर सांगोपांग संस्कारों को करना पड़ेगा, नित्य-नैमित्तिक रूप से करने पर 'यथाशक्ति' न्याय को लागू कर हम अनुष्ठान कर सकते हैं। स्वयं समझ कर वेद-मन्त्रों के उच्चारण के साथ करना चाहिए, किन्तु हम वेद पढ़े नहीं तो भी इन क्रियाओं को जानने वालों से, उनकी सहायता से कर सकते हैं। समय न मिलने पर प्रधानमात्र को कर सकेंगे।

प्रत्येक नित्य-नैमित्तिक कर्म में प्रधान और अंग होते हैं। उनमें 'यथाशक्ति' न्याय से कुछ अंगों को छोड़कर हम प्रधानमात्र के लिए समय निकाल कर अनुष्ठान कर सकेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि सामर्थ्य होते हुए भी 'यथाशक्ति' न्याय का आश्रयण करें। विल्कुल असमर्थ व्यक्तियों के लिए ही 'यथाशक्ति' न्याय है। विद्या, धन-सम्पदा, पर्याप्त समय, शारीरिक शक्ति आदि के अभाव माने जा सकते हैं। किन्तु इन कारणों को दूर करना असाध्य नहीं, अपितु दुस्साध्य है। शनैः शनैः दूर कर सकेंगे। अथवा आगे की पीढ़ी को तैयार कर सकेंगे।

अन्नप्राशन का क्रम

शुभ तिथि में चन्द्रवल-तारावल देखकर अच्छे मुहूर्त में वच्चे के साथ माता-पिता भी पूर्वाह्न में मंगलस्नान से निवृत्त होकर धौतवस्त्र-तिलक आदि धारण कर प्रातः सन्ध्या से निवृत्त हो तिथि-वार-नक्षत्रों का संकीर्तन कर—

इमं मम कुमारम् रामशर्माणम् अन्नप्राशनसंस्कारेण संस्करिष्यामि।

इस प्रकार संकल्प करें। अनन्तर विनायकपूजा, मातृकापूजा, नान्दीश्राद्ध, पञ्चभूसंस्कार आदि करके लौकिक अग्नि की प्रतिष्ठा करें। पात्रसादन, ब्रह्मवरण तथा आघाराज्य-भागान्त पूर्वाङ्गों को करना चाहिए। वाद में दो आज्यों की आहुति होती है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टु तै तु स्वाहा॥

इस मन्त्र से प्रथम आहुति कर पुनः इसी मन्त्र को कह कर अन्त में—

वाजो नो अद्य प्रसुवातिदानं वाजो देवां ऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयं स्वाहा॥

इस मन्त्र द्वारा दूसरी आहुति करनी चाहिए।

मन्त्रों का क्रमशः अर्थ है—देवता दैवी वाणी की सृष्टि किये हैं, जिस वाणी का नानारूप के प्राणी व्यवहार करते हैं। वह वाणी हमें अन्न और बल प्रदान करे, धेनु के समान वाणी अन्न और बल को दुहती हुई स्तुति करने वाले मेरे पास आवे। हे वाणि! आज हमें उस अन्न को दो जिसे हम दूसरों को दे सकें। देवता ऋतुओं के अनुसार अन्न

को पैदा करते हैं। हमलोगों को अन्न ही वलवान् बनाता है, जिससे हम वाजपति बनकर सभी दिशाओं में विजय प्राप्त कर सकें।

इसके बाद चरु की चार आहुतियाँ इन मन्त्रों से करनी चाहिए—प्राणेनान्नमशीय स्वाहा, अपानेन गन्धानशीय स्वाहा, चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा, श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा। पुनः स्विष्टकृत् होम करना चाहिए। उत्तराङ्गों का अनुष्ठान करके होम किये हुए अन्न को दही, मधु और घृत में मिलाकर वच्चे को एक वार खिलाना चाहिए। इसके लिए विशेष मन्त्र नहीं है। शाखान्तर में—

भूरपान्त्वौषधीनां रसं प्राशयामि शिवास्ते आप ओषधयस्सन्तु अनमीवास्ते आप ओषधयस्सन्तु रामशर्मन्।

इस प्रकार 'भूः,भुवः, सुवः, भूर्भुवस्सुवः 'व्याहृतियों को लगाकर चार मन्त्रों का उच्चारण कर मन्त्र के अन्त में एक बार दधि-मधु-घृतमिश्रित अन्न को खिलाते हैं। अन्नप्राशन—अन्न खिलाना ही मुख्य कर्म है। उस अन्न को हवन से संस्कृत करके वच्चे का संस्कार किया जाता है। पारस्कराचार्य के मत में और आपस्तंब आदि आचार्यों के मत में चरु-अन्न को मन्त्र से अभिमन्त्रित कर उससे वच्चे का संस्कार किया जाता है। दधि-मधु-घृत का मिलाना दोनों ओर समान है। यह संस्कार पूरे भारतमें एकसमान है। इस संस्कार का तात्पर्य है—

नवद्वारपुरेऽस्मिन् वै आयुः स्रवति सन्ततम्।
तिष्ठतीत्यद्भुतं तत्र गच्छतीति किमद्भुतम्॥

परमात्मा के वैचित्र्य का यह संस्कार स्मरण कराता है—'प्रत्येक मानव की प्राणवायु के निर्गमन के लिए नौ द्वार वने हुए हैं। उन द्वारों में प्राणवायु के निरन्तर संचरित होते हुए भी चमत्कार यह है कि इस शरीर के द्वारों से बाहर न निकल कर ठहर जाती है। छेद रहते हुए भी वायु का वाहर न निकलना अद्भुत है। निकल जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है।' इसे अनुभूत होने पर भी मानव का कुछ कर्तव्य होता है। उसी को यह मन्त्र प्रदर्शित करता है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द ये पाँच भूतों के असाधारण गुण हैं। इन गुणों के ग्रहण के लिए असाधारण साधन इन्द्रियाँ बनी हुई हैं। इनके द्वार निरन्तर खुले हुए हैं, जब चाहें तब बाहर निकल सकते हैं। इनके साथ प्राणवायु भी निकल सकती है। उसे रोक रखना मानव के प्रयत्नाधीन है। वह प्रयत्न प्रथमतः इन्द्रियों में होना चाहिए। अर्थात् इन्द्रियों को बाहर निकलने से रोकना चाहिए। इसी को जितेन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियों को जीतना साधारण कार्य नहीं है। इन्द्रियों को जीतने के लिए इन्द्रियों के विषय रूप-रस-गन्ध आदि से अलगाव अपेक्षित है। हमारी विषयों की ओर प्रवृत्ति को देखकर इन्द्रियाँ हमें अपनी ओर खींच लेती हैं। पाँचों ही बाह्य इन्द्रियाँ मनोयोग के बिना अपने कार्य में अक्षम हैं। अतः इन्द्रियों के वश में न आने के लिए मनका नियन्त्रण आवश्यक है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।

अर्थात् मन से ही संसार-बन्धन होता है और वही मोक्ष के लिए भी साधन है।

मन के नियन्त्रण के लिए ही छोटा-सा यह अन्नप्राशान संस्कार प्रवर्तित किया गया है। पहले माता का दूध ही आहार था, अब शरीर के अवयवों की वृद्धि के साथ साधु कर्मों में प्रवृत्ति के योग्य मन को तैयार करने के लिए मन्त्रपूत शुद्ध अन्न प्रथम-प्रथम दिया जाता है। जैसे वोये हुए बीज के अंकुरित होने पर अंकुर की वृद्धि के लिए समुचित सिञ्चन आदि करते हैं, उसी प्रकार यह अन्न-प्राशन संस्कार है। किन्तु भेद यह है कि कृषि मात्र दृष्ट प्रयोजन वाली है जबकि यह दृष्ट प्रयोजन के साथ अदृष्ट प्रयोजन वाला भी है। क्योंकि भूः, भुवः, स्वः इन तीन व्याहृति मन्त्रोंसे यह अन्न संस्कृत होकर वच्चे के पेट में जाता है और इन तीन व्याहृति मन्त्रोंके अग्नि-वायु-सूर्य देवता हैं। ये क्रमशः पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्षस्थान और द्युस्थान के माने गये हैं। अत एव—

भूरिति वा अयं लोकः, भुव इत्यन्तरिक्षम्, स्व इत्यसौ लोकः।

इस प्रमाण से चतुर्मुख ब्रह्मा जी ने इन व्याहृति-मन्त्रों से तीनों लोकों की सृष्टि किया। इससे ज्ञात होता है कि इन व्याहृति-मन्त्रों में सर्जन-शक्ति विद्यमान है। जिस वच्चे को इन तीनों व्याहृति-मन्त्रों से अभिमन्त्रित अन्न का प्राशन कराते हैं वह भविष्य में नाना प्रकार के पदार्थों के सर्जन करने की योग्यता प्राप्त कर सके। यद्यपि वह योग्यता पढ़ने-लिखने से ही प्राप्त हो सकेगी, तथापि उस कार्य में प्रवृत्त होने के लिए वैसा मन भी तो चाहिए। उस मन के निर्माण-हेतु यह अन्नप्राशन संस्कार किया जाता है।

धर्म और संस्कृति

जातकर्म, नाम-करण, अन्न-प्राशन आदि संस्कारों का जो स्वरूप सूत्रकार ने वतलाया है वह भारतीय संस्कृति का द्योतक है। धर्मवुद्धि से इन संस्कारों का अनुष्ठान करने पर ये धर्म वन जाते हैं। यदि परम्परागत कर्तव्यवुद्धि से अनुष्ठान करते हों तो ये संस्कृति वन जाते हैं। भावनात्मक इस जगत् में जिस भावना से जो किया जाता है वह उस रूपमें परिणत हो जाता है—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि दोनों प्रकार की वुद्धि हमारे लिए ग्राह्य ही है किन्तु अन्तर यह है कि जो-जो धर्म है वह संस्कृति है, जो-जो संस्कृति है वह धर्म नहीं है। धर्म अन्तरंग होता है, संस्कृति वहिरंग है। संस्कृति वहिरंग होकर अन्तरंग धर्म की अभिव्यञ्जक वनती है। अत एव दोनों का वाध्य-वाधक भाव नहीं है। शास्त्र जैसे कहता है, उस रूप से अनुष्ठान करना धर्म कहलाता है। धर्म का आचरण करते हुए परम्परा को न छोड़ना संस्कृति है। जैसे कि दिन और रात्रि के सन्धि-काल में सन्ध्या का विधान है। सन्ध्या का आचरण करते हुए शुद्ध रहकर परम्परागत भस्म-चन्दन-मृत्तिका आदि पुण्ड्र धारण करना संस्कृति है। ललाट में कुछ धारण किये विना भारतीय सन्ध्या आदि नहीं करते हैं। यह पुण्ड्रधारण-संस्कृति सन्ध्यारूपी धर्म की अभिव्यञ्जक वन जाती है। व्याप्ति वतलायी गयी है कि जहाँ-जहाँ धर्म है वहाँ-वहाँ संस्कृति है। अभिव्यञ्जक वस्तु के न रहने पर वस्तु की अभिव्यक्ति संभव नहीं। कहने का तात्पर्य है कि धर्म और संस्कृति

एक दूसर के पूरक बनकर चलते हैं। संस्कृति के लिए विधि-विधान की अपेक्षा नहीं होती है, परंपरा से ही अनुष्ठान हो जाता है, धर्म के लिए तो विधि-विधान की अपेक्षा है। धर्म हमारा धारक है, संस्कृति हमारी परम्परा की सूचक है। हम परम्परा के सूचक मात्र का आश्रय कर धर्म को छोड़ देते हैं। धर्म लिपि-निवद्ध होने से सदा जीवित रहता है, संस्कृति के वैसा न होने से कभी वदल जाने का अवसर रहता है। धर्म अनुशासनात्मक है तो संस्कृति उसकी प्रेरक है। इस प्रकार दोनों ही एक-दूसरे के साथ पोष्य-पोषक रूप संवन्ध रखने वाले हैं।

वेदों, सूत्रग्रन्थों और स्मृतिग्रन्थों में विहित सभी संस्कारों के प्रयोग—अनुष्ठान के लिए काल और देश को अंग माना गया है। देश और काल प्रयोगान्वयी अंग हैं। प्रधान कर्म के द्वारा फलप्राप्ति हेतु अंगों में भी दृष्टि रखना आवश्यक है। जिस प्रकार खेती से अन्न उत्पादन करने हेतु हमें काल और देश की ओर ध्यान देना होता है उसी प्रकार शिशु के मन उत्पादन हेतु अन्नप्राशन के लिए काल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। प्रधान अन्नप्राशन के अंग काल का उतना ही महत्त्व है जितना प्रधान का। प्रधान अन्नप्राशन के विषय में सूत्रकारों एवं स्मृतिकारों में वैमत्य नहीं है। यह संस्कार अनुष्ठेय ही है किन्तु उसके प्रयोग–अनुष्ठान एवं प्रयोगान्वयी अंगों में विभिन्नता देखी जाती है। इससे अनुष्ठाता लोगों में संशय होना स्वाभाविक है—किस सूत्रकार या स्मृतिकार की उक्ति मानी जाय? और किस उक्ति को त्यागा जाय? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए शास्त्रीय दृष्टि से विचार आवश्यक है। अपने मनमानी निश्चय करने पर अप्रामाण्य वुद्धि से कलह को मौका मिल जायगा। समन्वय दृष्टि द्वारा विचार कर निश्चय करने के लिए ही मीमांसा शास्त्र का उद्भव हुआ है। मीमांसा शास्त्र के हृदय तक पहुँचने के पूर्व कतिपय विषयों को जानना आवश्यक है।

वेदरूपी महान् वटवृक्ष हिमालय से कन्याकुमारी तक और पूर्व से पश्चिम तक शाखा-उपशाखाओं से व्याप्त है। अपनी शाखाएँ एवं उपशाखाएँ आश्रित जनवर्ग को छाया देकर संरक्षण देती थीं। जनवर्ग भी उन शाखारूपी वेदभाग का अध्ययन-अध्यापन करता हुआ उसे जीवित रखता था। उन दिनों सूत्र या स्मृति-ग्रन्थों के विना ही परम्परागत रीति से संस्कारों का अनुष्ठान करते थे। जव इसमें शैथिल्य होने लगा तव महर्षियों ने अनुष्ठाताओं के स्मरण के लिए उन्हीं परम्परागत रीतियों को लिपिनिवद्ध कर सूत्र एवं स्मृतियों का प्रणयन किया। वे छः वेदांग शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-ज्योतिष और छन्द के रूप में जनवर्ग के सामने आये। जव से इन छः वेदांगों का निर्माण हुआ तव से मूल वेद एवं शाखाओं के अध्ययन से धीरे-धीरे हटने लगे। अथवा—भविष्य में जनवर्ग वेद-शाखाध्ययन से विमुख हों, ऐसा जानकर इन छः अंगों का आविष्कार किया गया। प्रथमतः परम्परागत अंगों सहित ही वेदाध्ययन होता था किन्तु लोगों के वैमुख्य को देखकर अंगों को लिपिबद्ध किया गया क्योंकि यदि अंग बचे रहेंगे तो कभी-न-कभी अंगी का उपकार कर सकेंगे।

'लिपिबद्ध होने के अनन्तर ही यथाविधि वेदशाखाओं का अध्ययन चालू हुआ, उसके पूर्व अध्ययन ही नहीं होता था या नियम के विना अनियम से वेदशाखाओं का अध्ययन

होता था', यह कल्पना अनुचित है। हमारे पूर्वज कुछ काल तक संस्कार-विहीन थे, अशिक्षित थे, नियम विरुद्ध आचरण करते थे; यह कदापि संभव नहीं है। मीमांसा के स्मृत्यधिकरण का व्याघात होगा। स्मृत्यधिकरण (पू० मी० १-३-१) में मूलभूत श्रुतिवाक्य के रहते हुए महर्षियों ने 'स्मृतिग्रन्थों का क्यों प्रणयन किया ?' यह प्रश्न उठाकर मीमांसकों ने यह सिद्ध किया है कि वेदशाखाओं के अध्ययन-अध्यापन में आलस्य या पुरुष-प्रमाद जब होने लगा तब महर्षियों ने परम्परागत वेदसम्बन्धी नियमों के स्मरणार्थ स्मृति-व्याकरण आदि को लिपिबद्ध कर दिया। अत एव इन स्मृतियों के मूल वेदवाक्य न मिलने पर उनका प्रामाण्य अनुमिति श्रुति द्वारा मानना चाहिए। अतः स्मृति का प्रणयन व्यर्थ नहीं होगा। यही हमारी परम्परागत संस्कृति है। यद्यपि अन्नप्राशन संस्कार में देश-प्रान्त के भेद से विभिन्नता देखी जाती है तथापि यह शाखा के भेद से चली आयी है। होलाकाधिकरण न्याय से सभी का प्रामाण्य सिद्ध है। एवञ्च अन्नप्राशन विधि-विहित मानकर करने पर धर्म बन जाता है, परम्परागत मानकर अनुष्ठान करने पर संस्कृति हो जाती है। यदि पिता पुत्र के लिए विविध प्रकार के फल की कामना करता हो तो पारस्कराचार्य ने नानाविध पक्षिमांस को भी अन्नप्राशन संस्कार में खिलाने का प्रकार बतलाया है। यह काम्य है, इच्छा होने पर कर सकते हैं अथवा छोड़ भी सकते हैं। आपस्तम्ब-आश्वलायन आदि ने दधि-मधु-घृत से मिले हुए अन्न-भात को ही खिलाने के लिए लिखा है।



चूडाकर्म

इस संस्कार को चौलकर्म भी कहते हैं। प्रत्येक भारतीय[1] के लिए यह कर्म अनिवार्य मात्र नहीं किन्तु एक प्रकार से भारतीयता का सूचक भी है। इसके विना आगे उपनयन-समावर्तन आदि क्रियाओं में अधिकार नहीं माना जाता है। वर्ण-आश्रम धर्म को मानकर चलने वालों के लिए यह संस्कार आवश्यक है, अत एव अपराधों के दण्डविधान में शिखामुण्डन भी एक दण्ड कहा गया है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र आदि के लिए शिखा मुख्य मानी गयी है। शिखा का रक्षण प्राण-रक्षण के समान है। वस्तुतः शिखा मस्तक प्रदेश के प्राणस्थान की रक्षा करती है, इसलिए उसकी रक्षा में सतत यत्नशील रहना चाहिए। संस्कार दृष्टोपकारक, अदृष्टोपकारक तथा दृष्टादृष्टोपकारक भेद से तीन प्रकार के माने गये हैं। उनमें चौल-संस्कार को दृष्टोपकारक मान सकते हैं। यह प्राणरक्षारूप दृष्ट—प्रत्यक्ष फल को देते हुए उपकारक है। दृष्टफलक कर्मों में नियमविधि मानी जाती है। नियमविधि का तात्पर्य है—विधि जिस फल को प्राप्त करने के लिए जिस साधन का विधान करती है, दूसरे साधन से भी उस फल के प्राप्त हो जाने पर विहित साधन का ही ग्रहण करना। इस प्रकार नियम का फल अदृष्ट हो सकता है। मस्तक के प्राणस्थान का रक्षण टोपी, साफा या हैट आदि के लगाने से भी हो सकता है किन्तु शिखा से ही रक्षण करना चाहिए, यह नियमविधि है। प्राणधारक उस शिखा के रक्षण के निमित्त टोपी या साफा भारतीयों का वेष है। टोपी पहनना, साफा बाँध लेना यह अलंकरण मात्र नहीं, वल्कि शिखा रक्षण के लिए हमारी संस्कृति के अन्तर्गत है।

भारतीय वेष-भूषा आदि से संस्कृति का एवं संस्कृति से धर्म का ज्ञान होता है। वच्चा ब्रह्मस्वरूप को धारण कर ही उत्पन्न होता है, ब्रह्म का न रूप है और न नाम। किन्तु ब्रह्म नाम-रूप धारण कर शिष्टानुग्रह और दुष्टनिग्रह के लिए अवतरित होता है, उसी रूप को बच्चे में लाने के लिए नामकरण-चूडाकर्म आदि संस्कार महर्षियों ने प्रवर्तित किये हैं। नीरूप और निर्गुण ब्रह्म को ही सरूप और सगुण रूप में हम देखते हैं, उसी प्रकार निर्गुण वच्चे को भी जो नामकरण-चूडाकर्म से सगुण और स्वरूप देखते हैं—'आत्मा वै पुत्रनामासि' इस मन्त्र से अपने को पुत्ररूप से देखते हैं। हम चूडाकर्म कराकर उस पुत्र को सगुण ब्रह्म रूप बनाकर स्वयं सगुण ब्रह्म वनते हैं, इस भावना से यह संस्कार किया जाना चाहिए। धीरे-धीरे यही संस्कार आगे चलकर एकात्मकता की चेतना को पैदा करेगा। यदि प्रत्येक व्यक्ति पुत्र में आत्मभावना रखकर संस्कारों को करेगा तो उस आत्मा के एक होने से परिणाम में एकात्मकता की चेतना उत्पन्न होने में क्या वाधा होगी! एक ओर आध्यात्मिक चेतना को और दूसरी ओर व्यावहारिक चेतना को उत्पन्न कराकर यह संस्कार उपादेयतम समझा गया है। हमें व्यावहारिक जगत् में रहना ही है किन्तु भौतिक विज्ञान मात्र से तृप्त न होकर आध्यात्मिक विज्ञान को भी प्राप्त

१—यहाँ सर्वत्र हिन्दू शब्द के स्थान में 'भारतीय' शब्द का प्रयोग किया गया है।

करेने में अग्रसर होना है। यही दृष्टि प्राचीनों की रही है। वे अपनी सन्तति को आत्म-तुल्य समझें, हम भी अपनी सन्तति को आत्म-तुल्य समझकर सांसारिक जगत् में रहेंगे तो क्या विगड़ता है। एकात्मकता की भावना बुरी नहीं है। भेद-बुद्धि रहने पर बुराइयाँहो ती हैं। राग-द्वेष-कलह आदि के निराकरण से जीवन सुखमय होता हो तो उसका अवलम्बन ही मानव का उद्देश्य होना चाहिए। वह इन संस्कारों से सिद्ध हो जाता है। दो-चार दिनों में यह भावना सिद्ध नहीं हो सकती। अत एव प्राचीनों ने शनैः शनैः क्रमशः संस्कारों को वढ़ाया। जैसे कि हम जात शिशु की शरीर वृद्धि के साथ संस्कारों द्वारा आध्यात्मिक चेतना का थोड़ा-थोड़ा अंश जोड़ते जाते हैं, उसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने भी हमें किया होगा। यदि नहीं किया है तो स्मृतिकार हमें स्मरण दिलाकर कराने की प्रेरणा देते हैं। हम विगड़ चुके हैं, हमारी सन्तति क्यों विगड़े? यही स्मृतिकारों का उद्देश्य है।

चूडाकर्म का समय

वच्चे के एक वर्ष पूर्ण होने पर या तीसरे वर्ष के पूर्ण होने से पूर्व चूडाकर्म का मुख्य काल है। वच्चे के जन्म-नक्षत्र से तारावल-चन्द्रवल आदि देखकर शुभ योग के दिन चूडाकर्म करना चाहिए। यदि शुभ दिन का निर्णय स्वयं न कर सकते हों तो अनुभवी वृद्ध या ज्योतिषी के द्वारा दिन और लग्न को जानकर इस कर्म को करना चाहिए। स्मृतियों में उपनयन के साथ जन्म से सातवें-आठवें वर्ष में चूडाकर्म का विधान मिलता है किन्तु वह गौण काल है। क्योंकि यदि किसी कारण मुख्य काल छूट गया हो तो संस्कार ही छूटने न पावे, गौण काल ही सही; इसमें चूडाकरण संस्कार को सम्पन्न होने देना चाहिए।

आज के लोगों की यह धारणा वन गयी है कि एक का गौण काल कहा गया है तो उपनयन को विवाह के साथ कराया जाय। आजकल कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि विवाह के दिन वर के जात कर्म से लेकर उपनयन तक के संस्कार किये जाते हैं। यह एक प्रकार विडम्वना ही है। इससे नवीन लोगों को कहने का अवसर मिल जाता है कि यह सव ब्राह्मणों का विछाया हुआ जाल है। दुर्भाग्य है कि इतना नैतिक पतन हुआ। अतः यह संस्कार वच्चे के एक वर्ष पूर्ण होने पर अथवा तीसरे वर्ष के समाप्त होने से पूर्व सम्पन्न किया जाना चाहिए।

चूडाकर्मविधि

निर्दिष्ट शुभ दिन में वच्चे को मंगल स्नान कराकर धौतवस्त्र पहना कर माता-पिता स्वयं स्नान आदि से शुद्ध होकर धौतवस्त्र धारण करें। माता वच्चे को गोद में लेकर अग्निकुण्ड के पीछे पति के साथ उत्तर भाग में वैठे। पति गणपतिपूजन करके संकल्प करे। लौकिक अग्नि को दीप्त कर तिथि-वार-नक्षत्र आदिका संकीर्तन कर—

अमुकनक्षत्रे अमुकराशौ जातम् अमुकनामानं मम कुमारं चूडाकर्मणा संस्करिष्यामि।

इस प्रकार संकल्प करके गणपति का उद्वासन करे। अनन्तर अग्निसिद्धि के लिए चौदह आहुतियाँ दे। उनमें दो आघार, दो आज्यभाग चार आहुतियाँ होती हैं। अग्निकुण्ड की वायव्य दिशा से आग्नेय दिशापर्यन्त आज्य का ऊर्ध्व और निरन्तर क्षारण करना प्रथम आघार कहलाता है। यह प्रजापति देवतावाला होता है। तत्पश्चात् अग्नि की नैऋत्य दिशा से ईशान दिशा पर्यन्त आज्य का क्षारण द्वितीय आघार कहलाता है। यह इन्द्र देवतावाला होता है। इस आघार-आज्य के क्षारण से अग्नि का मध्य-बिन्दु परिचित होता है। अनन्तर अग्नि और सोम देवता के दो होमों को 'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा' मन्त्र से किया जाता है। ये आज्य भाग कहे जाते हैं। अग्नि के उत्तरार्द्ध-पूर्वार्द्ध में प्रथम होम एवं अग्नि के दक्षिणार्द्ध-पूर्वार्द्ध में दूसरा होम किया जाता है। अनन्तर महाव्याहृतियों से नौ होम और स्विष्टकृत् होम करके ठण्ढे जल में गरम जल मिलाना चाहिए। उसके लिए मन्त्र है—

उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान् वप।

अर्थात् 'हे वायो! उष्ण जल के साथ आओ। हे अदिते! दित अर्थात् खण्डन करने वाला हिंसक, अदिते हिंसा नहीं करने वाले देव! तुम केशान्-बालों को वप-निकालो'। गरम जल को स्वयं लाते हुए भी अपने को वायु देव रूप समझ कर मन्त्र बोला जाता है तथा अपने को अदिति देव समझ कर कहा जाता है। अनन्तर गरम जल से मिले हुए जल में थोड़ा मक्खन या घृत अथवा दही छोड़ना चाहिए। ये साबुन का कार्य करने वाले हैं। आज की साबुन चर्बी-तेल आदि से मिश्रित बनायी जाती है किन्तु पूर्वजों ने साबुन के स्थान में इन शुद्ध वस्तुओं का उपयोग किया। छुरी की धारा से आघात न पहुँचे, इस कार्य को मक्खन आदि कर लेता है। इस जल से पिता बच्चे के दक्षिण भाग के बालों को प्रथम भिगोकर मुलायम बनाता है। भिगोने का मन्त्र है—

सविता प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे।

अर्थात् 'हे कुमार! सूर्य के द्वारा उत्पन्न ये जल तुम्हारी चूडा को कोमल करें। ये जल देवसम्बन्धी हैं और तुम्हारे दीर्घ आयुष्य, तेज और ऐश्वर्य को बढ़ावें।' अनन्तर जंगली सूअर (शाही) के कण्टक से बाल को अलग कर भिगोये हुए बालों में तीन कुशों को रखे। पुनः 'ओषधे त्रायस्व' हे ओषधे-कुश त्रायस्व-बचाओ, कहकर प्रार्थना करे।

याज्ञिक मीमांसकों के सम्प्रदाय में अचेतन होते हुए भी ओषधि को चेतन—जैसा समझ कर सम्बोधित किया जाता है। जब चेतन-अचेतन, चर-अचर सर्वत्र ब्रह्म तत्त्व व्याप्त है तो अचेतन को चेतन समझना दोष नहीं है। पुनः 'शिवो नाम' कहकर छुरी को लेना चाहिए 'तुम मंगलकारी हो' यह मन्त्र का अर्थ है। 'निवर्तयामि' कहकर छुरी को कुशा से अन्तर्हित केशों में रखकर—

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपते दमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथा सत्॥

इस मन्त्र से कुशासहित केश को काटना चाहिए। मन्त्र का अर्थ है—'हे ब्रह्माणः—हे ब्राह्मण जिस छुरी से सविता-सूर्यरूपी पिता सर्वज्ञ होकर सोम और वरुण राजा के (शिरः)—बाल

८

बनाये, उस छुरी से इस कुमार के बालों का आप लोग वपन-मुण्डन करें जिससे यह बालक दीर्घायु हो और हृष्ट-पुष्ट हो।' इस प्रकार बालों को काटकर कुश-सहित केशों को अपने उत्तर भाग में रखे गये गोमय में डाल देना चाहिए। इस प्रकार विना मन्त्र के दो-बार करना चाहिए। अनन्तर पश्चिम भाग में गोदान (शिखा) को भिगोकर 'त्र्या-मुषम्' मन्त्र से एवं उत्तर भाग के गोदान (शिखा) का 'येन भूः' मन्त्र से छेदन कर गोमय में डाल देना चाहिए। उसके लिए मन्त्र है—

येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम्।
तेन ते वपामि ब्रह्मणे जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये॥

अर्थात् 'हे कुमार ! जिस मन्त्र से सर्वत्र बहुत समय तक संचरणशील प्रचुर वायु द्युलोक के चारों ओर एवं सूर्य के चारों ओर सञ्चरणशील है, उस मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित छुरी से जीवन के आधारभूत धर्मानुष्ठान एवं अच्छे यश और कल्याण के लिए तुम्हारे बालों का वपन करता हूँ।' इस प्रकार बोलकर छुरी से शिर की तीन बार परिक्रमा—प्रदक्षिणा कराकर जल से शिर को कोमल करें। पुनः 'हे नापित ! जिस तरह घाव न हो शिखा की रक्षा करते हुए बाल बनाओ' यह कह कर उसे छुरी दे देना चाहिए। अपनी परम्परागत रीति से शिखाकर्म करके केशों को गोमय-पिण्ड में रखकर उसे किसी गोष्ठ में या तालाब के किनारे रखकर आचार्य को वर-गो का दान देना चाहिए। तत्पश्चात् बालक को नहला कर परम्परानुसार तिलक लगावे तथा नया वस्त्र पहनावे।

विशेष

शाखा के भेद से परम्परागत सम्प्रदाय को अक्षुण्ण रखने हेतु तत्तत् शाखाध्यायी महर्षियों ने धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र एवं श्रौतसूत्रों का प्रणयन किया है। इन सूत्रों के प्रणयन के बाद ही धर्मज्ञान गृह्य संस्कारों का ज्ञान एवं श्रौत कर्मकाण्ड का ज्ञान प्राचीनों को हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। ये सभी ग्रन्थ सामाजिक लोगों के स्मरणार्थ निर्मित हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। सभी सूत्रकार ब्राह्मणभागों में निर्दिष्ट क्रम से आधारित श्रौत कर्मकाण्ड का निरूपण करते हुए क्रम और प्रकार में भिन्नता को दिखलाते हैं किन्तु मूल वेद तो तुल्य है। वे ही मन्त्र हैं और उनका अर्थ भी एक ही है। सम्प्रदाय से आयी हुई विशेषता को उल्लखित करते हैं। जहाँ तक हो आज तक श्रौत कर्मकाण्ड में विशेष परिवर्तन नहीं आया है। धर्म और गृह्य संस्कारों के मूल वेद होते हुए भी ब्राह्मणभागों में विशेष रूप से उल्लेख न रहने पर भी परम्परागत आचारों का स्मरण कर धर्म और गृह्यसूत्रों का निर्माण किये हैं। इनमें कुछ परिवर्तन अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। ये परिवर्तन भी स्वेच्छापूर्वक नहीं हैं किन्तु देश-काल-आचार भेद के कारण हैं। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर ये परिवर्तन व्यवस्थित विकल्प में पर्यवसन्न हो जाते हैं। व्यवस्थित विकल्प मान लेने पर किसी को किसी में अप्रामाण्य बुद्धि का अवसर नहीं मिलेगा। अप्रामाण्य सिद्ध करने के लिए हेतु को दिखलाना पड़ता है। स्मृतिकारों के ग्रन्थों में अप्रामाण्य-बुद्धि तभी हो सकती है जब उसके विरुद्ध वेद का वाक्य उपलब्ध

हो या लोभ आदि प्रवल निश्चित हेतु उपलब्ध हों। लोभ आदि से भी अप्रामाण्य का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि विप्रकीर्ण नाना शाखाओं से कदाचित् उस स्मृति के मूलभूत वेद वाक्य के मिलने की संभावना रहती है। अतः मीमांसकों ने यह व्यवस्था दी है कि मूलभूत श्रुतिवाक्य के मिलने तक अननुष्ठानलक्षण अप्रामाण्य मानो। अर्थात् तव तक इस स्मृत्यर्थ का आचरण न करो जव तक इसका मूल उपलब्ध नहीं होता हो। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय परम्परा में वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार जो भी सम्प्रदाय हो उसको हेयदृष्टि से नहीं देखना चाहिए। सभी सर्वत्र आदरभाव रखते हैं। इनमें आपसी टकराव तव होता है जव अपने मत या सम्प्रदाय को वढ़ावा देने लगते हैं। वढ़ावा देने के समय अन्य मत या सम्प्रदाय को नीचा दिखलाना होता हो तो कलह का स्थान वन जाता है, किन्तु मीमांसकों ने 'नहि निन्दा' न्याय को प्रवर्तित कर इसका भी समाधान ढूढ़ निकाला है—

नहि निन्दा निन्दितुं प्रवृत्ता अपि तु स्तुत्यं स्तोतुम् ।

यह न्याय है। पशुओं में गाय और घोड़ा प्रशस्त हैं। इसके प्राशस्त्य को निरूपित करते हुए इतर पशुओं के पशुत्व का ही अपलाप कर देने से गाय और घोड़े का प्राशस्त्य सिद्ध होता है, निन्दा में तात्पर्य नहीं—

अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः गो अश्वाः पशवः ।

'नहि निन्दा' न्याय से समन्वय दृष्टि रखने पर कोई कलह नहीं। इसलिए संस्कारों की प्रक्रिया में कहीं-कहीं भिन्नता मालूम पड़ने पर भी अपनी परम्परा से सिद्ध प्रक्रिया को ग्रहण करना उचित है। उसी परम्परा का आश्रय कर ही गृह्य-सूत्रकार प्रवृत्त हैं। एवञ्च, यह चूडाकर्म संस्कार दृष्ट प्रयोजनवाला होता हुआ नियमजन्य अदृष्ट फलवाला भी माना जाता है।

चूडाकर्म से आयुवृद्धि

इस संस्कार में प्रयुक्त मन्त्रों द्वारा आयुष्य वृद्धि की वात प्रतिपादित है। क्या चूडा कर्म और आयु का कोई संबन्ध है? विचार करने पर प्रतीत होता है कि वच्चे के पैदा होने पर उसके मस्तक के बीच में अत्यन्त कोमल भाग देखा जाता है। यही मानव का प्राणस्थान है। यहाँ चोट लगने पर मनुष्य वच नहीं सकता। योगी लोग इसी भाग को ब्रह्म-रन्ध्र कहते हैं। इसी भाग से सिद्ध पुरुष प्राणोत्सर्ग भी कर लेते हैं। अत एव सन्यासी लोगों का देहान्त हो जाने पर मस्तक के इस भाग में नारियल फोड़कर कुछ चोट करते हैं। अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्राण निकला, यह प्रतीत हो। अतः यह भाग मनुष्य के लिए मुख्य माना जाता है। अत एव शिर को उत्तमांग कहा जाता है। इस स्थान की रक्षा के लिए ही प्राचीनों ने चूडाकर्म संकार वतलाया है। धर्मशास्त्रों में वर्णित है कि गो या अश्व के खुर इतनी शिखा होनी चाहिए। इतनी शिखा रखने से वह भाग ढँक जाता है। अत एव इस कर्म के साथ आयुष्य-सम्बन्ध प्रतीत होता है। अचेतन यन्त्र को वनाने वाले यन्त्र वनाकर हमें देते हैं, हम उसके रक्षण में सावधान रहते हैं, उसी प्रकार यन्त्र वनाने वाले परमेश्वर इस अचेतन शरीर रूपी यन्त्र को वनाकर उसमें चेतन-जीव का प्रवेश कर हमें

दिये हैं। हम उसके रक्षण में जागरूक रहने के निमित्त ही परमात्मा के श्वास-निःश्वास रूप वेद मन्त्र द्वारा प्रार्थना करते हुए इस संकार को करते हैं। इस रहस्य से विदित होकर गृह्य सूत्रकार इस चूडाकर्म का स्मरण कराते हैं।

मानव जन्म के प्रति शुक्र-शोणित का संसर्ग निमित्त तो है किन्तु शरीर रूपी यन्त्र बनने का कारणान्तर मानना पड़ेगा। परमात्मा को छोड़कर वह कारण क्या हो सकता है? कर्मफल से शरीर बनता है यह शास्त्रों में वर्णित है। यह सत्य है, किन्तु जड़भूत कर्म भी निमित्त ही हैं। अतः एक चेतन को कारग मानना पड़ता है। वही चेतन परमात्मा है। अपने कर्मफल के अनुसार सुख तथा दुःख का उपभोग होगा, यह समझ कर मानव उदासीन न रहे इस उद्देश्य से वेदों द्वारा परमेश्वर हमें इन संस्कारों के अनुष्ठान में प्रेरित करते हैं। मानव के यत्न के विना परमेश्वर स्वयं कुछ नहीं करेगा। बच्चा शैशव अवस्था में स्वयं कुछ नहीं कर पाता है। अतः पिता अपने बच्चे का उचित समय पर उचित संस्कार करता है। माता-पिता का अपने बच्चों में जैसा प्रेम-सूत्र बँधा रहता हैं उससे अधिक प्रेम जगत्पिता परमेश्वर का प्राणियों में रहता है। अत एव पवित्र वेदवाणी का आविष्कार कराकर उसके माध्यम से संस्कार करने की प्रेरणा देते हैं। अतः समय पर चूडासंस्कार भारतीय के लिए अनिवार्य समझा गया।

कर्णवेध

इस संस्कार का सभी गृह्य सूत्रकारों ने उल्लेख नहीं किया है, किन्तु हमारे देश के सभी परिवारों में प्रचलित है। बच्चे की प्रथम सालिग्रह-अव्दपूर्ति होने पर चूडाकर्म के साथ उसी दिन अच्छी लग्न देखकर बच्चे को वस्त्र-आभूषण आदि से अलंकृत कर माता अपनी गोद में बैठा लेती है। गाँव के स्वर्णकार या वैद्य को बुलाकर स्वर्ण की शलाका से दाहिने कान को पहले और बाँयें कान को वाद में वेधकर शलाका को मोड़ देते हैं। यह संस्कार अत्यावश्यक समझा जाता है। चूडा-शिखा जैसे गोत्र के चिह्न के रूप में रक्खी जाती है उसी प्रकार कर्णवेध-कर्णाभरण चिह्न है। गाँव की स्त्रियाँ गाना बजाना आदि मांगलिक कार्यक्रम प्रस्तुत कर उत्सव मनाती हैं। कर्णाभरण पहनने से सौन्दर्य तो बढ़ता ही है, साथ ही भविष्य में वैदिकत्व का भी यह द्योतक बन जाता है। यह बच्चा बड़ा होकर उपनयन-विवाह आदि से संस्कृत होकर समय आनेपर श्रौतयाग करते हुए 'वाजपेय' नामक याग जब करेगा तब लोग इसको छत्र-चामर-कुण्डल आदि से विभूषित करते हैं। कुण्डल को वही पहन सकता है जो वाजपेययाजी है। आजकल भी 'वाजपेयी' नाम के परिवार विद्यमान हैं। जब कर्णभेद नहीं हुआ रहता तो वाजपेय-यागानन्तर कुण्डल धारण कैसे हो सकता। इससे यह पता लगता है कि कर्णवेध बाल्य अवस्था में किया जाना चाहिए। पारस्कर गृह्यसूत्र के परिशिष्ट में इसका उल्लेख है। यह कर्णवेध कन्या का भी होता है। सभी गृह्यसूत्रों में उल्लेख न होने पर भी स्मृति ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है और वर्णभेद से सूई का भेद भी कहा गया है। चिकित्सा-ग्रन्थों में भी कर्ण-वेध का प्रसंग उल्लिखित है।

वाल्मीकि रामायण में युद्धकाण्ड के कुंभकर्ण-वध-प्रसंग में एक पद्य आता है—

कुम्भकर्ण शिरो भाति कुण्डलालंकृतं महत्

भगवान् रामचन्द्र कुम्भकर्ण के हाथ-पैर काट दिये हैं तथापि अपने कबन्ध मात्र से वानर सेना के साथ कुम्भकर्ण लड़ रहा है। उसके शिर का वर्णन कर रहे हैं—'कुण्डलालङ्कृतं महत्'। इससे सिद्ध होता है कि युग-युगान्तर से कर्णवेध संस्कार रहा है। प्राचीन शिल्प-कला में देखते हैं कि शास्त्र ज्ञाता शिल्पी देव-देवियों की मूर्ति बनाता हुआ सूक्ष्म रूप से कर्णवेध कर शिल्प की रचना करता है। कान की तरह कन्याओं की नासिका का भी छेदन करते हैं, आभूषण धारण करने के लिए। यद्यपि कुछ लोग नासिका के छेदन को मुसलमानों की संस्कृति कहते हैं किन्तु प्राचीन देवी के शिल्प में नासिका का छेदन एवं देवी के वर्णन पर ग्रन्थों में 'नासिकाभरणभूषिता' मिलता है।

कपोलयुगलीनृत्यत्कर्णताटङ्कशोभिताम्

पुरुषों का कर्णाभरण 'कुण्डल' शब्द से तथा देवी का कर्णाभरण 'ताटङ्क' शब्द से व्यवहृत मिलता है। नासिका का छेदन-मुसलमानों की संस्कृति भारतीयों में आयी ऐसा मानने पर

प्रश्न उठता है कि कर्णवेध मुसलमानों में नहीं होता है तो उसका प्रभाव हममें क्यों नहीं हुआ ? अतः कर्णवेध नासिका-वेध प्राचीन काल से चला आ रहा है। गृह्य सूत्रकार सभी संस्कृतियों को लिपिबद्ध नहीं करते हैं। अत एव आपस्तम्बाचार्य अपने धर्मसूत्र के अन्त में—

शेषं सर्ववर्णाभ्यः स्त्रीभ्यः प्रतीयेत

सभी वर्णों की वृद्ध नारियों से जानना चाहिए, कहकर अपने ग्रन्थ को समाप्त करते हैं। धर्म और संस्कृतियों में जितना पुरुषों का ज्ञान रहा है, उतना ही भारतीय नारीगण का भी। क्योंकि प्रत्येक कुल के प्रत्येक परिवार में विभिन्न सम्प्रदाय के लोग इन संस्कारों का यथानियम अनुष्ठान करते थे। एक-एक परिवार के स्त्री-पुरुष अन्य परिवार के साथ मिलकर उत्सव मनाते थे। अत एव विभिन्न रीति-रिवाजों से परिचय प्राप्त कर प्रत्येक मानव सूक्ष्म विषय का ज्ञान रखता था। यही हमारे भारतीय समाज की एकात्मकता रही है। एक गाँव में दूसरे गाँव के बन्धु-बान्धवों और मित्रगणों का निमन्त्रण प्राप्त होने पर अवश्य सम्मिलित होकर उत्सव की शोभा बढ़ाते थे। आपस में मिलकर आत्मीयता को बढ़ाने के उद्देश्य से ही ये संस्कार प्रवर्तित किये गये हैं।

विद्यारम्भ

बच्चे के पाँचवें वर्ष में विद्यारम्भ संस्कार किया जाता है। चूडासंस्कार समाप्त होते ही बच्चे के माता-पिता 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त अक्षरों और संख्या के उच्चारण सिखाते थे। तदनन्तर तिथि-वार-नक्षत्र-योग-करण रूपी पाँचों अंगों और प्रभव-विभव आदि साठ संवत्सरों के नाम, ऋतु-अयन-मास आदि का उच्चारण सिखलाया जाता था। बच्चे के अव्यक्त उच्चारण से घर के लोग आनन्दित होते थे। गाँव में प्रत्येक घर में यह रीति चलती थी। पाँचवें वर्ष के आरम्भ होते ही गाँव के शिक्षित वृद्ध को बुलाकर अच्छे दिन-नक्षत्र में अक्षरारम्भ कराया जाता था। अक्षरारम्भ के समय—

सरस्वति! नमस्तुभ्यं वरदे कामरूपिणि।
विद्यारम्भं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा॥

इस श्लोक को सिखाकर 'ओं नमो नारायणाय सिद्धम्' कहलाकर बालू या फलक में अक्षर लिखकर सिखाते हैं। इसी क्रम से सभी वर्णमाला सिखायी जाती है। वर्णोच्चारण में सावधानी का बर्ताव किया जाता था। यह क्रिया सभी भाषा-भाषियों में चलती थी। अति प्राचीन काल में श्रवणेन्द्रिय के द्वारा ही विद्याभ्यास होता था, अनुमान से लिपिकाल का भले ही निर्द्धारण करें किन्तु शिक्षा श्रवण और उच्चारण से होती थी। अर्थात् शिक्षा से विहीन समय भारत में नहीं था। वास्तव रूप से विद्या का आरम्भ उपनयन संस्कार के अनन्तर आनेवाली श्रावणी पूर्णिमा-उपाकर्म के दिन ही होता है। 'उपाकर्म' शब्द का अर्थ ही है आरम्भ। किन्तु उससे पूर्व व्यवहार के जितने आवश्यक शब्द हैं उनको सिखाना भी परम्परागत है। प्रतिभाशाली बच्चे अपनी माँ या पितामही आदि से विद्यारम्भ संस्कार के दिन से ही सीखते रहे हैं।

विद्यारम्भ संस्कार को ही अक्षरारम्भ संस्कार भी कहते हैं। 'न क्षरतीत्यक्षरम्' जो नश्वर नहीं है, वह अक्षर है। वह परमात्मा ही है। परमात्मा का आरम्भ-समझने का आरम्भ किया जाता है। आरम्भ करने वाला पिता हो या गुरु वह 'ओं नमो नारायणाय सिद्धम्' सर्व प्रथम यह सिखलाता है। यह अष्टाक्षरी मन्त्र कहा जाता है। सरस्वती-वन्दना वाले पद्य में 'सिद्धिर्भवतु मे सदा' कहकर 'सिद्धि' की प्रार्थना की गयी। अनन्तर अष्टाक्षरी मन्त्र कहकर 'सिद्धम्' कहा जाता है। इसका यह तात्पर्य है कि हमारी परम्परा में अक्षरारम्भ के दिन से ही बच्चे में एकात्मकता की चेतना उत्पन्न करते हैं—

नरस्य सम्बन्धीनि नाराणि तत्त्वानि तान्ययनं-स्थानं यस्य स नारायणः

इस व्युत्पत्ति से नारायण शब्द का अर्थ है मानवीय तत्वों का स्थान जो हो वह नारायण है।

नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।
तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

पुराण के इस प्रमाण से परमात्मा और मानव तत्त्वों का ऐक्य प्रतिपादित है। इस एकता को समझ कर उस परमात्मा को नमस्कार करने पर भविष्य 'सिद्ध' हो जाता है। बच्चा इतने अर्थ को समझने की शक्ति नहीं रखता तथापि गुरु-पिता का उपदेश कालान्तर उस शक्ति को पैदा कर देता है। अथवा 'नारा' शब्द जलवाची है।—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
तस्य तास्त्वयनं पूर्वं तेन नारायण स्मृतः॥

इस व्युत्पत्ति से आपः—जलतत्त्व की सृष्टि कर उसी को अपना स्थान बना लिया है।

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्

इस तत्त्व के उपदेश से बच्चे का उद्यम सिद्ध हो जाता है, यह चिरन्तन धारणा है। अच्छे शुभ दिन में बच्चे को मंगल-स्नान कराकर परम्परागत तिलक देकर वस्त्रों से विभूषित करे। पुनः गणेश-पूजन करते हुए पिता या गाँव के अनुभवी वृद्ध द्वारा पूर्वोक्त सरस्वती-विद्याधिष्ठात्री देवी की वन्दना कहलाकर 'ओं नमो नारायणाय सिद्धम्' इस मन्त्र के उपदेश द्वारा अक्षरारम्भ कराया जाता है। स्मृतिकार इस संस्कार का विशद रूप से वर्णन किये हैं। यह क्रम भारत में चिरकाल से चला आ रहा है।

उपनयन

संस्कारों में उपनयन का स्थान विशेष महत्त्व रखता है। मानव-जीवन को सुखमय एवं मंगलमय विताने के लिए यह प्रथम सोपान है। शिक्षाग्रहण करने का यही योग्य समय है। जो व्यक्ति इस समय विहित नियमों का पालन करता हुआ शिक्षित हो जाता है वह समाज का मार्गदर्शक वन जाता है। 'उपनयन' शब्द का अर्थ है—समीप में ले जाना। किसके समीप ?, आचार्य के समीप। जन्मकाल से वच्चा माता-पिता एवं बन्धुओं के साथ रहकर आज आचार्य के समीप ले जाया जाता है। माता-पिता के द्वारा भौतिक शरीर का जन्म हुआ, आज उपनयन से दूसरा जन्म होने वाला है। संस्कार होने के वाद यह कुमार 'द्विज' वनता है। संसार में 'द्विज' तीन होते हैं—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, दाँत और अण्डज पक्षी। हम सचमुच जरायुज हैं तो भी अण्डजों के समान ही हैं। विशेषता यह है कि हम योग्यता पाने पर ब्राह्मण्ड में विचरण कर सकते हैं किन्तु अण्डज सीमित अवकाश (आकाश) ही में विचरण कर सकते हैं। पक्षी समय पर अपने अण्डों को फोड़कर बच्चों को वाहर लाता है, तो आचार्य ऐसा सामर्थ्य देता है जिससे उस रहस्य को जान कर हम शाश्वत सुख का अनुभव कर सकें। इसी आशय से 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' यह श्रुति प्रवृत्त हुई है। इस महाफल को प्राप्त करने के लिए यह उपनयन संस्कार द्वार है। महल में पहुँचने के लिए क्रमशः सोपान-सीढ़ियों पर चढ़ना होगा। यह इन्द्रजाल विद्या नहीं जिससे हम शीघ्र ही फल को प्राप्त कर सकें। अथक परिश्रम से यह कार्य सिद्ध होने वाला है। परिश्रम और कुछ नहीं, अनुशासन-परिपालन मात्र है। चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र ही हो, सबको अनुशासन में रहना सीखना होगा। हम एक आश्रम में प्रविष्ट होने जा रहे हैं। आश्रम के अनुरूप हमें रहना होगा। इस अवस्था में जो अनुशासित होता है वह जीवन भर उसी रूप से रह सकता है। देश की प्रजा अनुशासित रहने पर देश के लिए गौरवास्पद होती है। देश का वही श्रेष्ठ नागरिक माना जाता है जो अनुशासित रहे। महर्षियों ने देशरूपी प्रासाद का दो स्तम्भ माना है—एक विद्यार्थीवर्ग दूसरा श्रमिकवर्ग। इन दोनों स्तम्भों को सुदृढ़ करने के लिए उपनयन संस्कार को प्रवर्तित किया गया है। यह संस्कार समाज में प्रविष्ट होने का द्वार है। अच्छा नागरिक वनने का यह श्रेष्ठ साधन है। सभी वर्णों में, सभी मुल्क में, किसी-न-किसी रूप में यह संस्कार होता है। परम्परा ने एक मर्यादा प्रचलित कर रक्खी है जिसका उल्लंघन करना पाप समझा जाता है। यदि हम मर्यादित रहें तो कोई भय नहीं। यदि मर्यादा का उल्लंघन करेंगे तो भय का सामना करना पड़ेगा। भयरहित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए हमें भय की हेतु-भूत मर्यादा का उल्लंघन त्यागना होगा। बुरे कार्य में यदि हम न फँसें तो डरने की क्या आवश्यकता ? ये सभी बातें उपनयन संस्कार से प्राप्त होती हैं। यदि सात-आठ वर्ष के बालक की कोमल-वुद्धि में अच्छी वातों को आचार्य हृदयङ्गम कर देता है तो यौवनावस्था में वह मर्यादित एवं अनुशासन-पालन में सुदृढ़ रहेगा। उपनयन संस्कार का यही परम उद्देश्य है।

आचार्य का महत्त्व

चिरन्तन काल से ही प्रचलित है कि शिक्षाकार्य किसी शासक के अधीन नहीं रहता था। शिक्षा-दीक्षा के लिए किसी आचार्य का अन्वेषण होता था। आचार्य के पास सात-आठ वर्ष के बालक को छोड़ दिया जाता था। अथवा बालक स्वयं आचार्य के पास जाकर प्रार्थना करता था—हे गुरो! मैं ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहना चाहता हूँ। दयाकर मुझे स्वीकार करें। आचार्य भी कुल-जाति-नाम आदि जानकर अपने अधीन छात्र के रूप में स्वीकार कर लेते थे। कुछ आचार्य 'वलभी' टोली बनाकर छात्रों का अध्यापन करते थे। वे प्रायः अपनी वलभी के कुलपति के रूप में रहते थे। शासक का शिक्षाकार्य के साथ कोई सम्वन्ध नहीं था। राजा-महाराजा, श्रेष्ठि-वैश्यवर्ग की सन्तान भी इन आश्रमों में वलभियों में पहुँचती थी। मितव्ययिता का वह युग था, अन्न-वस्त्र की कोई कमी नहीं थी, भेंट के रूप में आचार्य के पास आवश्यक वस्तुएँ आ जाती थीं। आचार्य भी विद्यार्थियों में वितरण कर देते थे। अध्ययन और अध्यापन को छोड़ कर अन्य सांसारिक व्यापार से छात्र और अध्यापक का कोई सम्वन्ध नहीं था। प्रत्येक आचार्य के कुल में सैकड़ों विद्यार्थी अध्ययन में रत रहते थे। प्राचीन शिष्ट आचारों का आचरण करने वाला आचार्य कहलाता है—

> उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
> सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

बालक का उपनयन संस्कार कर षडङ्गसहित वेद का जो अध्यापन करता है, वह आचार्य है। वेदाङ्ग-शिक्षाकारों ने आचार्य बनने की योग्यता का निर्देश किया है—

> पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः।
> स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम्॥ व्या० शि० पृ०१८७

मीमांसकों ने आचार्यत्व को आहवनीय अग्नि के समान अलौकिक एवं एकमात्र वेद द्वारा ही जानने के योग्य सिद्ध किया है। जैसे अग्नि में ज्वलनरूप लौकिकता होने पर भी आधान संस्कार से संस्कृत को ही 'आहवनीय' कहते हैं, लौकिक अग्नि को नहीं; उसी प्रकार साधारण अध्यापक को आचार्य नहीं मानते, किन्तु विलक्षण संस्कार से सम्पन्न एवं विशिष्ट विद्वत्ता रखने वाले ही में 'आचार्य' शब्द का प्रयोग करते हैं। जिनके आचरणों से आचार एवं नैतिक-शिक्षा प्राप्त कर स्वयं आचारवान् एवं नैतिक-सम्पत्ति वाला बना जाय, वह आचार्य है। आचारों के आश्रय से ही नैतिक सम्पत्ति अर्जित की जा सकती है, केवल ग्रन्थों के अध्यापन से वह नहीं प्राप्त हो सकती। इतना निश्चित है कि मनसा, वाचा, कर्मणा जो एकरूपता को प्राप्त होता है, वही उपादेय होता है। यह आचार्य में प्राप्त किया जा सकता है। इस विषय को 'उपाकर्म' के निरूपण-प्रसंग में स्पष्ट किया जायगा।

समाज में आचार्य का स्थान गौरवपूर्ण रहा है। त्याग, कष्ट-सहन, छात्र के वात्सल्य का जो मूर्त रूप हो वही आचार्य बन सकता है।। सादगी और मितव्ययिता से अपनी गृहस्थी को चलाते हुए सैकड़ों-हजारों छात्रों का निश्छल भाव से अध्यापन करते हुए उन्हें सम्हालना साधारण कार्य नहीं है। इसके साथ ही अपने नित्य-नैमित्तिक, स्मार्त, श्रौत

कर्मों में लगे रहना महत्त्वपूर्ण है। भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि महर्षि आचार्य भी थे और कुलपति भी। जिसके पास हजारों छात्र शिक्षा पाते हों वे 'कुलपति' कहलाते थे। इन आचार्यों से यह पूछने पर कि आपने विद्या को कैसे-कहाँ से सीखा, उत्तर में अपने गुरु को ही बतलाते थे। वह भी गुरु अपने गुरु को। इस प्रकार यह विद्याध्ययन परम्परा से चला आ रहा है। अत एव इसके आरम्भ-बिन्दु का पता नहीं लगता है।

यज्ञोपवीत

उपनयन को 'ब्रह्मोपदेश' शब्द से भी कहा जाता है। ब्रह्म शब्द वेद का पर्याय है। वेद का सार 'सावित्री' मन्त्र है। उसका उपदेश इस उपनयन संस्कार में होता है। 'उपदेश' शब्द का अर्थ शबर स्वामी ने 'विशिष्टोच्चारणम्' किया है। 'आप्तोच्चारणम्' अर्थ भी अन्य आचार्यों ने किया है। उपनयन में ब्रह्मोपदेश ही मुख्य कर्म है। यही प्रधान है। अवशिष्ट जितने कर्मकाण्ड हैं, वे अंग हैं। सावित्री मन्त्र के ग्रहण के लिए अनेक नियम बतलाये गये हैं। उन नियमों का प्रयोग ही उपनयन है। उपनयन को यज्ञोपवीत संस्कार भी कहा जाता है। सावित्री के ग्रहण के लिए यज्ञोपवीत धारण की आवश्यकता पड़ती है। यज्ञोपवीत का निर्माण बड़े यत्न एवं शुद्धता से किया जाता है। यज्ञोपवीत में एक ब्रह्म-ग्रन्थि लगती है, जिसे बनाते हुए वैदिक तन्मनस्क होकर सावित्री मन्त्र को जपते हैं। यह यज्ञोपवीत नौ तन्तुओं से निर्मित होता है। नौ तन्तुओं को मिलाने पर इसकी ब्रह्मग्रन्थि बनायी जाती है। अर्थात् वेदसार सावित्री मन्त्र से यह ग्रन्थि रची जाती है। इसको धारण करने से ही सावित्री के ग्रहण का अधिकारी बना जाता है।

यज्ञोपवीत के लिए वेदों में अनेक रोचक आख्यायिकाएँ वर्णित हैं। एक समय देव और असुर स्वर्ग जाने की इच्छा से यज्ञ करने लगे। यज्ञ अलग-अलग हो रहा था। स्वर्ग में शीघ्र पहुँचने की-दृष्टि से असुर विधि-विधान को बिना सोचे ही यज्ञ करने लगे, किन्तु देवगण विधि-विधान का विचार करके ब्रह्मचर्य और तपस्या से शान्तिपूर्वक यज्ञ किये। देवगण धीमी गति से यज्ञ कर रहे हैं, इनके पूर्व ही हम स्वर्ग पहुँचेंगे; ऐसा समझ कर असुर और जल्दी करने लगे किन्तु उन्हें स्वर्ग के मार्ग का ज्ञान नहीं हुआ। देवों का यज्ञ समाप्त होने पर उन्हें स्वर्ग का मार्ग ज्ञात हुआ। वे स्वर्ग पहुँच गये और असुरों को परास्त कर दिये। यज्ञ के विधिवत् सम्पन्न होने का कारण यज्ञोपवीत था। असुरों के यज्ञ का अनुष्ठान अनुपवीती था, इसलिए उनका यज्ञ सफल नहीं हुआ। अतः ब्राह्मण यज्ञोपवीती होकर अध्ययन-अध्यापन करे तथा यज्ञ करे—कराये। यज्ञ शब्द से यहाँ स्मार्त, पौराणिक एवं श्रौत कर्म विवक्षित हैं। देव-सम्बन्धी क्रियाएँ यज्ञोपवीती होकर ही करनी चाहिये, ऋषि-सम्बन्धी क्रियाएँ निवीती-गललम्बी होकर एवं पितृसम्बन्धी क्रियाकलाप प्राचीनावीती होकर करना चाहिए। ब्रह्मोपदेश यज्ञ में यज्ञोपवीत मुख्य चिह्न है, और इसी यज्ञ से उसका उपयोग प्रारम्भ होता है।

यजुर्वेद की शाखाएँ

यजुर्वेद के दो विभाग हैं—शुक्ल और कृष्ण। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ इस समय भारत में प्रचलित हैं—माध्यन्दिन शाखा और काण्व शाखा। कृष्ण यजुर्वेद में

तैत्तिरीय शाखा, मैत्रायणीय शाखा, कपिष्ठल शाखा और कठशाखा उपलब्ध हैं। इनमें तैत्तिरीय शाखा दक्षिण भारत में विशेष रूप से आज भी प्रचलित है। उत्तर भारत में माध्यन्दिन शाखा विशेष प्रचलित है। शाखाओं के भेद से गृह्यसूत्र भी भिन्न-भिन्न महर्षियों ने प्रवर्तित किया है। तदनुसार गृह्यकर्म सम्पन्न होते हैं। प्रथम पारस्कर के अनुसार उपनयन-क्रम को दिखलाकर अनन्तर भेदज्ञान के लिए तैत्तिरीय शाखा के आपस्तम्व के अनुसार कहेंगे। ताकि दोनों में साम्य और वैषम्य का पता चल सके।

पारस्कर के अनुसार उपनयनक्रम

उपनयन संस्कार के लिए भिन्न-भिन्न वर्णों की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ निर्द्धारित की गयी हैं। ब्राह्मण के लिए आठवाँ वर्ष, क्षत्रिय के लिए ग्यारहवाँ वर्ष तथा वैश्य के लिए बारहवाँ वर्ष—

अष्टवर्षे ब्राह्मणमुपनयीत, एकादशवर्षे राजन्यम्, द्वादशवर्षे वैश्यम्

ये श्रुतियाँ प्रमाण हैं। अथवा परम्परागत आचार से अवस्था का निश्चय करना चाहिए। कामना के भेद से अवस्था का भी भेद श्रुतियों में निर्दिष्ट है। बालक के जन्मनक्षत्र के तारावल-चन्द्रवल-लग्नशुद्धि-नेत्रजीव आदि देखकर या ज्योतिर्विदों से निश्चय कर शुक्ल पक्ष की शुभ अध्याय-तिथि के पूर्वाह्ण में उपनयन संस्कार करना चाहिए। बच्चे का पिता उपनयन कराने का प्रमुख अधिकारी है। यदि पिता नहीं हैं तो पितामह; पितामह भी नहीं हैं तो बच्चे का पितृव्य (चाचा), ज्ञाति या गोत्रजों का अधिकार शास्त्र में वर्णित है। पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तरोत्तर अधिकारी है। स्वस्तिवाचन-पूर्वक विघ्नेश की पूजाकर तिथि-वार-नक्षत्र आदि का संकीर्तन करते हुए—

अमुकनक्षत्रे अमुकराशौ जातं मम कुमारं (इमं कुमारम्) उपनेष्ये तदङ्गं पुण्याहवाचनञ्च करिष्ये

इस प्रकार संकल्प कर विघ्नेश को यथास्थान कराकर ब्राह्मणों से अनुज्ञा प्राप्त कर पुण्याहवाचन करना चाहिए। पुण्याहजल से कुमार और यज्ञोपवीत का प्रोक्षण करना चाहिए। कम-से-कम तीन-चार ब्राह्मणों को भोजन करावें। यह भोजन पुण्याहवाचन का अंग है। अनन्तर कुमार का यथानियम मुण्डन (चौल के समान) कराना चाहिए। स्नान, तिलक, नूतन वस्त्र, आभरण आदि से अलंकृत और भोजन करा कर बन्धुवर्ग ले आयेंगे तथा अग्नि के पृष्ठभाग में आचार्य के दाहिने तरफ बैठायेंगे। आचार्य कुमार से कहलायेगा—'ब्रह्मचर्यमागाम्', 'ब्रह्मचर्यमसानि' ब्रह्मचर्य को प्राप्त किया हूँ, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया हूँ। इस प्रकार उच्चारण कराने के बाद आचार्य नवीन वस्त्र पहनायेगा। मन्त्र है—

येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यधात् अमृतं तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे

हे कुमार! जिस विधि से बृहस्पति-देवगुरु ने इन्द्र का संस्कार करने के लिए बिना फटे हुए वस्त्र को पहनाया, उस विधि से मैं तुम्हें पहना रहा हूँ। इससे तुम्हारा जीवन दीर्घ होगा, बलवृद्धि होगी तथा तुम्हारा तेज बढ़ेगा।

तत्पश्चात् माणवक के कटिप्रदेश में मूँज से वनी हुई मेखला को आचार्य बाँधेगा। उस समय माणवक—

इयं दुरुक्तं परिवाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां वलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥

इस मन्त्र को पढ़ेगा। अर्थ है—हमारे दुरुक्तं-दुष्ट वचन और दुष्टाचार को दूर करती हुई प्राण-अपान आदि से बलाधायिका यह मेखला स्वसा-भगिनी की तरह प्रकाशमाना-सौभाग्यवती होकर मेरे पास आयी है।

मेखला-वन्धन के लिए सूत्रकार ने विकल्प से दूसरे मन्त्र का भी विनियोग किया है—

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥

यद्यपि यह मन्त्र वस्त्र से सम्वन्ध रखता है, मेखला से नहीं; तथापि मेखला-वन्धन में विकल्प से सूत्रकार ने विनियोग दर्शाया है। मन्त्र में 'युवा' शब्द है। यह मिश्रणार्थक 'यु' धातु से कृदन्त में 'युवन्' 'युवा' वनता है। मिलाने वाला यह अर्थ है। जैसे मेखला वन्धन से मिलाती है उसी प्रकार वस्त्र भी उस कार्य को करता है, अतः मेखला का स्थानापन्न माना जा सकता है। मीमांसक स्थानापत्ति से भी अङ्गाङ्गिभाव मानते हैं। अतः वस्त्र को मेखला के कार्य का स्थानापन्न होने से उसका भी विनियोग किया गया है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—युवा-मिश्रण-गुणों को इकट्ठा करने वाला सुवासाः-सुन्दर वस्त्र परिवीतः-धारण करके मेखलाकार्य के लिए आगात्-आया है क्या? 'उ' वितर्कार्थक है। सः-वह वटु जिसको उपनयन संस्कार से अलङ्कृत करना है, यदि श्रेयान्-शुद्ध हो तो तम्-उस वटु को धीर क्रान्तिदर्शी सुन्दर चित्तवाले महात्मा लोग मनसा देवयन्तः-मनसे वेदार्थ का बोध कराते हुए तं-उसको उन्नयन्ति-उत्कृष्ट वनाते हैं, ऊपर उठाते हैं। पिता या आचार्य मेखला के स्थान में वस्त्र को वटु के कटि में बाँधता है। तीसरा विकल्प है—'तूष्णीं वा' विना मन्त्र से मेखला या वस्त्र बाँधना। इसी समय वटु को यज्ञोपवीत एवं मृगचर्म दिया जाता है।

विशेष

यज्ञोपवीत के विषय में पहले कुछ कहा जा चुका है किन्तु कुछ और तत्त्व जानना आवश्यक है। यज्ञोपवीत के निर्माण में कुछ नियम परम्परागत हैं। पवित्रता से रूई को धूप में सुखाकर पहले सूत कातने के योग्य बनाकर पट्टी वनाना पड़ता है। पुनः बाँस की तकली वनाकर भार के लिए नरम पत्थर को गोलाकार वनाकर बाँस की तकली में लगाकर सूत कातना चाहिए। कातते समय गायत्री मन्त्र का जप या पढ़े हुए वेदभाग की आवृत्ति करते हुए पर्याप्त सूत इकट्ठा करना चाहिए। इस तरह अंगुष्ठ को छोड़कर शेष चारों अंगुलियों के द्वारा पहले ३२ बार लपेटना चाहिए। उसी प्रकार दूसरे हाँथ की उन चार अंगुलियों में भी ३२ वार दुगुना लपेटना चाहिए। फिर तीसरी बार दूसरे हाँथ में ३२ वार तिगुना लपेटने पर एक षण्णवती (९६) बनती है।

इतने तक शुद्धता से मन्त्रजप या वेदपारायण के साथ अनेक पण्णवती वनायी जाती हैं। फिर दो व्यक्ति पण्णवतियों को पवित्र जल में भिगोकर तिगुने सूत्र को तिगुना बनायेंगे। बनाते हुए गायत्री-जप करते रहेंगे। इस प्रकार छः तन्तु होंगे। इन छः तन्तुओं को तिगुना बनाकर ब्रह्मग्रन्थि लगायेंगे। एक यज्ञोपवीत नव तन्तुओं का हुआ। पहनने पर ठीक अपनी नाभि-पर्यन्त यह होगा, जैसा कि शास्त्र में परिमाण बताया गया है। अपनी नाभि के नीचे यज्ञोपवीत का रहना निषिद्ध है। यह नौ तन्तुमय यज्ञोपवीत नवग्रहों का परिचायक है। पण्णवती (९६) का तात्पर्य है ९+६=१५; १+५=६ पन्द्रह एवं छः संख्या का निकलना १५ संख्या पञ्चदशाक्षरी एवं ६ संख्या षडक्षरी वाला की द्योतक समझी जाती है। कुछ प्रान्तों में उपनयन के दिन गायत्री मन्त्र के साथ ही षडक्षरी मन्त्र का भी आचार्य उपदेश करते हैं। ओंकार को अ, उ, म तीन अक्षर वनाकर वाला त्र्यक्षरी को क्रमशः एक-एक अक्षर के साथ जोड़कर उपदेश करते हैं। अ, उ, म को मातृका बना लेनी चाहिए। अर्थात् अं, उं, मं बनाकर वाला त्र्यक्षरी मातृकाओं को जोड़ा जाता है। इस विधि से गायत्रीमन्त्र २४ अक्षर का होता है। यद्यपि मन्त्र में २३ ही अक्षर होते हैं, तथापि ओंकार के साथ २४ अक्षर का मन्त्र माना जाता है। छन्दःशास्त्र में एक अक्षर न्यून होने पर भी २४ अक्षर मानने का विधान मिलता है। इस २४ संख्या को जोड़ने पर (२+४=) ६ अंक निकलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि गायत्री मन्त्र ही में षडक्षरी बाला भी विद्यमान है। इस मन्त्र के उपदेश से गायत्री मन्त्र के साथ वालामन्त्र को भी जपकर बालक वटु ब्रह्म-वर्चस्व के साथ अत्यधिक विद्यावान् भी बनेगा।

हमारे देश में प्रायः दो प्रकार के प्रश्न लोग किया करते हैं—१–क्या सन्ध्या किये हो?' २–क्या सन्ध्यावन्दन हुआ? प्रथम प्रश्न का तात्पर्य पूर्वोत्तराङ्ग सहित सूर्यार्घ्य प्रदान, गायत्रीजप एवं उपस्थान से है। दूसरे प्रश्न में सन्ध्या के साथ वन्दन जुड़ा हुआ है। यह वन्दन क्या है? परम्परया ज्ञात होता है कि यह 'वन्दन' वाला षडक्षरी है। यह यज्ञोपवीत-निर्माण-विधि से भी (६ संख्या) विदित होता है।

अत्यन्त प्राचीन काल में यज्ञोपवीत नौ तन्तुओं से नहीं बनता रहा है, किन्तु वासोविन्यास-वस्त्र का ही उपवीत के समान धारण 'यज्ञोपवीत' था। जैसा कि —

अजिनं वासो वा दक्षिणत उपवीय दक्षिणं बाहुमुद्धरतेऽवधत्ते यज्ञोपवीत-मेतदेव विपरीतं प्राचीनावीतं संवीतं मानुषम्।

इस मन्त्र से विदित होता है। अनन्तर में किसी कारणवश तन्तुमय 'यज्ञोपवीत' बन गया। अपने कर्मानुष्ठान में लोग लगे हुए थे, अशन-वसन के लिए कमी नहीं थी, पर्याप्त मात्रा में दोनों वस्तुएँ मिलती रहीं। बाद में कमी का अनुभव होने पर तन्तुमय यज्ञोपवीत का प्रादुर्भाव हुआ होगा।

यज्ञोपवीत का पहनना निर्दिष्ट समय में यथाविधि होता था। शाखा के भेद से प्रयोग में कुछ हेर-फेर होने पर भी यज्ञोपवीत के धारण का मन्त्र पूरे भारत में एक-समान है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

यह मन्त्र किस शाखा का है यह विदित नहीं है, किन्तु सभी शाखाओं के लोग यज्ञोपवीत धारण करते हुए इस मन्त्र को बोलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न शाखावलम्बियों में एकता पायी जाती है। अतएव मीमांसकों ने शाखान्तराधिकरण (२. ४. २) न्याय को प्रवर्तित कर एकता का संरक्षण किया है। अर्थात् अपनी शाखा में जो न्यूनता हो उसकी पूर्ति शाखान्तर से करने का विधान ही 'शाखान्तरोपसंहार' न्याय कहा जाता है। सूत्रकार की शैली से यह स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकार अपनी शाखा के मन्त्रों का विनियोग प्रदर्शित करते हुए मन्त्रों का प्रतीकमात्र ग्रहण कर विनियोग दिखाते हैं, शाखान्तरीय मन्त्र हो तो पूरे मन्त्र को लिखकर विनियोग प्रदर्शित करते हैं। यह सभी सूत्रकारों की शैली है—'अथैनं वासः परिधापयति–येनेन्द्राय' मन्त्र को पूरा पढ़ते हैं। एवं—'मेखलां वध्नीते–इयं दुरुक्तं परिबाधमाना' इस मन्त्र को पूरा दिखलाते हैं। 'अञ्जलिं पूरयति आपो हि ष्ठेति तिसृभिः' यह मन्त्र माध्यन्दिन शाखा में उपलब्ध है। अत एव प्रतीक मात्र का ग्रहण किया है। 'येनेन्द्राय', 'इयं दुरुक्तं' 'युवा सुवासाः' आदि मन्त्र अपनी-शाखा में नहीं हैं, शाखान्तर से लिये गये हैं।

इसी प्रकार यज्ञोपवीत-धारण मन्त्र को भी सूत्रकार पूरा पढ़ कर लिखते हैं। अतएव यह शाखान्तर का मन्त्र है। इस मन्त्र से यज्ञोपवीत धारण के पूर्व तिथि-वार-नक्षत्रों का कीर्तन कर—

श्रौतस्मार्तविहितनित्यकर्मानुष्ठानयोग्यतासिद्धयर्थं ब्रह्मतेजोऽभिवृद्धयर्थं अनेन कुमारेण यज्ञोपवीतं धारयिष्ये

ऐसा संकल्प कर—

अस्य श्रीयज्ञोपवीतधारणमहामन्त्रस्य परब्रह्म ऋषिः, त्रिष्टुप् छन्दः, परमात्मा देवता

ऋषि, छन्द, देवताओं का निर्देश कर 'यज्ञोपवीत' मन्त्र पढ़ कर पिता या आचार्य उपवीत धारण कराते हैं। यज्ञोपवीत-धारणमन्त्र का अर्थ है—यह नौ तन्तुमय यज्ञोपवीत परम पवित्र है प्रजापति के साथ ही पहले यह उत्पन्न हुआ है, श्रेष्ठ आयु को देने वाला है, इसे मैं धारण करता हूँ। यह तेज और वलवर्धक हो।

सभी भारतीय एक हैं, इसका यह परिचायक है। चाहे किसी शाखा के हों, चाहे किसी सम्प्रदाय, भाषा, प्रान्त के हों, यज्ञोपवीत के धारण का मन्त्र एक ही है। सभी को अपने-अपने कर्मों को करने में समान अधिकार है तथा परम्परागत विद्या के ग्रहण के लिए यह प्रथम सोपान है। इस मन्त्र से ब्राह्मण ही ब्रह्मतेज को प्राप्त करेगा, यह नहीं; क्षत्रिय-वैश्य भी प्राप्त करने का अधिकार रखते हैं क्योंकि मन्त्र के देवता परमात्मा हैं। उन्हीं की सन्तान सभी हैं। अपनी मर्यादा में रहते हुए सभी समान हैं। मर्यादा का उल्लंघन करना ही अनुशासन-भंग है। अनुशासन में रहने से समाज का ही नहीं, समग्र राष्ट्र का हित है। अत एव वनवास करते हुए युधिष्ठिर ने एक वनेचर को ब्रह्मचारी का वेष धारण कराकर गुप्तचर के रूप में दुर्योधन के वृत्तान्त को जानने के लिए भेजा था—

स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ

भारवि उसे 'वर्णिलिङ्गी' कहते हैं। वर्णी—ब्रह्मचारी का लिङ्ग—चिह्न है जिसका वह वर्णिलिङ्गी है। किसी भी राज्य में ब्रह्मचारी का समान आदर, विश्वास तथा सम्मान होता था। यज्ञोपवीत का धारण करना न केवल ब्रह्मचारी का चिह्न है किन्तु गृहस्थ तथा वानप्रस्थ का भी चिह्न है। किसी-किसी सम्प्रदाय में संन्यस्त लोगों का भी चिह्न यज्ञोपवीत माना गया है।

अजिन-धारण

यज्ञोपवीत-धारण के अनन्तर आचार्य वटु से अजिन धारण कराता है। आचार्य—

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि

कहकर अजिन (कृष्णमृग-चर्म) को देता है। अजिन-धारण का मन्त्र है—

मित्रस्य चक्षुर्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वि स्थविरँ समिद्धम्।
अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं वाज्यजिनं दधेऽहम्॥

यह मन्त्र भी शाखान्तर का है। अर्थ है— मैं उस अजिन-कृष्ण मृगचर्म को धारण करता हूँ जो सूर्य की चक्षुरूप प्रकाशक धरुणं—धारण करने वाला, बलीयस्तेजः—बलिष्ठ तेजोरूपी, यशस्वि—धारण करने वालों को यश देने वाला, स्थविरं समिद्धम्—वृद्धिगत एवं दीप्तिमत्, अनाहनस्यं—धूर्तों के अयोग्य, वसनं—वस्त्र रूप, जरिष्णु—प्रशस्त अथवा जरा का सूचक, वाजि—अन्नप्रद है। तात्पर्य है कि कुछ वेषधारी धोखा देने के उद्देश्य से अजिन धारण कर लोगों को प्रतारित करते हैं, वैसा यह नहीं है। मन्त्रोक्त विशेषण वस्तुतः यही प्रतिपादित करता है। वह विशेषण-'अनाहनस्यं' है। अजिन-धारण ब्रह्मचारी का चिह्न तो है, किन्तु यह कृष्णमृग के अनुकरण करने का सूचक भी है। हरिण से हमें कुछ अच्छी बातें भी सीखनी हैं। ब्रह्मचारी के मुख्य तीन ही कार्य हैं—गुरुसेवा, विद्याग्रहण और भिक्षाचरण। इसके अतिरिक्त कार्यों से उसका सम्बन्ध नहीं है। कृष्णमृग के बारे में एक कवि लिखता है—

यद् वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे न चाटून् मृषा
नैषां गर्ववचः शृणोषि न च तान् प्रत्याशया धावसि।
काले बालतृणानि खादसि परं निद्रासि निद्रागमे
स त्वं ब्रूहि कुरङ्ग! कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः॥

धनिकों के पीछे न पड़ना, समय पर खाना, निद्रा के समय सोना ये तीन कार्य हरिण के हैं। विद्यार्थी ब्रह्मचारी के भी पूर्वोक्त तीन ही कार्य हैं। कुरंग की तपस्या का सूचक है—अजिनधारण। विद्याग्रहण, अनुशासन-पालन के अतिरिक्त अन्य कार्यों में विद्यार्थी का तत्पर रहना जीवन को नष्ट करना है। इस तत्त्व को अजिन सूचित करता है।

दण्डदान

अजिन-धारणानन्तर पलाश आदि दण्ड आचार्य देता है। वटु उसको ग्रहण करता है। ग्रहण का मन्त्र है—

यो मे दण्डः परापतत् वैहायसोऽधिभूम्याम्। तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के लिए क्रमशः पलाश, विल्व एवं उदुम्बर (गूलर) वृक्षों के दण्ड नियत हैं। मन्त्र का अर्थ है—जो दण्ड आकाश से भूमि पर मेरे पास आया है, उसको मैं पुनः आयु-वेदाभ्यास तथा ब्रह्मवर्चस् के लिए ग्रहण करता हूँ। मन्त्रार्थ के विवेचन से अनेक तत्त्व अवगत होते हैं। पलाश के एक वृन्त में तीन दल (पत्ते) होते हैं! पत्तों के सहित हरा-ताजा दण्ड ही दिया जाना चाहिए। पलाश का 'पर्ण' भी नाम है। यहाँ 'पर्ण' शब्द का पत्ता अर्थ नहीं है, किन्तु पलाश अर्थ है। पलाश की उत्पत्ति के विषय में एक आख्यायिका वेदों में मिलती है—द्युलोक से सोमलता को लाने के लिए गायत्री छन्द को भेजा गया। पक्षी का रूप धारण करके लाते समय सोमलता का एक पर्ण (पत्ता) आकाश से भूमि पर गिर गया। वही पर्ण (पलाश) हुआ। (तै० सं० ३।५।७)

तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् तं गायत्र्याऽऽहरत् तस्य पर्णमच्छिद्यत तत् पर्णोऽभवत् तत् पर्णस्य पर्णत्वम् यस्य पर्णमयी जुहूः।

सोम और पलाश के अनेक अंशों में मेल है। यद्यपि सोम लता है और पलाश वृक्ष है, तथापि एक-एक वृन्त में त्रिदल सोम के भी होते हैं, पलाश के भी एवं विल्व के भी। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार सोम कई औषधों के प्रयोग में आता है, इसी प्रकार पलाश के मध्यस्थ पत्र एक विलक्षण औषध के काम आते हैं जिसे गोपनीय रखा जाता है। 'आकाश से भूमि पर आये हुए उस दण्ड को मैं पुनः ग्रहण करता हूँ' यहाँ 'पुनः' पद का प्रयोग विशेष तात्पर्य रखता है। 'पुनः' पद वाक्यालङ्कार मात्र नहीं है। विशेषता यह है कि किसी पुण्य कर्म-विशेष के फलस्वरूप मानव-जन्म की प्राप्ति हुई है। उसमें भी श्रौतस्मार्त कर्मों के अनुष्ठानयोग्य शरीर प्राप्त हुआ है। कर्म-मार्ग के अनुसार पूर्व जन्म के अच्छे कर्म ही इसके कारण हैं। कर्मों में श्रेष्ठ कर्म सोमयाग माना गया है। सोमयाग में यजमान को दीक्षा देते हुए अध्वर्यु दण्ड से भी दीक्षा देता है—'दण्डेन दीक्षयति' विधान है। अर्थात् यजमान के हाँथ में दीक्षा का अभिव्यञ्जक दण्ड दिया जाता है। मैंने पूर्वजन्म में सोमयाग करके दण्ड लिया है, उस दण्ड को पुनः ग्रहण करता हूँ क्योंकि मुझे आगे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर सोमयाग की दीक्षा प्राप्त करनी है। इस आशय को सूत्रकार सूचित करते हैं—

दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात्।

प्रकृत सन्दर्भ में विशेष उपयुक्त न होने पर भी युवा पीढ़ी के जानने योग्य है, ऐसा समझकर लिखना चाहता हूँ। ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण के निमित्त ही बना है। पहले कहा जा चुका है—ब्रह्मचारी के तीन कार्य ही विशेषरूप से होते हैं–गुरुसेवा, विद्याभ्यास एवं भिक्षाचर्य। अभ्यस्त विद्या का उपयोग आगे जीवन में होगा। विद्याभ्यास एक संस्कार है, संस्कृत विद्या का आगे उपयोग करना ही है। चाहे आज की नवीन विद्याएँ हों चाहे प्राचीन वेद आदि विद्याएँ। अभ्यस्त विद्याओं को अपने जीवन में उतार कर उपयोगी बना लें, यही एकमात्र उद्देश्य विद्याभ्यास का होता था। अपने जीवनोपयोग के साथ राष्ट्र-निर्माण में भी उसका प्रयोग होना चाहिए। प्राचीन परम्परा के अनुसन्धान से यह विषय स्पष्ट होता है। शास्त्रीय विषय होने से समझने में थोड़ा क्लेश होगा ही, तथापि धैर्यपूर्वक पढ़ने से विषय अवगत हो जायेगा।

सोमलता से साध्य याग को सोमयाग कहते हैं। वह एक अग्निहोत्री यजमान के

द्वारा अनुष्ठित होता है, और १७ से लेकर २४ अग्निहोत्री मिलकर भी अनुष्ठित करते हैं। एक के द्वारा अनुष्ठीयमान १२ दिन तक होते हैं, जो 'अहीन' शब्द से व्यवहृत होते हैं। इन यागों का जो फल है, उसको करनेवाला व्यक्तिगत अनुभव करेगा। सत्रह या चौबीस अग्निहोत्री मिलकर जिन सोमयागों को करते हैं, वे 'सत्र' शब्द से व्यवहृत होते हैं। ये याग १३ दिन से लेकर सुदीर्घ काल तक किये जाते हैं। इन सत्रों का फल ऋद्धि-समृद्धि है 'ऋद्धिकामाः सत्रमुपेयुः'। देश या राष्ट्र की समृद्धि के लिए प्राचीन काल में राजा-महाराजाओं के द्वारा अनुष्ठित कराये जाते थे। सत्रयाग के फल सामूहिक उपभोग-योग्य माने जाते हैं। एक-एक व्यक्ति से समाज बनता है, अनेक समाज से देश या राष्ट्र बनता है। व्यक्तिगत रूप से फल का अनुभव करने पर भी हर-एक व्यक्ति की प्रवृत्ति से वह अनुभव समाज का ही माना जायगा। सामूहिक रूप से प्रवृत्त होकर सत्र का अनुष्ठान करें, तब भी अनेक समूह यदि हो जाते हैं तो देश या राष्ट्र समृद्ध बन जाता है। व्यक्ति की उन्नति से समाज तथा समाज की उन्नति से देश या राष्ट्र की उन्नति अवश्यम्भावी है।

पूर्वोक्त दो प्रकार के सोमयागों में सत्रयाग, प्रजातन्त्र सत्र का उपमानरूप बन सकता है। सत्रयाग में १७ या २४ तक यजमान मिलकर अपने में योग्य व्यक्ति को 'गृहपति' के रूप में चुनते हैं। वह अवशिष्ट लोगों में सामर्थ्य के अनुसार आध्वर्यव, हौत्र, औद्गात्र, ब्रह्मत्व कार्यों के लिए चुनता है। सभी मिलकर अपने कार्यों को यथावत् सम्पन्न करते हुए समृद्धि-फलभोगों के अधिकारी बनते हैं। यह सत्रयागों की स्थिति है।

प्रजातन्त्र सत्र में भी यही स्थिति है। एक को नेता चुनते हैं, वह योग्यता के अनुसार विभिन्न भागों को सम्हालने के निमित्त मन्त्रियों को नियुक्त करता है। सत्रयागों में एक 'उपद्रष्टा' या 'सदस्य' को अलग से नियुक्त किया जाता है। उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में राष्ट्रपति- राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया जाता है।

इतनी बात समझने के बाद प्रकृत ब्रह्मचारी के दण्डदान को देखना चाहिए। ब्रह्मचारी सोमलता के पर्ण से उत्पन्न पलाश दण्ड को ग्रहण करता हुआ 'मैं समग्र विद्याओं में प्रवीण होकर दीर्घकाल सत्र का अनुष्ठान करूँगा, एवं देश को समृद्ध बनाऊँगा', यह द्योतित करता है। यद्यपि इस छोटी अवस्था में इस संकल्प को पूर्ण करने में वह क्षमता नहीं रखता है, तथापि मन्त्रार्थ से परिचित हो जानेपर और आचार्यद्वारा किये हुए संस्कार उसको इस संकल्प की ओर अग्रसर करेंगे। सोमलता और पलाश, पलाश-दण्ड और दीक्षित दण्ड एवं 'दीर्घसत्रमुपैति' यह अर्थवाद आदि सन्दर्भों का विचार करने से यह तत्त्व अवगत होता है।

अञ्जलि-पूरण

दण्डदान के पश्चात् आचार्य अपनी अञ्जलि में जल लेकर ब्रह्मचारी की अञ्जलि में डालता है। इसके लिए मन्त्र है—

आपो हि ष्ठा मयो भुवः, ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे। यो वश्शिवतमो रसः तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः, तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ॥

ये तीन ऋचायें हैं। अपनी शाखा में आम्नात हैं अत एव सूत्रकार 'पूरयति आपो हिष्ठेति तिसृभिः' प्रतीक से मन्त्र ग्रहण करते हैं। मन्त्र का अर्थ है—आपः - जल, जिस कारण से मयोभुवः—सुख देनेवाले हों, ता—वे जल नः—हमारे ऊर्जे—रसास्वादन के लिए, दधातन—वनें। महे—विशाल, रणाय—रमणीय, चक्षसे—दर्शन के लिए, हमें बनाओ। यहाँ का दर्शन लौकिक पदार्थों के साथ अलौकिक ब्रह्म साक्षात्कार का सूचक है। अर्थात् हमें ब्रह्म साक्षात्कार के भी योग्य बनाओ। इस लोक में विद्यमान हमें अपने मंगलकारक उस रस के पान का भागी बनाओ। जैसे उशतीः मातरः—प्रीतियुक्त माताएँ अपने स्तन्य देकर बच्चों की रक्षा करती हैं, उसी प्रकार आप हमारी रक्षा करो। ये तीनों मन्त्र 'अब्लिङ्गक' मन्त्र हैं। हमारी परम्परा में जलतत्त्व को देवता की दृष्टि से देखते हैं।

हे आप! आप से सम्बन्धित उस रस को हम पर्याप्त प्राप्त किये हैं। रस की पर्याप्त प्राप्ति का तात्पर्य है—वितृष्णता या सदा तृप्तिमत्ता। क्षयाय—निवास के अर्थात् आधारभूत जगत् के, जिन्वथ—प्रिय बनो। हे आपः! नः—हम लोगों को जनयथ—रसोपभोग के योग्य बनाओ।

तीनों ऋचाओं का तात्पर्य ब्रह्मचारी की अञ्जलि में आचार्य द्वारा मन्त्रपूर्वक जल-पूर्ति द्वारा हस्त-शुद्धि संस्कार से है। इसके बाद सूर्य-दर्शन का विधान है। सूर्य का साक्षात् दर्शन नहीं किया जा सकता। अतः दोनों हाँथों से विशेष मुद्रा बनानी पड़ती है। इसके पूर्व हाँथ का पवित्र होना आवश्यक है। अत एव मन्त्रसहित अञ्जलि से अञ्जलि का भरना विहित है।

सूर्यदर्शन

अञ्जलिदान के अनन्तर आचार्य सूर्य दर्शन करायेंगे। ब्रह्मचारी—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदः शत ँ शृणुयाम शरदश्शतं प्रब्रवाम शरदश्शतमदीनाः स्याम शरदश्शतं भूयश्च शरदः शतात्।

इस मन्त्र से सूर्य का दर्शन करेगा। सूर्यदर्शन के लिए मुद्रा का क्रम इस प्रकार है—दोनों करतलों को उत्तराधर भाव से रखकर वायें हाँथ की कनिष्ठका एवं तर्जनी के बीच में मध्यम एवं अनामिका को रख अङ्गुष्ठ से पकड़ना चाहिए और बायीं कनिष्ठिका से दाहिनी तर्जनी एवं दाहिनी तर्जनी से बायीं कनिष्ठिका को पकड़ने पर मध्य में एक छिद्र पड़ेगा इसी छिद्र से सूर्य का दर्शन किया जाता है। मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है।

सूर्य का दर्शन आगे होने वाले सावित्री-मन्त्र के उपदेश के लिए कराया जाता है। मन्त्र के देवता सविता हैं। प्रत्यक्षतः सूर्य का दर्शन कर प्रार्थना करते हुए मन्त्र का ग्रहण करना उचित है। अत एव सूर्यदर्शन किया जाता है।

हृदयालम्भन

सूर्य के दर्शनानन्तर आचार्य अपने दाहिने हाँथ से बटु के हृदय-भाग का आलम्भन = स्पर्श करता है—'मम व्रते ते हृदयं दधामि' कहकर। यह हृदयस्पर्श अत्यन्त

महत्त्व रखता है। मानव का हृदय-प्रदेश ही मुख्य है—'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' यह श्री कृष्ण की उक्ति है। 'अपने व्रत में तुम्हारे हृदय को धारण करता हूँ' आचार्य की इस उक्ति से शिष्य और आचार्य की एकता, आचरण आदि में अनन्यभाव द्योतित होता है। अनन्य भाव केवल बौद्धिक ही पर्याप्त नहीं, किन्तु आचरण एवं चरित्र में भी वह होना चाहिए। 'व्रते' शब्द नियमपरक है—मैं अध्यापन के नियमों का जैसे पालन करूँगा वैसे अध्ययन के नियमों का तुम्हें भी पालन करना होगा, अनुशासक-अनुशास्य भाव हम दोनों में रहने पर भी व्रत-नियमों में एकता की आवश्यकता है, शिक्षक-शिष्य के भिन्न होने पर भी अनन्य भाव होना चाहिए आदि महाफल-प्राप्ति के निमित्त हृदय-स्पर्श किया जाता है। प्रायः सभी मानव अपने को दिखाने के लिए हृदयस्पर्श करके दिखाते हैं। कान, नाक ओष्ठ आदि अंगों का स्पर्श कर नहीं दिखाते। वटु के दाहिने कंधे पर अपने दाहिने हाँथ को रखते हुए हृदयस्पर्श करने का तात्पर्य है कि छोटे हों या बड़े, दीन हों या आढ्य, शास्य हों या शासक, इनसे कार्य लेने के लिए शकुन शास्त्र के अनुसार अपने दाहिने भाग में उन्हें रखना चाहिए। शिष्य को होनहार वनाने की आचार्य की कामना है, तदनुसार शिष्य से काम लेना पड़ेगा, यह समझ कर अपने दाहिने भाग में बटु को रखकर हृदय-स्पर्श करता है।

प्रश्नोत्तर

अनन्तर आचार्य वटु के दाहिने हाँथ को पकड़ कर अपने सामने खड़ा करके 'को नामासि'—तुम्हारा नाम क्या है, पूछता है। वटु 'अमुकनामाहमस्मि भोः' अपने नाम के साथ गोत्र, सूत्र, प्रवर तथा शाखा आदि का निर्देश करता है। आचार्य के द्वारा गोत्र, सूत्र, प्रवर आदि सिखाया जाता है।

गोत्र-प्रवर

आश्वलायन महर्षि अपने श्रौतसूत्र के अन्तिम अध्याय में गोत्र-प्रवर के विषय में विस्तार से वर्णन किये हैं। इनमें यहाँ कुछ गोत्रों का प्रवर दिखाया जा रहा है जिससे यह ज्ञान हो सके कि हमारी क्या परम्परा रही। आज 'त्रिप्रवरः, अमुकगोत्रः, पञ्चप्रवरः अमुकगोत्रः' इतना मात्र कहने वाले मिलते हैं। कई लोग तो इतना भी नहीं कह पाते हैं। अतः उपनयन के समय इस परम्परा को सिखाना आवश्यक है। लोकोक्ति है कि नदी एवं ऋषिगोत्र के मूल (उद्गम) को पहचानने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। चेष्टा करने से भी विफल ही होंगे। गंगा-यमुना आदि नदियों के मूलरूप में परम्परा से जिस स्थान को कहते हैं, उसी को मान कर चलते हैं। उससे भी आगे का मूल होगा ही, किन्तु वहाँ तक पहुँच नहीं सकते, जाना उचित भी नहीं। ऋषियों का मूल भी उसी प्रकार है। अत एव आश्वलायन, बौधायन आदि सूत्रकार 'जमदग्नि' महर्षि को मूल मानकर गोत्रों की चर्चा करते हैं। जमदग्नि का मूल कौन है? इस प्रपञ्च में वे नहीं पड़े। ऐसी प्रवृत्ति होने पर युग-युगान्तरों तक भटकते ही रह जाना पड़ता। इसलिए जितना स्मृतिपथ में है उसको ही लेकर चलना उचित होगा।

आश्वलायन-सूत्रकार गोत्र और प्रवर की चर्चा करते हुए सर्वप्रथम जामदग्न्य और अजामदग्न्य के रूप में दो विभाग मानते हैं। 'गोत्र' शब्द पिता, पितामह, प्रपितामह आदि अपने पूर्वजों का निर्देश करता है और 'प्रवर' शब्द मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का निर्देश करता है। अर्थात् उस गोत्र के मन्त्रद्रष्टा के रूप में जो रहे उनका परिचायक है 'प्रवर'। अत एव प्रवर को 'आर्षेय' शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है—'आर्षेयं वृणीते'। इसका कारण—'वयं वत्साः', 'वयं बिदाः', 'वयमायास्याः', 'वयं कुण्डिनः', 'वयं रथीतराः' आदि लौकिक व्यवहार ही है। लोक में हम वत्स के हैं, हम बिद के हैं, हम आयास्य के हैं, आदि चिरकाल से चले आ रहे स्मरण को छोड़कर अन्य कोई स्मृति या श्रुति प्रमाण नहीं मिलता है। इस परम्परा को आधार मानकर द्व्यार्षेय, त्र्यार्षेय, पञ्चार्षेय का निर्णय करना पड़ता है। अत एव श्रीवत्स गोत्र का जामदग्न्य और अजामदग्न्य रूप से विभाग कर जामदग्न्य वत्स पञ्चार्षेय (पञ्च प्रवर) अजामदग्न्य वत्स त्र्यार्षेय (त्रिप्रवर) प्रचलित है। निष्कर्षतः—

अभिवादये भार्गव-च्यावना-प्नवानौर्व-जामदग्न्यपञ्चार्षेय-श्रीवत्सगोत्रः कात्यायन–आपस्तम्ब–(बोधायन)सूत्रो यजुर्वेदान्तर्गत–तैत्तिरीय–(माध्यन्दिनकाण्व) शाखाध्यायी श्रीरामशर्माहमस्मि भोः।

कहकर अपने परिचय के साथ नमस्कार करते हैं। अजामदग्न्य हो जाने पर

भार्गवच्यावनाप्नवानत्र्यार्षेयप्रवरान्वितः

मात्र कहकर नमस्कार करते हैं। श्रीवत्स गोत्र में ही तीसरा प्रकार भी मिलता है—

भार्गव-च्यवना-प्नवानार्ष्टिषेणा-नूपपञ्चार्षेयप्रवरान्विताष्टिषेणगोत्रः

यह आर्ष्टिषेण गोत्र भी पञ्चार्षेय है। इस गोत्र के प्रवर में आर्ष्टिषेण और अनूप को छोड़कर शेष तीनों ऋषि वत्सगोत्र के समान हैं। अतः समान प्रवर होने से आपस के वर-वधू का विवाह निषिद्ध है। इसी प्रकार 'बिदा वयम्' कहकर जो प्रसिद्ध हैं वे भी पञ्चार्षेय हैं—

भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वबैदपञ्चार्षेयजमदग्निगोत्रः।

एवञ्च श्रीवत्सबिदार्ष्टिषेण गोत्र के नाम से भेद होने पर भी एक प्रवर वालों में विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध है।

जैसे पञ्चार्षेयों का गण बतलाया गया वैसे ही त्र्यार्षेयों का भी गण है। यस्क, वाधूल, मौन, मौक, शार्कराक्षि, सार्ष्टि, सावर्णि, शालङ्कायन, जैमिनि तथा देवन्त्यायन ये दश गोत्र हैं। इनका भार्गव, वैतहव्य तथा सावेतस त्र्यार्षेय प्रवर है। प्रवर में कहीं-कहीं वर्णभेद या विपर्यास होने पर भी पदान्यत्व नहीं माना जाता है। जैसे कि 'वैतहव्य' पद को 'वीतहव्य' भी कहते हैं। 'श्यैत' गोत्र का प्रवर भार्गव-वैन्य-पार्थ त्र्यार्षेय है। मित्रयुव गोत्र एकार्षेय भी है त्र्यार्षेय भी। 'वाध्र्यश्व' एकार्षेय एवं 'भार्गव-दैवोदास-वाध्र्यश्व' त्र्यार्षेय भी है। 'शुनक' गण का गृत्समद गोत्र एकार्षेय या त्र्यार्षेय होता है। 'भार्गव-शौनहोत्र-गार्त्समद' त्र्यार्षेय है। गौतमगण त्र्यार्षेय है—आङ्गिरसायास्यगौतम, उचथ्य गोत्र का आङ्गिरसौचथ्यगौतम त्र्यार्षेय, रहूगण गोत्र आङ्गिरस-राहूगण-गौतम त्र्यार्षेय, सोमराज गोत्र आङ्गि-

रस-सौमराज्य-गौतम त्र्यार्षेय, वामदेव गोत्र आङ्गिरस-वामदेव्य-गौतम त्र्यार्षेय तथा पृषद-श्वगोत्र आङ्गिरस-पार्षदश्ववैरूप्र त्र्यार्षेय होते हैं।

भारद्वाज गण का आङ्गिरस-बार्हस्पत्य-भारद्वाज त्र्यार्षेय प्रवर है। मुद्गल गोत्र का आङ्गिरस-भार्म्यश्व-मौद्गल्य त्र्यार्षेय प्रवर है। कहीं-कहीं 'आङ्गिरस' के स्थान में 'तार्क्ष्य' भी बोला जाता है।

गर्ग गोत्र त्र्यार्षेय भी है पञ्चार्षेय भी। आङ्गिरस-शैन्य-गार्ग्य त्र्यार्षेय एवं आङ्गि-रस-बार्हस्पत्य-भारद्वाज-गार्ग्य-शैन्य पञ्चार्षेय प्रवर है। भरद्वाज गण हैं।

हरित-कुत्स-पिङ्ग-शङ्ख-दर्भ-भौमगव इन छः गोत्रों का आङ्गिरसाम्बरीषयौवनाश्व त्र्यार्षेय प्रवर है। मान्धातृगोत्र का 'आङ्गिरस' स्थान में 'मान्धात्राम्बरीषयौवनाश्व त्र्यार्षेय प्रवर है। ये हरित गण हैं।

संकृति गण का आङ्गिरस-गौरिवीत-सांकृत्य त्र्यार्षेय प्रवर है।

शाकल्य गोत्र का शाकल्य-गौरिवीत-सांस्कृत्य त्र्यार्षेय प्रवर है।

आङ्गिरस और वासिष्ठ समान हैं।

कण्व गोत्र का आङ्गिरसाजमीह्लकण्व त्र्यार्षेय प्रवर है। अजमीह्ल स्थान में 'घौर' पद का निवेश कर त्र्यार्षेय प्रवर भी प्रचलित है।

कपि गोत्र का अङ्गिरामहीयवोरुक्षयस त्र्यार्षेय प्रवर है।

आत्रेय गोत्र का आत्रेयार्चनानसश्यावश्य त्र्यार्षेय प्रवर है। इसी गोत्र में आत्रेय गाविष्ठिर-पौर्वातिथ त्र्यार्षेय प्रवर भी है।

चिकित-गालव-काल-बव-मनु-तन्तु-कुशिक इन सात विश्वामित्र गण का वैश्वामित्र देवराती-दल त्र्यार्षेय प्रवर है। विश्वामित्र गोत्र के और भी प्रभेद मिलते हैं।

काश्यप गोत्र का काश्यपा-वत्सारा-सित त्र्यार्षेय प्रवर है।

नैध्रुव काश्यप गोत्र का काश्यपावत्सरनैध्रुव त्र्यार्षेय प्रवर है। एवं काश्यपावत्सा-रदैभ्य त्र्यार्षेय तथा काश्यपासितदैवल त्र्यार्षेय प्रवर भी मिलता है।

वासिष्ठ गण में उपमन्यु-पराशर-कुण्डिन इनसे अतिरिक्त वासिष्ठ एकार्षेय प्रवर है। उपमन्यु आदि त्र्यार्षेय प्रवर है। उपमन्यु गोत्र का वासिष्ठाभरद्वाश्विन्द्र प्रमद त्र्यार्षेय है। पराशरों का वासिष्ठशाक्त्यपाराशर्य त्र्यार्षेय है। कौण्डिन्य का वासिष्ठमैत्रावरुण-कौण्डिन्य त्र्यार्षेय प्रवर है।

अगस्त्य गण में आगस्त्य-दार्दच्युतेध्मवाह त्र्यार्षेय, आगस्त्यदार्दच्युतसोमवाह त्र्यार्षेय प्रवर होते हैं।

इन गोत्र-प्रवर के सन्दर्भ के अध्ययन से प्रतीत होता है कि हम आपस में इन दोनों से भिन्न होते हुए भी सामाजिक-भावना तथा एकात्मकता की चेतना की दृष्टि से एक हैं। गोत्र-प्रवरों के परिचायक होने पर भी दीर्घसत्र यागों में इनका मुख्य उपयोग प्रतीत होता है। इसका विस्तार से विवेचन आश्वलायन, बौधायन आदि श्रौतसूत्रों में किया गया है।

गोत्र-प्रवर का निर्देश करते हुए ब्रह्मचारी के अभिवादन को स्वीकार कर आचार्य ब्रह्मचारी से पूछते हैं कि तुम किसके ब्रह्मचारी हो ? आप का ब्रह्मचारी हूँ, वटु उत्तर देता है। इससे आचार्य संतुष्ट होकर 'इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि' तु परमैश्वर्यसंपन्न परमात्मा के ब्रह्मचारी हो, अग्नि देवता तुम्हारा प्रथम आचार्य है, मैं दूसरा आचार्य हूँ, कह कर वटु का हाथ पकड़कर रक्षण निमित्त 'प्रजापतये त्वा परिददामि' इत्यादि मन्त्रों से वटु को प्रजापति सविता आदि देवताओं को सुपुर्द करता है।

इस संदर्भ से यह अवगत होता है कि हमारी संस्कृति में बाल्यावस्था ही से भावात्मक एकता की शिक्षा मिलती है। वटु को इन्द्र और अग्नि समझे तथा आचार्य वटु को प्रजापति सविता आदि देवता को सुपुर्द कर तत्तद्देवतात्मक समझे, यही भावात्मक एकता है। हमारी परंपरा है कि हम कितना भी शिक्षित हों, वैदुष्यसम्पन्न हों, दैवी शक्ति-सम्पत्ति के विना सुशोभित नहीं हो सकते हैं। वह सम्पत्ति भावना से ही मिलती है। आचार्य शिक्षक अवश्य है, वटु उसकी शिक्षा से शिक्षित अवश्य है; किन्तु दोनों का परस्पर देवतात्मभावना से ही शिक्षकत्व और शिक्षितत्व सुशोभित होगा। तुम 'अग्नि' के ब्रह्मचारी हो, 'अग्नि तुम्हारा प्रथम आचार्य है मैं द्वितीय हूँ', आचार्य की इस उक्ति से विनय की शिक्षा प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य के आरम्भ से ही विनय की भी शिक्षा वटु के लिए आवश्यक है। न केवल वेदविद्या के अभ्यास मात्र का यह नियम है किन्तु आज कल की नवीन विद्या के अभ्यास के लिए भी आवश्यक है। स्नातक होने तक इस प्रकार की शिक्षा आचार्य के आचरणों से मिलती रहती है। आज हम शिक्षण-संस्थाओं में जिस अनर्थ का अनुभव करते हैं उनका कारण यही है कि हम इस संस्कार से विहीन हो गये हैं। शिक्षक के विषय में शिष्य की आचार्यत्व-भावना, शिष्य के विषय में शिक्षक की वात्सल्य-भावना संस्कार से ही बनती है। हम अपने अपत्यों को संस्कारों से संस्कृत नहीं करते हैं इसीलिए हम इस अनर्थ का अनुभव करते हैं।

परिदान

परिदान का अर्थ है-समर्पण, सुपुर्द न्यास रूप से रखना। आचार्य वटु के भावी जीवन के निर्वाह के लिए पाँच भौतिक द्रव्य, प्रजापति, सविता, वायु, ओषधि, आकाश-भूमि, विश्वेदेवों के पास सुपुर्द करता है। यद्यपि वटु के माता-पिता ने अपनी अपत्यों को आचार्य को समर्पित कर दिया, किन्तु आचार्य उस वटु को सभी भूतों के पास सहयोग की भावना से सुपुर्द करता है। सुपुर्द करना न्यास के समान है। रखा हुआ न्यास प्रत्यर्पित किया जाता है। माता-पिता ने आचार्य के पास वटु को न्यास रखा है, और आचार्य ने सभी भूत पदार्थों के पास न्यास रखा है। कृमि-कीट-सरीसृप-पशु-पक्षी-मानव सभी भूत पदार्थ कहे जाते हैं और पृथिव्यप्तेज-वायु-आकाश ये पाँच भूत कहे जाते हैं। इन पाचों भूतों से निर्मित कृमि-कीट आदि होते हैं। इसी को द्योतित करने के लिए 'भूतेभ्यः परिददामि' 'सर्वेभ्यो भूतेभ्यः परिददामि' दो वार 'भूत' शब्द का निर्देश है। आचार्य अपने अध्यापन कार्य का निर्वाह करते हुए शिष्यों को विविध कार्यों में प्रेरित करते हैं! शिष्यों के उन विविध कार्यों का संपादन भी अध्ययन का अंग माना जाता है। उन अंगों को

करते हुए वटु कदाचित् विच्छू, साँप आदि से पीड़ित हो सकता है। वह पीड़ा ही 'रिष्ट' कहलाती है। उसका अभाव 'अरिष्ट' है। अर्थात् 'अशुभाभाव'। अशुभाभाव शुभ है। उसके लिए उनका सहयोग अपेक्षित है। समाज की सुस्थिरता के लिए यह सहयोग-भावना अत्यन्त आवश्यक है। यह इस मन्त्र के द्वारा घोषित किया गया है।

आचार्य अकेले हैं, छात्र हजारों हैं। इनका अध्ययन-अध्यापन कार्य अकेले आचार्य से चल सकता है, किन्तु पाँच भौतिक छात्र के शरीर को वात-पित्त-कफ के विस्तार से विकृत हो जाने पर उसकी देख-भाल आचार्य मात्र कैसे कर सकते हैं। अत एव आचार्य अन्य लोगों का सहयोग चाहते हैं। वह सहयोग दैवी-शक्ति-संपन्न होने पर-सुदृढ़ बनेगा। पाँच भूतों में देवता की भावना उन भूतों से बने हुए कृमि-कीट आदि में भी देवता की भावना कर आचार्य छात्र को उन्हें सुपुर्द करता है। यह हमारी परम्परा है कि पृथिवी-जल आदि में देवता की भावना करें। इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। इसीलिए समाज में अध्यापक से आचार्य का स्थान विशिष्ट माना जाता रहा है। यद्यपि बालक इस अवस्था में इस महत्त्व को जानने की शक्ति नहीं रखता है, तथापि बालकों के अभिभावक जानने की शक्ति रखते हैं और इस संस्कार को विधिवत् कराते थे, संस्कार से संस्कृत बालक अच्छे प्रतिभावान् निकलते थे। यही हिन्दू-परम्परा है।

अनुशासन

'परिदान' संस्कार के अनन्तर बालक को अग्नि के पश्चाद् भाग में बैठाकर आचार्य चौदह आहुतियों को विधिवत् सम्पन्न करके बालक को अनुशासित करते हैं—

ब्रह्मचार्यसि अपोऽशान, कर्म कुरु, मा दिवा सुषुप्थाः, वाचं यच्छ, समिधमाधेहि, अपोऽशान

ये अनुशासन हैं। तुम ब्रह्मचारी हो, जल खाओ, काम करो, दिन में न सोओ, वाक्संयम रखो, समिधों का आधान करो, जल पीओ। पाँचों के अनुशासन के समय वटु एक-एक का उत्तर देता जायगा—

ब्रह्मचार्यसानि, अपोऽश्नानि, कर्म करवाणि, न स्वप्नानि, वाचं यच्छानि, समिधमादधामि अपोऽश्नानि

'अपोऽशान' का दो बार उल्लेख है। जल से पकाये हुए पदार्थ का खाना एक का अर्थ है, दूसरे का जल पीना अर्थ है। इससे तेल-मसाला आदि से बनी वस्तु वर्जित अवगत होती है।

गायत्री-मन्त्र का उपदेश

परिदान के अनन्तर आचार्य (गायत्री) सावित्री मन्त्र का उपदेश करता है। 'न गायत्र्याः परो मन्त्रः' गायत्री से उत्कृष्ट मन्त्र दूसरा नहीं है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों के लिए इस मन्त्र का उपदेश मुख्य माना जाता है। यही उपनयन संस्कार में प्रधान है। इसी का पूर्वाङ्ग कहा जा चुका है, उत्तराङ्ग आगे कहेंगे। यह मन्त्र 'गायत्री' 'सावित्री' नाम से

व्यवहृत है। हर-एक मन्त्र ऋषि-छन्द-देवता से घटित होता है। उनमें कहीं छन्द को लेकर, कहीं देवता को लेकर मन्त्र का व्यवहार होता है। इस परम मन्त्र का छन्द गायत्री और देवता 'सविता' है। अतः 'गायत्री' 'सावित्री नाम से इसका व्यवहार है। गायन्तं त्रायते इति गायत्री। अर्थात् जप-उपासना करने वालों की रक्षा करता है। एवं 'सविता' प्रेरयिता-अच्छे कर्मों में प्रेरणा करने वाला 'सावित्री' है। गायत्री देवी भी है किन्तु उसको लेकर गायत्री नहीं है, किन्तु छन्द को लेकर यह नाम है। 'छादयतीति छन्दः' छादन (वस्त्र) जैसे शरीर को छिपाता है, उसी प्रकार मन्त्र रूपी शरीर को यह छन्द 'छादन' छिपाता है। कोई भी मन्त्र बिना छन्द का नहीं होता है। छन्द का मन्त्र से नियत संबन्ध है। अत एव छन्द को निमित्त कर 'गायत्री' नाम पड़ा है। एवं इस मन्त्र में 'सवितुः' सविता-सूर्य का नाम उल्लिखित है। उसका सामर्थ्य सूर्य के प्रकाशन में है। वह भी 'सवितृ' शब्द से।

यह मीमांसा-परम्परा का नियम है कि जिस मन्त्र में जो शब्द देवता का प्रकाशक है उसी शब्द से देवता का निर्देश करें। अतः यह ऋचा 'सावित्री' शब्द से कहलाती है। प्राणियों का प्रवर्तक होता है सविता। अतः सावित्री ऋचा भी उपदिष्ट होने पर प्रवर्तक बन जाती है। जीवन में किसी के जरिये सत्कार्यों में प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए। अत एव उपनयन में आचार्य सावित्री ऋचा का जो गायत्री शब्द से व्यवहृत है, उपदेश करता है। पूर्वाचार्यों ने उपदेश शब्द का दो तरह से अर्थ किया है—एक विशिष्टमुच्चारणम्, दूसरा आप्तवाक्यम्। यहाँ आप्त शब्द से परमेश्वर अभिप्रेत है। आचार्य-गुरु परमेश्वरतुल्य है, उसका यह वाक्य है। अत एव उपदेश है। विशिष्ट उच्चारण का तात्पर्य है—परम्परागत उच्चारण। यह उच्चारण के अनन्तर अनूच्चारण के द्वारा गृहीत होता है। अर्थात् गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण। यह प्रक्रिया वेद में चलती है। यद्यपि अति प्राचीन काल में सभी संस्कृत वाङ्मय गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणविधया ही गृहीत होते थे, तथापि रचयिता के निर्देश के कारण वेद को छोड़कर अन्य संस्कृत वाङ्मय पौरुषेय कहा जाता है। अत एव मीमांसा के प्रथमाध्याय तृतीयपाद के कल्प सूत्राधिकरण में 'मन्वादि स्मृति, पाणिन्यादि व्याकरण, आपस्तम्ब आदि कल्प सूत्र, पुराण आदि का वेदवत् प्रामाण्य नहीं होगा। क्योंकि ये सभी वेद के समान गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण के रूप से ही गृहीत होते हैं और अर्थतः-शब्दतः इनमें वेद की तुल्यता पायी जाती है।' यह पूर्व पक्ष उपस्थापित किया गया है। यह विषय पहले प्रतिपादित किया जा चुका है।

उपदेशक्रम

'त्रिपदा गायत्री' में 'पद' शब्द का अर्थ पाद है। तीन पादवाली यह ऋचा है। पाद ही को 'पच्छ' कहते हैं। पच्छशः इसका उपदेश होता है। इस मन्त्र के साथ ओङ्कार एवं व्याहृतियों को जोड़ना आवश्यक है। 'सप्रणवां सव्याहृतिकाम्' कहा गया है। प्रणव ओंकार, व्याहृतियाँ भूः भुवः स्वः' ये तीन हैं। ओङ्कार के साथ एक-एक व्याहृति को पाठ के साथ जोड़कर मन्त्र का उपदेश करना है—

ओं भूः तत्सवितुर्वरेण्यम्, ओं भुवः भर्गो देवस्य धीमहि, ओं स्वः धियो

यो नः प्रचोदयात्–ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

उपदेश के समय यह रीति है, जप के समय ओंकार के साथ तीनों व्याहृतियों को कह कर पूरे मन्त्र को पढ़ा जाता है। किन्तु हर एक पाद में रुक कर जपना चाहिए। प्रणव और व्याहृतियाँ एक पाद और मन्त्र का तीन पाद मिलाकर 'चतुष्पदा गायत्री' भी कहा जाता है। एक-एक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं किन्तु पहले पाद में ७ ही अक्षर हैं। एक अक्षर के न्यून होने पर भी छन्द की हानि नहीं समझी जाती है। पिङ्गलाचार्य ने अपने पिङ्गल सूत्र में इसकी व्यवस्था दी है। और एक अक्षर की न्यूनता से यह मन्त्र 'निचृद् गायत्री' छन्द कहलाता है। इस मन्त्र के ऋषि विश्वामित्र, छन्द निचृद् गायत्री, देवता सविता हैं। उपनयन के समय बालक अर्थ समझने में यद्यपि क्षमता नहीं रखता है तथापि उसे अर्थ समझा देना चाहिए। जो इस प्रकार है—उस सर्वश्रेष्ठ देव सविता-सूर्य के भर्ग-तेज को धीमहि-ध्यान करते हैं जो हमारे धियः-चित्तवृत्तियों को प्रेरणा देता है।

मानव शुभ और अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति के प्रति कोई कारण होना चाहिए। प्रवृत्ति एक कार्य है, वह कारण के बिना हो नहीं सकती। सत्त्वोद्रेक होने पर शुभ कार्य, एवं तम और रज के उद्रेक से अशुभ कार्य होते हैं। अतः दोनों प्रकार के कार्य गुणप्रयुक्त माने जाते हैं। सत्त्व, रज और तमस भी कारणकृत हैं। अर्थात् इनका भी कारण होना चाहिए। इनका कारण सत्संग और दुस्संग है। आचार्य द्वारा उपदिष्ट मन्त्र का संग मानव के साथ बाल्यकाल से ही है। मानव का यह एक 'सखा' है। सखा का अर्थ पहले कहा जा चुका है। वह सर्वदा हमारे साथ रह कर अच्छे कर्मों में प्रेरित करता रहता है। साथ रहने का फल है–सत्त्वगुणसंपन्न होना। अत एव 'गायन्तं त्रायते' गायत्री कहलाता है। गायन्तं जप करने वाले की त्रायते रक्षा करता है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य तीनों वर्णों का यह त्राण करने वाला है। न केवल जप करने वाले ही रक्षित होते हैं किन्तु सारा जगत् रक्षित होता है।

तैत्तिरीय आरण्यक में एक आख्यायिका से यह विषय स्पष्ट होता है—

रक्षांसि ह वा पुरोनुवाके तपोग्रमतिष्ठन्त

इस अनुवाक में कहा गया है कि–राक्षस मिलकर पूर्व दिशा में उग्र तपस्या किये हैं। 'तान् प्रजापतिर्वरेणोपामन्त्रयत' ब्रह्मा जी ने तपस्या से सन्तुष्ट हो कर राक्षसों से कहा कि वर माँगो। 'तानि वरमवृणीतादित्यो नो योद्धा इति' वे वर माँगे कि सूर्य हमसे युद्ध करे। (हम उनसे लड़ेंगे) 'तान् प्रजापतिरब्रवीत् योधयध्वमिति' प्रजापति ने कहा–लड़ो। 'तस्मा-दुत्तिष्ठन्त ँ्हवा तानि रक्षाँ्सि आदित्यं योधयन्ति यावदस्तमन्वगात्' अत एव उदित होते हुए राक्षस आदित्य से लड़ने लगते हैं सूर्यास्तपर्यन्त। आदित्य के इस गतिरोध से जगत् की स्थिति नहीं बनेगी। गतिशील आदित्य से ही स्थावर-जंगमों की स्थिति ठीक रहती है। राक्षसों के इस संकट से बचने के लिए ब्रह्मा जी ने उपाय बनाया—

तानि ह वा एतानि रक्षांसि गायत्र्या अभिमन्त्रितेनाम्भसा शाम्यन्ति

युद्ध में लगे राक्षस द्विजों द्वारा गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से शान्त होते हैं।

तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखा गायत्र्या अभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति

इसलिए ब्रह्मवादी त्रैवर्णिक पूर्वाभिमुख होकर गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल को गोमुखी मुद्रा से आकाश में फेकते हैं।

ता एता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहारुणे द्वीपे निक्षिपन्ति।

ये फेंके हुए जल वज्र-ब्रह्मास्त्र बन कर उन राक्षसों को नरक द्वीप में निक्षिप्त करते हैं।

यत्प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति तेन पाप्मानमवधून्वन्ति उद्यन्तमस्तंयन्तमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुतेऽसावादित्यो ब्रह्मेति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद

गोमुखी मुद्रा से जो जल फेका जाता है वही अर्घ्यप्रदान से व्यवहृत है। अर्घ्यप्रदान कर आत्मप्रदक्षिणा इसलिए की जाती है कि राक्षसों को हननरूप दुःख देने से जो पाप लगा है उससे उन्मुक्त हों। अर्थात् उस पाप को प्रदक्षिणा क्रिया से धो देते हैं और आदित्य का ब्रह्मरूप से ध्यान करते हैं, तथा ब्रह्म ही बन जाते हैं। जो इस विषय को जानता है वह भी उस फल को प्राप्त करता है।

इस आख्यायिका से यह विदित होता है कि आचार्य द्वारा उपदिष्ट गायत्री मन्त्र का न केवल आध्यात्मिक शक्ति-संवर्धन ही फल है किन्तु व्यावहारिक जगत् में जितने प्रतिबन्धक हैं उन्हें दूर कर सुखमय जीवन-यापन भी फल है। और यह भी ज्ञातव्य है कि उपदेश के अनर्ह व्यक्तियों को इस मन्त्र के अर्थज्ञान मात्र से ही वह फल प्राप्त हो जाता है। इतनी उदारता से वेद भगवान् के व्यवहार करते रहने पर भी हम नियमों का उल्लङ्घन करना चाहते हैं। 'उपदेश' का इतना महत्त्व है, यह एक संस्कार है। उपदेश के विना, पुस्तक देखकर मन्त्र का पाठ निष्फल ही है। उपनयन में ब्रह्मोपदेश ही प्रधान कर्म है। साङ्गोपाङ्ग उसका अनुष्ठान अनिवार्य है। पहले कहा जा चुका है कि अंग-सहित ही प्रधान फलप्रद होता है।

सन्ध्यानुष्ठान

उपदेश-संस्कार से प्राप्त सावित्री का उपयोग प्रधानतः त्रिकाल के सन्ध्यानुष्ठान में है। उपनयन संस्कार का मूहूर्त प्रायः प्रातः से मध्याह्न काल तक ही निकाला जाता है। अतः सावित्री के उपदेश के समय मध्याह्न आ जायेगा। इसलिए माध्याह्निक कृत्य वटु के द्वारा आरम्भ कराना चाहिए।

त्रिकाल संध्यानुष्ठान के लिए सामान्य पदार्थों का निर्देश किया जाता है—आचमन, प्राणायाम, संकल्प, मार्जन, जलप्राशन, आचमन, पुनर्मार्जन, जलत्याग, आचमन, अर्घ्यप्रदान का संकल्प, सावित्रीमन्त्र से अर्घ्यप्रदान, आत्मैक्यानुसन्धान, आचमन, नवग्रहतर्पण और द्वादशनाम तर्पण, आचमन। इन पदार्थों में अर्घ्यप्रदान प्रधान है और अवशिष्ट पूर्वोत्तर अंग हैं।

सावित्री जप-विधि

आचमन, आसनशुद्धि, प्राणायाम, संकल्प, प्रणव के ऋषि-छन्द-देवताओं के निर्देश, भू आदि सात व्याहृतियों के ऋषि-छन्द-देवता के निर्देश के वाद कम-से-कम तीन प्राणायाम ऋषि-छन्द-देवता निर्देश, करके गायत्री का अपने में आवाहन, सावित्री मन्त्र के ऋषि-छन्द-देवता का निर्देश, अनन्तर सावित्री का जप, जप संख्या समाप्त होने पर प्राणायाम, आवाहित देवता का विसर्जन, सूर्योपस्थान, सूर्यप्रार्थना, दिशाओं का ध्यान और नमस्कार, आचमन। इन पदार्थों में मन्त्रजप और उपस्थान प्रधान है। अवशिष्ट सभी पूर्वोत्तर अंग हैं। ये अंग तीनों कालों में समान हैं। जलप्राशन और उपस्थान मन्त्र को छोड़कर शेष सभी पदार्थों का मन्त्र एक है। हर एक पदार्थ का मन्त्र के साथ निरूपण किया जाता है—

आचमन

दाहिने हाथ में चुलुकमुद्रा वनाकर आचमनी से जल लेकर तीन वार पीना, आचमन कहलाता है। इस का मन्त्र है—

केशवाय नमः, नारायणाय नमः माधवाय नमः

कुछ परम्परा में अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नमः भी मन्त्र प्रचलित है। हाथ के साथ ओष्ठका संयोग होने से उच्छिष्ट समझा जाता है। अतः आचमनी-जल से हाथ को धोकर द्वादश नामों का उच्चारण किया जाता है—केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, ऋषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर। यह एक आचमन है।

प्राणायाम

यौगिक प्रक्रिया से प्राणायाम कष्टसाध्य है। अतः वाल्य काल से अभ्यासार्थ वैदिकों ने उपाय वतलाया है। प्राणायाम में पूरक-कुम्भक-रेचक तीन क्रियाएँ होती हैं। वायु को भरना पूरक, रोक रखना कुम्भक एवं छोड़ना रेचक कहलाता है। नासिका के दाहिने रन्ध्र से वायु को भरना पूरक, एवं वायें रन्ध्र से छोड़ना रेचक होता है। पूरण-रेचन के विना भीतर ही रोक रखना कुम्भक है। ये क्रियाएँ वाल्य काल में साध्य नहीं है। अतएव अभ्यासनिमित्त एक मुद्रा दिखलायी गयी है। दाहिने हाथ के अंगुष्ठ एवं कनिष्ठिका-अनामिका को ऊपर उठाकर मध्यमा-तर्जनी को करतल में दवाकर रखने से जो मुद्रा वनती है वही प्राणायाम-मुद्रा है। ऊपर उठे हुए अंगुष्ठ से नासिका के दाहिने रन्ध्र को दवाकर वायें रन्ध्र से वायु को निर्दिष्ट समय तक खींचकर कनिष्ठिका-अनामिका से दवाने पर वायु कुछ पल तक भीतर ही रहेगा, तदनन्तर अंगुष्ठ को खोल देने पर नासिका के रन्ध्र से धीरे-धीरे छोड़ने से एक प्राणायाम होगा। तदनन्तर उसी मुद्रा से दाहिने कान का स्पर्श करना है। पुनः उसी मुद्रा से कनिष्ठिका-अनामिका से वायें रन्ध्र को दबाकर दाहिने से खींचकर वायें से छोड़ना चाहिए। यह दूसरा प्राणायाम है।

वाल्यावस्था में इतना ही सिखाना उचित है और यही साध्य है। नासिकारन्ध्र

की क्रिया में परिवर्तन आवश्यक है क्योंकि प्रकृति स्वयं इस क्रियां का परिवर्तन करती रहती है। निर्दिष्ट समय तक दाहिने रन्ध्र से एवं निर्दिष्ट समय तक बायें रन्ध्र से श्वास स्वयं निकलती रहती है। बायें रन्ध्र को 'इडा' और दाहिने रन्ध्र को 'पिंगला' कहते हैं। इन रन्ध्रों को पूरण और रेचन क्रिया बदलती रहती है। अत एव हमें भी प्राणायाम के समय परिवर्तन करना चाहिए। योगी लोग जानते हैं पूरण-रेचन इडा-पिंगला से कब होता है। रेचन-पूरण क्रिया के साथ 'कुम्भक' क्रिया भी है। वह वहिःकुम्भक एवं अन्तः-कुम्भक दो प्रकार की है। वायु को रोक रखने को कुम्भक कहते हैं। अन्तः कुम्भक में वायु भीतर ही रुकती है, वहिःकुम्भक में वाहर रुकी रहती है। अन्तःकुम्भक खतरनाक है क्योंकि सुषुम्ना नाड़ी को छोड़कर दूसरी नाड़ी में वायु के घुस जाने पर शरीर में गड़बड़ी हो सकती है। वहिःकुम्भक उतना खतरनाक नहीं है। ये प्रक्रियाएँ योगियों से सीखनी चाहिए। प्राण के आयाम-दीर्घता को प्राणायाम कहते हैं। दीर्घ आयु की प्राप्ति प्राणायाम से होती है।

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्

जैसा कहा है उसी प्रकार आयु का संचय प्राणायाम से होता है। इसे बाल्यावस्था में ही समझा कर वालक को इस क्रिया में प्रवृत्त कराना चाहिए। चित्तवृत्ति-निरोध का प्राणायाम बड़ा साधन है।

प्राणायाम का मन्त्र है—प्रणव ओंकार सहित ७ व्याहृतियाँ एवं सावित्री मन्त्र।

ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्, ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयाद्। ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवस्सुवरोम्।

वालक अपनी शक्ति के अनुसार इस मन्त्र को पूरक-रेचक में विभक्त कर लेगा।

संकल्प

प्राणायाम के अनन्तर तिथि-वार-नक्षत्रों का निर्देश कर—'माध्याह्निकं करिष्ये' (मध्यान्ह में), 'सायं सन्ध्यामुपासिष्ये' (सायंकाल), 'प्रातस्सन्ध्यामुपासिष्ये' (प्रातःकाल), में संकल्प है।

मार्जन

संकल्पानन्तर मार्जन है। अपने शरीर में जल को छिड़कना मार्जन कहा जाता है। मार्जन का मन्त्र है—

आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन, महे रणाय चक्षसे। यो वः शिवतमो रसः, तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः, तस्मा अरं गमामवो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥

इन ऋचाओं से मार्जन कर लेना चाहिए। जल देवता को संवोधित कर यह मन्त्र प्रवृत्त है। मन्त्र का अर्थ है—हे आपः! जल देवताएँ! जिस कारण से आप लोग मयोभुवः

स्थ—स्नान-पान आदि से सुख देने वाले वने हो, उस कारण से जल तत्त्व हम लोगों के वल-पुष्टि का पोषण करे। ताकि रमणीय उस महान् पर तत्त्व को देख सकें। जो आप के सुमधुर रस हैं उनको पाने के योग्य वनायें। जैसे कि माताएँ अपने सन्तान की वृद्धि को चाहती हुई उत्तम गुणों की प्राप्ति कराती हैं, वैसा आप करें। हे आप ! सभी पापों को दूर करने हेतु हम आप की शरण लेते हैं। हे आपः ! हमें वृद्धिगत कराओ।

इस मन्त्र से यह तत्त्व निकलता है कि व्यावहारिक जगत् में रहते हुए भी मानव परमात्म-तत्त्वदर्शन के योग्य अपने को वनाता है और तदर्थ नित्यकर्मानुष्ठान में लगे रहना चाहिए। परतत्त्वदर्शन के प्रतिवन्धक हैं पाप, उनको दूर करने की शक्ति नित्य कर्मों में विद्यमान है। पहले कहा जा चुका है कि शुद्ध तत्त्व को प्राप्त करने के लिए अपने को शुद्ध रखना होगा। क्रियाओं के अनुष्ठान मात्र से शुद्धता की प्राप्ति नहीं होगी किन्तु देवताओं की प्रीति भी अपेक्षित है। उस प्रीति को तव प्राप्त कर सकते हैं जव नित्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए देवता की शरण लें। इसी तत्त्व को यह मन्त्र प्रतिपादित करता है।

जल-प्राशन

मार्जन के अनन्तर दाहिने हाथ की चुलुक मुद्रा में आचमनी से जल डालकर विहित मन्त्र का उच्चारण कर उस जल को पीना जलप्राशन कहलाता है। त्रिकाल की संध्या में मन्त्र भिन्न हैं। माध्याह्निक का मन्त्र है—

आप पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम्। यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापोऽसताञ्च प्रतिग्रहँ स्वाहा।

मन्त्र का अर्थ कहा जा चुका है।

सायं सन्ध्या का मन्त्र है—

अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यदह्ना पापमकार्षम्, मनसा वाचा हस्ताभ्याम्, पद्भ्यामुदरेण शिश्ना। अहस्तदवलुम्पतु। यत्किञ्च दुरितं मयि। इदमहं माममृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा॥

अर्थात् अग्नि देव, क्रोध, क्रोध को उत्पन्न करने वाले उन पापों से मेरी रक्षा करें जो क्रोध के द्वारा किये गये हैं। दिन में परहिंसाचिन्तन रूप मानसिक, अनृतभाषण रूप वाचिक, हाथ के द्वारा किये गये ताडन, अभिचार आदि पुरस्कृत, गो-ब्राह्मणों को लात मारना पादकृत, अभोज्यभक्षण रूप उदरकृत, अगम्यगमन रूप शिश्नकृत और जो कुछ मेरे में विद्यमान पापसमूह हों, उसे दिन के अधिष्ठाता देव दूर करें। और मैं लिङ्ग शरीररूप अपने को मरणरहित सत्य, ज्योति, स्वयं प्रकाश वस्तु में हवन करता हूँ। इस होम के द्वारा वे पाप भस्म हो जायँ।

इस मन्त्र से भी उसी परमात्म तत्त्व के साथ अपना तथा अपने द्वारा अनुष्ठित कर्म का संवन्ध स्पष्ट प्रतीयमान होता है।

प्रातस्सन्ध्या में सूर्य देवता वाला यही मन्त्र है, और मन्त्रार्थ भी वही है—

सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद्रात्र्या पापमकार्षम्, मनसा वाचा हस्ताभ्याम् पद्भ्यामुदरेण शिश्ना। रात्रिस्तदवलुम्पतु। यत्किञ्च दुरितं मयि। इदमहं माममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा॥

इस सन्दर्भ में लोग प्रश्न करते हैं कि यदि मन्त्र में पापनिवारण का सामर्थ्य है तो दिन और रात्रि में पाप कर्म करते जायँ और मन्त्र से अभिमन्त्रित जल के प्राशन से किये हुए पाप कट जायँ, तो क्या आपत्ति है? प्रश्न तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। कुशल चिकित्सक व्यक्तिक्रम से उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा कर ठीक कर देते हैं। कुशल चिकित्सक को पाकर स्वयं अपने को छुरी आदि से मार कर चिकित्सक के पास कोई नहीं जाता। चिकित्सक पर हमारा विश्वास है ही, विश्वास मात्र से अनियमित कार्यों से व्याधिग्रस्त होकर चिकित्सक के पास जाना अच्छे लोग पसन्द नहीं करते। शरीर-मलको दूर करनेहेतु पवित्र जल विद्यमान है। जानकर दूषित मलों से शरीर को अपवित्र कर शुद्ध जल से नहाना बुद्धिमत्ता का विषय नहीं। इसी प्रकार मन्त्र में पाप को दूर करने की शक्ति है, ऐसा समझकर पाप कर्मों को करना उचित नहीं। किन्तु प्रश्नकर्ता को मन्त्र पर विश्वास हो तो ऐसा प्रश्न नहीं करेगा, क्योंकि जैसे मन्त्र हैं वैसे ही 'नानृतं वदेत्' 'न हिंस्यात्' न स्तेयात्' 'न परदारान् गच्छेत्' इत्यादि निषेधशास्त्रों में भी विश्वास होना चाहिए। यदि विश्वास है तो निषेधाज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। यदि विश्वास नहीं तो हिन्दू नहीं है। हिन्दुत्व का ज्ञापक है वेद। उसके अनुशासन में रहने वाले सभी हिन्दू हैं। अतः हिन्दू होकर ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता।

जैसा कि कहा जा चुका है पुण्य और पाप अदृष्ट वस्तु हैं। उनकी सत्ता में वेदशास्त्र ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष आदि नहीं। इन विषयों का बाल्यकाल से ही बालकों को परिचय कराना है। उस शिक्षा के लुप्त हो जाने के कारण ही आज हमारा समाज दूषित दीख रहा है। शिक्षा में परिवर्तन लाने पर ऐसे प्रश्नों का उत्थान नहीं होगा। आधुनिक लोगों का टेकनालजी, इञ्जिनियरिंग आदि में ज्ञान भले ही कराया जाय, किन्तु प्राचीन विज्ञान का भी ज्ञान करना भारत के लिए आवश्यक है। कम-से-कम चिरन्तन संस्कृति का लोप होते हुए देख कर शिक्षाधिकारियों को बाल्यकाल की पढ़ाई में चिरन्तन संस्कृति के भी परिचय कराने की जरूरत है।

पुनर्मार्जन

जलप्राशन के बाद पुनः मार्जन है। पूर्वोक्त मन्त्र के साथ एक ऋचा इसमें अधिक है—

दधि क्राव्णो अकारिषम् जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्रण आयू ँ षि तारिषत्॥

इसके बाद पूर्वोक्त 'आपो हिष्ठा' मन्त्र से मार्जन कर चुलुक मुद्रा में आचमनी से जल ले सूँघ कर जमीन में छोड़ दे।

अर्घ्यप्रदान

अनन्तर 'अर्घ्यप्रदानं करिष्ये' संकल्प कर प्रणव-व्याहृति सहित गायत्री का उच्चारण कर प्रातः तीन, मध्याह्न में एक, और सायं तीन अर्घ्य देना चाहिए। अर्घ्य देने की मुद्रा पहले कही जा चुकी है। कुछ लोग कालातीत प्रायश्चित्त के निमित्त तीनों कालों में एक अर्घ्य अधिक देते हैं। यह उचित है। सही काल में हम अनुष्ठान कर नहीं पाते हैं, और काल अतिसूक्ष्म है। इससे जो व्यतिक्रम हो जाता है उसकी निवृत्ति के लिए यह प्राश्चित्तार्घ्य उचित है।

आत्मैक्यानुसन्धान

अर्घ्यदान के अनन्तर 'असावादित्यो ब्रह्मा, ब्रह्मैवाहमस्मि' कह कर आदित्य और अपने को ब्रह्मस्वरूप का अनुसन्धान करना चाहिए। इस अनुसन्धान का फल आख्यायिका के द्वारा कहा जा चुका है।

नवग्रह तर्पण, केशव आदि द्वादश नाम तर्पण

अर्घ्यदान के अनन्तर आचमन कर सूर्य आदि नौ ग्रहों का तथा केशव आदि बारह नामों का तर्पण करना चाहिये। 'आदित्यं तर्पयामि' 'सोमं तर्पयामि' 'अङ्गारकं तर्पयामि' 'वुधं तर्पयामि' 'वृहस्पतिं तर्पयामि' 'शुक्रं तर्पयामि' 'शनैश्चरं तर्पयामि' 'राहुं तर्पयामि' 'केतुं तर्पयामि' 'केशवं तर्पयामि' 'नारायणं तर्पयामि' 'माधवं तर्पयामि' 'गोविन्दं तर्पयामि' 'विष्णुं तर्पयामि' 'मधुसूदनं तर्पयामि' 'त्रिविक्रमं तर्पयामि' 'वामनं तर्पयामि' 'हृषीकेशं तर्पयामि' 'पद्मनाभं तर्पयामि' 'दामोदरं तर्पयामि'। तर्पणानन्तर आचमन करना चाहिए।

जप विधि

सावित्री मन्त्र जप-विधि का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करते हुए अशक्त या विकलाङ्गों के लिए भी यथाशक्ति न्याय से जप-विधि का निरूपण किया जा रहा है। यथान्याय से करने वालों को साङ्गोपाङ्ग विधान का ज्ञान आवश्यक है। अशक्ति से पूरा नहीं कर सकते हैं, लेकिन विधान का ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान से भी वह फल प्राप्त हो जाता है जो अनुष्ठान करने पर मिलता है। इसका विचार 'विषय प्रवेश' में हो चुका है। जप के आरम्भ में सर्वदेवनमस्कार, भूसंस्कार, आसनसंस्कार करना चाहिए।

सर्वदेव नमस्कार मन्त्र

आ ब्रह्मलोकादाशेषादालोकालोकपर्वतात्।
ये वसन्ति द्विजा देवास्तेभ्यो नित्यं नमो नमः॥

ब्रह्म लोक से, पाताल से, लोकालोक पर्वत प्रदेश से लेकर जो देवताएँ वास करती हैं उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

भूसंस्कार-मन्त्र

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः ।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते गच्छन्तु शिवाज्ञया ॥

जो भूत इस भूमि में रहने वाले एवं विघ्न करने वाले हैं, वे इस प्रदेश से शिवजी की आज्ञा से हट जायँ । यह मन्त्र कहकर अपने बायें पाँव से तीन बार भूमि का आघात कर—

उग्रभूतपिशाचाद्या ये च वै भूमिधारकाः ।
एतेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ॥

इस पद्य का उच्चारण करना चाहिए । उग्र जो भूत अर्थात् पिशाचादिक भूमि को धारण करते हैं, इनके विरोध के विना मैं अपने ब्रह्मकर्म-सावित्री मन्त्रजप का आरंभ करता हूँ ।

आसन-संस्कार

आसन को बिछाने का मन्त्र है—

पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वञ्च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ॥

इस मन्त्र के ऋषि-छन्द-देवताओं का उच्चारण कर मन्त्र बोलकर आसन बिछाना चाहिए । पृथिव्या मेरुपृष्ठ ऋषिः, अनलं छन्दः, कूर्मो देवता । हे पृथ्वि, सभी लोक तुम्हारे द्वारा धारण किये जाते हैं, हे देवि पृथ्वि ! तुम विष्णु भगवान् से धारण की गयी हो, तुम मुझको धारण करो और इस आसन को पवित्र करो ।

आसन पर बैठकर गुरु-देवताओं को नमस्कार कर प्राणायाम के बाद—

प्रातस्सन्ध्या-गायत्रीमहामन्त्रजपं करिष्ये (प्रातःकाल)
माध्याह्निकगायत्रीमहामन्त्रजपं करिष्ये (मध्याह्न)
सायं सन्ध्यागायत्रीमहामन्त्रजपं करिष्ये (सायंकाल)

ऐसा संकल्प करना चाहिए ।

प्राणायाम

प्राणायाम मन्त्र प्रणव, व्याहृतियों, सावित्री मंत्र, एवं गायत्रीशिर से समन्वित है । ओं (प्रणव) भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् (ये सात व्याहृतियाँ हैं) ये व्याहृतियाँ प्रणव-पूर्वक ही होंगी । ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः आदि । व्याहृतियों के अनन्तर सावित्री मंत्र, तदनन्तर—

ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम्

यह गायत्रीशिर कहलाता है । समग्र प्राणायाम मन्त्र का यह आकार है—

ओं भू, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्
ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्,
ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ।

यह एक प्राणायाम मन्त्र है। पूरक-रेचक-कुम्भकों में विभाग कर इस मन्त्र का उच्चारण कर लेना चाहिए। इनके ऋषि-छन्द-देवताएँ इस प्रकार हैं—

प्रणवस्य ऋषिर्ब्रह्मा, देवी गायत्रीच्छन्दः, परमात्मा देवता भूरादिसप्तव्याहृतीनाम् अत्रि भृगु-कुत्स वसिष्ठ-गौतम-काश्यप-आङ्गिरस ऋषयः, अग्नि-वाय्वर्क-वागीश-वरुणेन्द्र-विश्वेदेवा देवता गायत्रीशिरसः ब्रह्मा ऋषिः, अनुष्टुप्छन्दः, परमात्मा देवता।

इतना स्मरण कर प्राणायाम मन्त्र को बोलकर कम से कम तीन प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम करने की शक्ति न हो तो दस बार प्रणव-व्याहृति-सावित्री-गायत्रीशिर सहित मन्त्र को पढ़ना चाहिए—

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामस्स उच्यते॥

अमृतनादोपनिषत्प्रमाण के अनुसार पूर्वोक्त मन्त्र प्राणायाम का अङ्ग माना जाता है।

समग्र प्राणायाम मन्त्र का अर्थ

भूः भुवः आदि सत्यपर्यन्त सात लोकों को व्याहृति कहते हैं। इन लोकों को ब्रह्म-स्वरूप मानकर ब्रह्म का प्रतिपादक प्रणव-ओंकार इन व्याहृतियों के साथ जोड़ा जाता है सावित्री मन्त्र भी ब्रह्मप्रतिपादक माना गया है। अत एव उस मन्त्र के शुरू में भी प्रणव को जोड़ना चाहिए।

सवितुः—अच्छे कार्यों में प्रेरक देवस्य—द्योतमान परमेश्वर का वरेण्यं-श्रेष्ठ तद्भर्गः-उस तेज को धीमहि—ध्यान करते हैं यः—जो परमेश्वर नः—हमारी धियः—बुद्धिवृत्तियों को प्रचोदयात्—तत्त्व बोध में अच्छी तरह प्रेरित करे, इस प्रकार के तेज का ध्यान करते हैं। गायत्रीशिर का अर्थ है—इस मन्त्र के आदि और अंत में प्रणव का उच्चारण आवश्यक है। आपः—नदी-समुद्र-कूप-तडाग आदि में विद्यमान जल और ज्योतिः—अग्नि-आदित्य आदि तेज, और रसः—मधुर-अम्ल आदि षड्रस, अमृतं—देवताओं का अशन अमृतरस यह सभी ओं प्रणव के स्वरूप हैं, यही प्रणवप्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व है, और व्याहृतियाँ भूर्भुवस्स्वः भी ओं प्रणव-प्रतिपाद्य हैं।

प्राणायाम क्रिया का अङ्गभूत यह मन्त्र हमें शिक्षित करता है कि बाल्य अवस्था से ही हमारी चित्तवृत्ति परमेश्वर तत्त्व को पाने में तत्पर हो। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि—तीनों कालों की सन्ध्या-अनुष्ठानों में अर्घ्यप्रदान, सावित्री मन्त्रजप और उपस्थान प्रधान है। अवशिष्ट पूर्वोत्तर में अनुष्ठेय पदार्थ अंग हैं। आचमन-मार्जन-जलप्राशन-तर्पण आदि अंग इस शरीर को पवित्र करते हुए प्रधान कर्म के सहायक होते हैं। प्रधान अर्घ्यप्रदान, जप एवं उपस्थान के मन्त्र ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादक हैं। शुद्ध एवं निर्मल तत्त्व के ध्यान में चित्तवृत्तियों को भी निर्मल रखना है। अत एव पूर्वोत्तर अंगों की आवश्यकता है। यदि हम यावज्जीव अन्त तक इन अंगों के अनुष्ठान में क्षमता नहीं रखते हैं तो असाध्य अंगों को छोड़ भी सकते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामर्थ्य रहते हुए अंगों को छोड़ दें।

अशक्त व्यक्तियों के लिए ही यथाशक्ति न्याय है, सशक्तों को साङ्ग प्रधान करना है। सामर्थ्य रहते हुए भी कदाचित् हम सन्ध्या के समय यात्रा में हों या कुछ विघ्न उपस्थित हो गया हो तो संन्ध्यासमय मन्त्र मात्र पढ़ने के भी अनुशासन मिलते हैं। अथवा अतीत समय में प्रायश्चित कर नित्य कर्म का अनुष्ठान अवश्य होगा। यदि हम नित्य कर्मों से भ्रष्ट हो जाते हैं तो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य कहाने के कैसे अधिकारी बन सकते हैं। अतः प्रधान का अनुष्ठान साङ्ग होना चाहिए। इस प्रकार के अनुष्ठाताओं को कर्तव्यनिष्ठ कहते हैं। जो यथाशक्ति न्याय से प्रधान मात्र का अनुष्ठान करते हैं वे कर्तव्य से भ्रष्ट नहीं कहलायेंगे। क्योंकि नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से फलविशेष की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु न करने पर जो प्रत्यवाय लगेगा उससे मुक्त होते हैं। यही यथाशक्ति न्याय का तात्पर्य है।

गायत्री आवाहन

प्राणायाम के अनन्तर 'आयातु वरदा' इस मन्त्र से अपने में सावित्री का आवाहन कर लेना चाहिए।

आयात्वित्यनुवाकस्य वामदेव ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, गायत्री देवता, गायत्र्यावाहने विनियोगः।

आयातु वरदा देवी अक्षरं ब्रह्म सम्मितम्।
गायत्रीं छन्दसां मातेदं ब्रह्म जुषस्व नः॥

ओजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामासि विश्वमसि विश्वायुः सर्वमसि सर्वायुरभिभूरोङ्गायत्रीमावाहयामि सावित्रीमावाहयामि सरस्वतीमावाहयामि।

मन्त्रार्थ जानने के पूर्व यह निश्चय कर लेना है कि–इस मन्त्र में गायत्री-सावित्री-सरस्वती इन तीन नामों का उल्लेख पाया जाता है। क्या ये तीनों भिन्न-भिन्न देवताएँ हैं? अथवा एक ही देवता की भिन्न क्रियाएँ हैं? इन तीनों शब्दों को स्त्रीलिंग में होने से लोक में देवी-परक व्यवहार मिलता है। अतः देवियों का नाम है। यदि हम गायत्रीऋक् सावित्रीऋक् सरस्वतीऋक् मानें तो स्त्रीलिङ्ग की उपपत्ति बन जाती है। आवाहन क्रिया में इस मन्त्र का विनियोग कर रहे हैं—'आयातु' से लेकर 'आवाहयामि' तक एक मन्त्र है। मन्त्र में विद्यमान सामर्थ्य को लेकर मन्त्र का विनियोग माना जाता है। यही मीमांसाशास्त्र की परम्परा है। यद्यपि इस मन्त्र में जैसा आवाहन-प्रतिपादन-सामर्थ्य है उसी प्रकार देवता-प्रकाशनसामर्थ्य भी परिलक्षित है, तथापि आवाहन-क्रिया में मन्त्र का विनियोग कहा गया है। पहले ऋषि-छन्द-देवता के निर्देश के समय गायत्री देवता का निर्देश किया गया। अतः गायत्री को ही सावित्री एवं सरस्वती शब्दों से क्रिया के भेद से एक ही देवता स्वीकृत करना उचित प्रतीत होता है। किञ्च-मन्त्र के अर्थ पर दृष्टि देने से ये तीनों एक ही देवता के बोधक प्रतीत होते हैं। गायत्री का विचार पहले भी किया जा चुका है। जैसे कि 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र हवि के निर्वाप-अलग करने में विनियुक्त होता है और वह मन्त्र अग्निदेवताक माना जाता है, उसी प्रकार

आवाहन क्रिया का यह मन्त्र विनियुक्त होकर गायत्रीदेवताक माना जाता है। इस मन्त्र में 'आयातु' पद में एकवचन है। इससे भी एक देवता निश्चित है। और वह देवता वरदा-अनुष्ठाता की माँग को पूरा करने वाली देवी है। अक्षरं-नाशरहित नित्य ब्रह्म-संमितं-जगत्कारण परमेश्वरतत्त्व का बोधन करने हेतु आयातु-आवे, और छन्दसां-सभी वेदों की माता-जननी यह गायत्री नः-हमें ब्रह्म जुषस्व-ब्रह्म तत्त्व का उपदेश करे, हे गायत्री ! तुम ओजोऽसि बलहेतुभूत अष्टम धातुरूपा हो, सहोऽसि-शत्रुओं को दमन करने की शक्तिरूपा हो, बलमसि-सामर्थ्य रखने वाली हो, भ्राजोऽसि-दीप्तिरूपा हो, देवानां धाम नामासि-इन्द्र आदि देवों के नामों को धारण करने वाली हो, विश्वमसि-समस्त जगद्रूपा हो, विश्वायुः सर्वमसि-समस्त जगत की प्राणरूपा हो, अभिभूः-पापों का अभिभव-नाश करने वाली हो ओं-प्रणवस्वरूपा हो। इस प्रकार की रक्षण करने वाली, प्रेरणा देने वाली एवं मेरे पुत्र-पौत्र आदि परंपरा में संबन्ध रखने वाली देवी गायत्री का आवाहन करता हूँ। इस प्रकार के मन्त्रार्थ को समझने पर मन्त्र गायत्री-देवताक सिद्ध होता है। अतः एक ही देवता है उसकी शक्तियाँ भिन्न हैं।

सावित्री-जप अङ्गन्यास-करन्यास

आवाहनानन्तर 'सावित्र्या ऋषिः विश्वामित्रः, निचृद् गायत्री छन्दः, सविता देवता', ऋषिच्छन्द-देवताओं का स्मरणकर अङ्गन्यास-करन्यास भी किये जाते हैं—

तत्सवितुः ब्रह्मात्मने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, वरेण्यं विष्ण्वात्मने तर्जनीभ्यां नमः, भर्गो देवस्य रुद्रात्मने मध्यमाभ्यां नमः, धीमहि ईश्वरात्मने अनामिकाभ्यां नमः, धियो यो नः सदाशिवात्मने कनिष्ठिकाभ्यां नमः, प्रचोदयात् सर्वात्मने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः,

इसी प्रकार

तत्सवितुः हृदयाय नमः, वरेण्यं विष्ण्वात्मने शिरसे स्वाहा, भर्गो देवस्य रुद्रात्मने शिखायै वषट्, धीमहि ईश्वरात्मने कवचाय हुम्, धियो यो नः सदाशिवात्मने नेत्रत्रयाय वौषट , प्रचोदयात् सर्वात्मने अस्त्राय फट्. भूर्भुवस्सुवरोमिति दिग्बन्धः।

ध्यान—

मुक्ता विद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाश्शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥
यो देवस्सवितास्माकं धियो धर्मादिगोचरः।
प्रेरयेत्तस्य यद्भर्गस्तद्वरेण्यमुपास्महे ॥

पहले ध्यानश्लोक में पाँच मुख, तीन नेत्र, किरीट, तत्त्व वर्ण, दस भुजाएँ और उनके आयुधयुक्त देवी का उल्लेख है। यह सगुण उपासकों का चित्रण है। द्वितीय श्लोक में तेजोरूपी निर्गुण परतत्त्व का चित्रण है। जो निर्गुण परतत्त्व की उपासना में असमर्थ

हैं उन्हें चित्तवृत्ति-निरोध के लिए एक भव्य चित्र दिखलाया गया है। इस प्रकार ध्यान करके—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च शतमष्टोत्तरं जपेत्।
दशापत्सु जपेद्देवीमष्टाविंशतिमष्ट वा॥

इस स्मृत्यर्थ सारवचन के अनुसार कम-से-कम १०८, १०, २८, ८ संख्या से नियमित तीनों कालों में तीनों वर्ण वाले जप करें। जो अशक्त हों या आपदा से घिरे हों, या यात्रा में संलग्न हों; उनके लिए संख्या का वैषम्य है। दोनों हाथों की अञ्जलियों को मुख-पर्यन्त उठाकर प्रातःकाल में, हृदय-देश-पर्यन्त उठाकर माध्याह्निक काल में, अञ्जलि को नाभिपर्यन्त रख कर सायंकाल में जप करना चाहिए। इस प्रकार अंजलि रख कर जप करने पर जपमाला की आवश्यकता नहीं है। संख्या की गणना दाहिने हाथ की अंगुलियों के पर्वों से करनी होती है। दाहिने हाँथ के अंगुष्ठ से अनामिका के मध्यम पर्व से प्रदक्षिण क्रम से तर्जनी के अंतिम पर्व तक दस संख्या होती है। मध्यमा के मध्यम एवं अन्तिम पर्व को मेरु मानते हैं। इस प्रकार का विधान स्मृतियों में मिलता है—

प्रारभ्यानामिकायास्तु मध्यमे पर्वणि क्रमात्।
तर्जनीमूलपर्यन्तं जपेद्दशसु पर्वसु॥
मध्यमाङ्गुलिमूले तु यत्पर्वद्वयं भवेत्।
तं वै मेरुं विजानीयात् जपे तं नातिलङ्घयेत्॥

यह शङ्ख स्मृति है। जप की समाप्ति पर पुनः पूर्ववत् करन्यास-अंगन्यास ध्यान 'भूर्भुवस्सुवरोमिति दिग्विमोकः' कह कर प्रातस्सन्ध्यागायत्र्युपस्थानं करिष्ये (माध्याह्निकगायत्र्युपस्थानं करिष्ये, सायंसन्ध्यागायत्र्युपस्थानं करिष्ये) ऐसा बोल कर उठना चाहिए।

उपस्थान

उपस्थान शब्द का अर्थ है—मन्त्र बोलते हुए उठना, या समीप में जाना। मन्त्र है—

उत्तमे शिखरे देवि भूम्यां पर्वतमूर्धनि।
ब्राह्मणेभ्यो ह्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम्॥

भू-मण्डल में विद्यमान मेरुपर्वत के मूर्धा-उत्तमशिखर में अवस्थित हे देवि-गायत्रि! ब्राह्मणेभ्यः—न केवल ब्राह्मण किन्तु गायत्र्युपासक सभी के अनुग्रहार्थं आयी हुई तुम इनकी अनुमति से यथासुख अपने स्थान पर लौट जाओ।

तीनों काल के उपस्थान में यह मन्त्र समान है। कुछ परंपरा में इस मन्त्र के अनन्तर संगृहीत कुछ ऋचाओं का पाठ प्रचलित है। प्रातःकाल में—

मित्रस्य चर्षणी धृतःश्रवो देवस्य सानसिम्।
सत्यञ्चित्रश्रवस्तमम्॥
मित्रो जानन् यातयति प्रजानन् मित्रो दाधार पृथिवीमुतद्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे सत्याय हव्यङ्घृतवद्विधेम॥

प्रसमित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्यशिक्षति व्रतेनं।
न हन्यते न जीयते त्वोतोनैनमꣳहो अश्नोत्यन्ति तो न दूरात्॥

माध्याह्निक सन्ध्यां में—

आ सत्येन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवना विपश्यन्॥
उद्वयं तमसस्परि पश्यन्तो ज्योतिरुत्तरम्।
देवन्देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥
उदुत्यं जातवेदसन्देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥
चित्रन्देवानामुदगादनीकञ्चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।
तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।

पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदश्शतं नन्दाम शरदश्शतं मोदाम शरदश्शतं भवाम शरदश्शतं श्रृणवाम शरदश्शतं प्रब्रवाम शरदश्शतं अजीतास्स्याम शरदश्शतञ्ज्योक्च सूर्यन्दृशे॥ य उदगान्महतोऽर्णवाद्विभ्राजमानस्सरिरस्य मध्यात्समावृषभो लोहिताक्षस्सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु।

सायं सन्ध्या में—

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय।
त्वामवस्युराचके॥
तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳसमान आयुः प्रमोषीः॥
यश्चिद्धिते विशो यथाप्रदेववरुणव्रतम्।
मिनीमसि द्यवि द्यवि॥
यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मायुयोपिममानस्तस्मादेनसो देवरीरिष.॥
कित वासो यद्रिपुर्न दीवि यद्वाघासत्यमुतयन्न विद्म।
सर्वा ता विष्य शिथिरेव देवाथा ते स्याम वरुणप्रियासः॥

क्रमशः इनका पाठ होता है—

उपस्थान मन्त्र पढ़कर 'सन्ध्यायै नमः, सावित्र्यै नमः, गायत्र्यै नमः, सरस्वत्यै नमः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो नमः, कामोऽकार्षीन्मन्युरकार्षीन्नमो नमः' नमस्कार कर अपने गोत्र और प्रवर का निर्देश करना है।

दिशाओं को नमस्कार

प्रदक्षिण क्रम से—प्राच्यै दिशे नमः, दक्षिणायै दिशे नमः, प्रतीच्यै दिशे नमः, उदीच्यै दिशे नमः, पूर्वाभिमुख होकर ऊर्ध्वाय नमः, अधराय नमः अन्तरिक्षाय नमः,

भूम्यै नमः, विष्णवे नमः, ब्रह्मणे नमः, अञ्जलिबन्ध नमस्कार कर दक्षिणाभिमुख होकर यमाय नमः—

यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च।
वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च ॥
औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने।
वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नमः ॥

चित्रगुप्ताय वै नमोनम इति।

पश्चिमाभिमुख होकर—

ऋतꣳसत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्।
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः ॥

विश्वरूपाय वै नमोनम इति।

उत्तराभिमुख होकर—

नर्मदायै नमः प्रातः नर्मदायै नमो निशि।
नमोऽस्तु नर्मदे तुभ्यं त्राहि मां विषसर्पतः ॥
जरत्कारोर्जरत्कार्वां समुत्पन्नो महायशाः।
अस्तीकस्सत्यसन्धो मां पन्नगेभ्योऽभिरक्षतु ॥

पन्नगेभ्योऽभिरक्षत्वों नम इति।

अपसर्प सर्प भद्रन्ते दूरं गच्छ महायशः।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते अस्तीकवचनं स्मरन् ॥

पूर्वाभिमुख होकर—

नमस्सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥
ध्येयस्सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणस्सरसिजासनसंनिविष्टः।
केयूरवान्मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥
शङ्खचक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागतम् ॥
आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति ॥

केशवं प्रतिगच्छत्यों नम इति।

साष्टाङ्ग नमस्कार कर अपने गोत्र-प्रवर आदि को कहना चाहिए। अन्त में आचमन कर 'विश्वानि देव सवितः दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव ॥' मन्त्रपूत जल से आसन् का प्रोक्षण कर हृदय का स्पर्श करना चाहिए।

ब्रह्मसमर्पण

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुध्यात्मना वा प्रकृतेस्स्वभावात्।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयामि॥

इस मन्त्र को बोलकर आचमन करना होता है।

विशेष

इतने सन्दर्भ से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'गायत्री' शब्द जैसे देवता का बोधक है वैसे ही ऋचा का भी बोधक है। देवता का अपने में आवाहन 'आयातु वरदा' इस मन्त्र से किया गया और ऋचा के ऋषिच्छन्द-देवता का उल्लेख कर जप किया गया। अतः जप समाप्त होने पर गायत्री देवता का (विसर्जन) उपस्थान और मन्त्र को सूर्यदेवताक होने से 'मित्रस्य चर्षणी' इत्यादि मन्त्र से उपस्थान सङ्गत ही नहीं, अपितु आवश्यक भी हैं। लेकिन दिशाओं का नमस्कारात्मक उपस्थान क्यों करना है? यह प्रश्न उत्थित हो सकता है। इसके उतर में कहा जाता है—मीमांसा द्वितीय अध्याय चतुर्थ पाद के शाखान्तराधिकरण न्याय से अपनी शाखा में नहीं पढ़े हुए अङ्ग जो शाखान्तर में विद्यमान हों उनका उपसंहार कर लेना चाहिए। शाखान्तर में—

नमः प्राच्यै दिशे याश्च देवताः एतस्यां प्रतिवसन्त्येताभ्यश्च नमः

पूर्व दिशा की अधिष्ठात्री देवता के लिये नमस्कार और उस दिशा में वास करने वाले देवताओं को भी नमस्कार। इसी प्रकार सभी दिशाओं का उल्लेख मिलता है।

नमो दक्षिणायै दिशे याश्च देवता एतस्यां प्रतिवसन्त्येताभ्यश्च नमः, नमः प्रतीच्यै दिशे याश्च देवता एतस्यां प्रतिवसन्त्येताभ्यश्च नमः, नमः उदीच्यै दिशे याश्च देवता एतस्यां प्रतिवसन्त्येताभ्यश्च नमः, नम ऊर्ध्वायै दिशे याश्च देवता एतस्यां प्रतिवसन्त्येताभ्यश्च नमः, नमो अधरायै दिशे याश्च देवता एतस्यां प्रतिवसन्त्येताभ्यश्च नमः, नमोऽवान्तरायै दिशे याश्च देवता एतस्यां प्रतिवसन्त्येताभ्यश्च नमः (तै० आ० २, २०)

गायत्री-मन्त्र-प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व सर्वदेवतात्मक है, अतः प्रधानभूत गायत्र्युपस्थान का दिशा एवं दिशाओं में विद्यमान देवताओं का उपस्थान अङ्ग है। पहले कहा जा चुका है कि अंगों में यथाशक्ति न्याय से अनुष्ठान शास्त्रसंमत है। ब्रह्मचारी वटु को सर्वाङ्गसहित सन्ध्या क्रम को कण्ठस्थ करा देना चाहिए, जिससे सर्वाङ्गोपेत सन्ध्याक्रम का अनुष्ठान करते हुए वार्द्धक्य एवं रोग आदि से आक्रान्त होनेपर यथाशक्ति न्याय का अवलम्बन किया जा सके। प्रदर्शित मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं—

सन्ध्यावन्दनाङ्गत्वेन शिशुमारोपस्थानमुक्तम्, अथ दिगुपस्थानमुच्यते

कदाचित् परम्परागत संप्रदाय में यह प्रचलित न होगा तथापि प्रचलित कराने से कोई दोष नहीं है; ऐसा समझ कर सन्ध्या का क्रम दिखलाया गया है। किञ्च-परम्परा में दो प्रकार के प्रश्न प्रचलित हैं—१ क्या सन्ध्या किये हो? २ क्या सन्ध्यावन्दन किये हो?

प्रथम प्रश्न गायत्र्युपस्थान पर्यन्त से समाहित हो जाता है। द्वितीय प्रश्न वन्दनात्मक (नमस्कारात्मक) दिशाओं के उपस्थान-पर्यन्त समाहित होता है।

कतिपय लोगों की परम्परा में 'वन्दनमंत्र' अलग माना जाता है जिसका उपदेश सावित्रीमन्त्र (गायत्री) के साथ किया जाता है। यह क्रम बालक की पुरोवृद्धि में अत्यन्त सहायक माना जाता है। बुद्धि-प्रकर्ष, सच्छीलता सदाचार-संपत्ति में यह वन्दनमन्त्र, सहायक माना गया है। यदि आचार्य इस परम्परा से दीक्षित हों तो उसके द्वारा मन्त्रोपदेश हो सकता है। ओंकार प्रणव के अ उ म को विभक्त कर मातृका के रूप में 'अं उं मं' बनाकर वाला त्र्यक्षरी के एक-एक अक्षर के साथ क्रमशः मातृकाओं को जोड़कर उपदेश किया जाता है। यही वन्दनमन्त्र है। यह भी द्वितीय-प्रश्न का उत्तर हो सकता है।

समिदाधान

उपनयन के प्रकरण में माध्याह्निक संदर्भ को लेकर प्रातः सन्ध्या एवं सायं सन्ध्या का स्वरूप दिखलाया गया है। बाल्यकाल से बालक को जितना आध्यात्मिक शक्ति से संपन्न कराना हो उतने उपाय वैदिक साहित्य में बतलाये गये हैं। उनमें गायत्रीजप जैसा आध्यात्मिक-शक्ति-संवर्धक है वैसा समिदाधान भी है। ब्रह्मचारी के लिए प्रातः और सायं अवश्य कर्तव्य है। यह कर्म अग्नि उपासनात्मक है। भारतीयों की यह विशेषता है कि वे जनन से लेकर मरणपर्यन्त 'अग्नि' से नियत संबन्ध रखते हैं। गर्भावस्था में माता की जठराग्नि से शिशु अग्निमान् है, शैशव एवं बाल्य अवस्था में अग्नि के विना जठराग्नि-संपन्न नहीं होते हैं, और ब्रह्मचर्य अवस्था में समिदाधान कर्म से गृहस्थाश्रम में गार्ह्य अग्नि से संपन्न होकर अन्त में उसी अग्नि से औदर्ध्वदेहिक संस्कार से संस्कृत होते हैं। यह अग्नि का संबन्ध अविच्छिन्न परंपरा से आ रहा है। ब्रह्मचारी का 'समिदाधान' पलाश-अश्वत्थ आदि समिधाओं का अग्नि में मन्त्र पुरस्सर आधान प्रक्षेप कहा जाता है, गृहस्थ का अग्नि कर्म 'ओपासनस्थालीपाक' एवं श्रौत अग्निकर्म 'अग्निहोत्र' शब्द से व्यवहृत होता है। जीवन या मरण अग्नि से संबन्ध रखता है, अत एव 'यावज्जीव' ब्रह्मचारी को समिदाधान एवं गृहस्थ को औपासन-स्थालीपाक या अग्निहोत्र करना पड़ता है।

समिदाधान की प्रक्रिया

आचमन, प्राणायाम संकल्प (प्रातस्समिदाधानं करिष्ये, सायं समिदाधानं करिष्ये) कर अग्नि को दाहिने हाथ द्वारा-इन्धन गोमयकण्डिकाओं से प्रज्ज्वलित करना चाहिए। प्रज्ज्वलित करने को 'परिसमूहन' कहते हैं। इस परिसमूहन क्रिया के मन्त्र हैं—

अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि एवं माँ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु, यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्

अर्थात् अच्छी कीर्ति से संपन्न हे अग्ने ! मुझको अच्छी कीर्तिसंपन्न बनाओ, अग्ने ! जैसे तुम कीर्ति-संपन्न हो वैसे मुझको बनाओ और मेरे आचार्य को बनाओ, हे अग्ने ! जैसे

तुम देवताओं के यज्ञसंवन्धी निधि की रक्षा करते हो उसी प्रकार मैं मानवसंवन्धी वेदरूपी निधि का रक्षक वनूँ। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'मनुष्याणां वेदस्य निधिपः' मानव मात्र से संवन्ध रखने वाले वेद का निर्देश किया गया है। मानव मात्र से संबन्ध जिस वेद का है उसके रक्षण का भार मुझे मिले यह अग्नि से प्रार्थना की जाती है।

परिसमूहन के अनन्तर दाहिने हाथ में जल लेकर अग्नि का परिषेचन-खड़े होकर प्रदक्षिणक्रम से समिधाओं का अग्नि में प्रक्षेप इस मन्त्र से किया जाता है—

अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे, यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसानि अनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी अन्नादो भूयासꣳस्वाहा

अर्थात् उस अग्निदेव के लिए मैं समिधा लाया हूँ जो महान् हैं और जातवेदा हैं—उत्पन्न सभी प्राणियों को जानने वाले हैं (जातान् जातान् वेत्तीति जातवेदाः)। हे अग्ने! जैसे तुम समिधा से वृद्धिङ्गत होते हो उसी प्रकार मैं आयु, बुद्धि, तेजः पशु आदि प्रजा, ब्रह्मवर्चस से समृद्ध रहूँ, हमारे आचार्य जीवपुत्र हों, मैं मेधावी वनूँ, आचार्य की आज्ञाओं का यथावत् आचरण करूँ और यश, तेज, ब्रह्मवर्चस, अन्न से परिपुष्ट रहूँ 'स्वाहा' सुहुत हो। इसी मन्त्र की दो और आवृत्ति कहकर दो वार समिधा का प्रक्षेप करना चाहिए।

कुछ लोग इस मन्त्र के विकल्प में 'एषा ते' मन्त्र को कहते हैं और समुच्चय भी मानते हैं। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

एषा ते अग्ने समित् तया वर्धस्व चाप्यायस्व च तयाऽहं वर्द्धमानो भूयासमाप्यायमानश्च स्वाहा।

इस मन्त्र को पूर्वमन्त्र से जोड़कर तीन आवृत्ति कहकर तीन समिधाओं का प्रक्षेप किया जाता है। यह समुच्चय पक्ष है।

तीन समिधाओं का प्रक्षेप करके दाहिने हाथ से परिसमूहन-परिषेचन करना चाहिए। अनन्तर दोनों हाथों को अग्नि में तपा कर मुख एवं शरीर को पोंछना चाहिए। पोछने का मन्त्र है—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण। मेधां मे देवस्सविता आदधातु मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ'॥

इस मन्त्र के द्वारा विभिन्न नामधारी अग्निदेव से आयु, वर्चस्, तेज, मेधा की प्रार्थना की जाती है। मानव के लिए इन तीन-चारों की ही आवश्यकता होती है। इन की प्राप्ति से ही उज्ज्वल और मेधावी वनकर जीवन यात्रा को सुचारु विताया जा सकता है। अग्नि में समिधा का प्रक्षेप कर ब्रह्मचारी अग्निदेव को प्रज्ज्वलित करता है एवं प्रज्ज्वलित देव से उनके समान अपने वनने की अग्निदेव से प्रार्थना करता है। अग्निदेव भी ब्रह्मचारी के प्रार्थनानुसार यदि फलदाता हम वनेंगे तो भविष्य में यह मेरी सेवा करता हुआ

मुझे तृप्त करेगा तथा चरित्रवान् बनेगा, ऐसी भावना करते हैं। इस प्रकार की पारस्परिक भावना जीवनोपयोगी बनती है। पहले कहा जा चुका है कि आदान-प्रदान से ही संसार-यात्री चलती है। समिधा के प्रक्षेपमन्त्र एवं प्रार्थनामन्त्र के अर्थों पर ध्यान देने से यह प्रतीत होगा कि आदान-प्रदान से ही जीवन-यात्रा चल सकती है।

पारस्कराचार्य के मत में पूर्वोक्त मन्त्रों के विकल्प या समुच्चय पक्ष का आश्रयण कर मन्त्र की आवृत्ति से तीन बार समिधा का प्रक्षेप होता है। मतान्तर में बारह मन्त्रों से बारह समिधाओं का प्रक्षेप कहा गया है।

उपस्थान

गायत्रीजप के अनन्तर जैसे उपस्थान निरूपित किया गया, उसी प्रकार समिदाधान के अनन्तर अग्नि का उपस्थान करना चाहिए। उपस्थान का अर्थ पहले कहा जा चुका है—मन्त्रोच्चारण करते हुए उठना। उपस्थान मन्त्र शाखान्तर में पठित है—

यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम्, यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्, यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्, मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु, मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु, मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु।

अग्नये नमः

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं हुताशन।
यद्धुतं तु मया देव परिपूर्णं तदस्तु ते॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥

इस प्रकार उपस्थान मन्त्र कह कर उठना चाहिए। तदनन्तर साष्टाङ्ग नमस्कार करना चाहिए। अपने गोत्र-सूत्र-वेदशाखा-नाम का कीर्तन करना चाहिए। बैठकर त्र्यायुषी करण अर्थात् भस्म को लेकर जल से मिश्रित कर अनामिका से 'मेधावी भूयासम्' ललाट में, 'तेजस्वी भूयासम्' दाहिने बाहु में, 'वर्चस्वी भूयासम्' बायें बाहु में, 'ब्रह्मवर्चसी भूयासम्' हृदय पर, और 'आयुष्मान् भूयासम्' कण्ठ में भस्म को लगा लेना चाहिए। अनन्तर—

श्रद्धां मेधां यशः प्रज्ञां विद्यां बुद्धिं श्रियं बलम्।
आयुष्यं तेज आरोग्यं देहि मे हव्यवाहन॥

इस प्रकार प्रार्थना कर किये गये कर्म को ब्रह्मार्पित करना चाहिए—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुध्यात्मना वा प्रकृतेस्स्वभावात्।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयामि॥

ऐसा कह कर जल छोड़ देना है। इतने क्रिया-कलाप से यह शिक्षा मिलती है कि अपने कर्तव्य को हम करते जायँ, नामस्मरण भी करें, और ब्रह्मार्पण भी करें जिससे क्रियाओं में ज्ञानतः या अज्ञानतः जो भी न्यूनता हो उसे परिपूर्ण होने से परमात्मा के हम अनुग्रहपात्र बनें।

भिक्षाचरण आदि नियम

समिदाधान कर्म की समाप्ति के अनन्तर भिक्षा का आचरण-अनुष्ठान करना है। भिक्षा लेने का मन्त्र है–'भवति भिक्षां देहि'। भवत्शब्द के स्त्रीलिंग में संबुध्यन्त के एक वचन में 'भवति' होता है। इससे प्रतीत होता है कि स्त्रियों से ही भिक्षा लेनी है और स्त्रियों का ही भिक्षा देने में अधिकार है। स्त्रियों में माता प्रथम कोटि में आती है। अत एव माता से प्रथम भिक्षा लेनी चाहिए। तदनन्तर और स्त्रियों से जो प्रत्याख्यान–निषेध करने वाली नहीं हैं। प्रथम दिन की भिक्षा प्रथम-प्रथम माता से लेनी है। अनन्तर तीन, छः, बारह स्त्रियों से भिक्षा लेने का विकल्प है। विकल्प से प्रतीत होता है कि—अपने आहार के लिए पर्याप्त भिक्षा मिल जाने पर औरों से नहीं लेनी चाहिए। स्त्रीलिंग भवच्छब्द के प्रयोग से यह भी आशय निकलता है कि भारतीय परम्परा में गृहिणियों का ही भिक्षा देने में अधिकार है। भवच्छब्द गौरववाचक है। हिन्दी में 'आप' शब्द का प्रयोग करते हैं। भिक्षा लेते समय अन्य स्त्रियों में अपनी माता के समान दृष्टि रख कर ब्रह्मचारी को व्यवहार करना चाहिए, ऐसा 'भवति' शब्द सिखलाता है। बाल्यकाल की यह शिक्षा भविष्य के व्यवहार में सहायक होती है। यह भिक्षाचरण ब्रह्मचारी के लिए नित्य कर्म माना गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए इसका अनुष्ठान अनिवार्य है। इस मन्त्र में 'भवति' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ब्रह्मचारी के लिए क्रमशः आदि, मध्य और अन्त में होता है। भवति भिक्षां देहि, भिक्षां भवति देहि, भिक्षां देहि भवति।

विशेष

आदि, मध्य और अन्त में 'भवति' शब्द के प्रयोग का तात्पर्य है—धर्म का अनुष्ठान, उसका रक्षण एवं फलोपभोगरूप प्रक्रिया को अवद्योतित करना। रक्षण करने का अधिकारी क्षत्रिय एवं फल को उपभोगयोग्य बनाने का अधिकारी वैश्य है। रक्षक हों चाहे उपभोगयोग्य बनाने वाले हों; उनका अनुष्ठान तो अनिवार्य है। अनुष्ठाताओं को रक्षण देते हुए स्वयं भी अनुष्ठान करें एवं उपभोगयोग्य बनाते हुए स्वयं भी अनुष्ठान करें, यह निष्कर्ष निकलता है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी कैसे भिक्षा लेंगे क्योंकि उन्हें लेने का अधिकार नहीं है। तब मन्त्र के मध्य और अन्त में 'भवति' शब्द का विनियोग कैसे संगत होगा? इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है—पारस्कर गृह्यसूत्र में 'तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः, षड्-द्वादशापरिमिता वा, मातरं प्रथमामेके' भिक्षा लेने का ऐसा निर्देश मिलता है। तीन या छः, बारह-अपरिमित उन स्त्रियों से, जो भिक्षा लेने का प्रत्याख्यान करने वाली न हों भिक्षा लेना चाहिए। और कुछ लोग इन स्त्रियों में माता से प्रथम भिक्षा लेना मानते हैं। यह सूत्र का अर्थ निकलता है। इसमें तीन या छः आदि विकल्प पक्ष हैं। माता से लेना प्रथम दिन का विषय है, ऐसी व्याख्याताओं ने व्यवस्था की है। यहाँ भिक्षा लेना 'प्रतिग्रह' नहीं है, किन्तु 'परिग्रह' है। 'प्रतिग्रह' ही निषिद्ध है। यम-नियम-आसन आदि में 'अपरिग्रह' भी परिगणित है। 'अपरिग्रह' शब्द का अर्थ शरीरयात्रा के निर्वाह से अधिक पदार्थों का ग्रहण किया गया है। अतः 'परिग्रह' प्रतिग्रह के समान नहीं है। प्रतिग्रह दान लेने के अर्थ में प्रयुक्त

होता है। वह क्षत्रिय-वैश्यों के लिए निषिद्ध है। शरीरयात्रा के निर्वाहहेतु जो ग्रहण है वह 'परिग्रह' है, अतः निषिद्ध नहीं है। जैसे समिदाधान नियमेन नित्य अनुष्ठेय है, वैसे ही भिक्षाचरण भी त्रैवर्णिकों के लिए नित्य है।

'भवति' शब्द का आदि, मध्य और अन्त में प्रयोग करने के विधान से यह परिलक्षित होता है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठान में अपने-अपने अधिकार के अनुसार लगे रहने पर प्रकृति भी अनुकूल रहेगी, सामाजिकों की जीवनयात्रा में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। जैसे कि धरती को विविध संस्कारों से संस्कृत कर बीज बोते हैं— वह अंकुरित-पल्लवित-पुष्पित-फलित होता है; उसी प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र इन चारों वर्णों के बालक क्रमशः अपने संस्कारों से संस्कृत होकर समाज की स्थिरता के लिए कारण होते हैं। आदि, मध्य और अन्त में प्रयुक्त 'भवति' शब्द पूर्वोक्त को ही सूचित करता है।

आचार्य-निवेदन मौञ्जी-दण्ड-धारण आदि नियम

भिक्षा के द्वारा प्राप्त पदार्थों को आचार्य के पास लाकर सूचित कर देना चाहिए— भिक्षा से यह प्राप्त हुआ। यही आचार्यनिवेदन कहलाता है। तदनन्तर मौञ्जी-दण्ड को धारण कर ब्रह्मचारी मौन हो कर सायंपर्यन्त नियमों का पालन करते हुए सायं सन्ध्या-समिदाधान करके आचार्य की अनुज्ञा से भोजन करेगा। पारस्कराचार्य ने यहाँ अनेक प्रकार के व्रतों का निरूपण किया है। उन व्रतों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी वेद का अध्ययन करेगा अध्ययन शब्द का अर्थ पूर्व कहा जा चुका है—गुरुमुखोच्चारण के अनुसार शिष्य का उच्चारण अध्ययन है। उपनयन के दिन जो व्रत कहे गये हैं उनका यथावत् पालन करते हुए अपनी कुल-परंपरागत वेदशाखा का अध्ययन होगा।

उपाकर्म

वेदाध्ययन के आरम्भ को 'उपाकर्म' कहते हैं। 'वेदारम्भ', 'रक्षाबन्धन' शब्दों से उपाकर्म का व्यवहार है। सिंह राशि में सूर्य का सञ्चार होने पर श्रवणनक्षत्रयुक्त पूर्णिमा का दिन इस कर्म के लिए विहित है। पूर्णिमा, संक्रान्ति ग्रहण आदि दोष हो जानेपर पञ्चमी या हस्त नक्षत्र में करने का विधान है। प्रतिवर्ष इस कर्म का अनुष्ठान होता है, किन्तु उपनयन संस्कार के वर्ष में इस तिथि-नक्षत्र के आ जाने पर प्रथमोपाकर्म आवश्यक है। आचार्य अपने शिष्यों सहित अपने गार्ह्य अग्नि में इस कर्म का अनुष्ठान करेगा। गार्ह्य अग्नि न होने पर लौकिक अग्नि में भी यह कर्म किया जा सकता है। इस कर्म के संकल्प में—

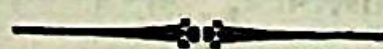
अधीतानां छन्दसामयातयामत्वाय, अध्येष्यमाणानां छन्दसां वीर्यवत्वाय अध्यायोपाकर्म करिष्ये

यह निर्देश किया जाता है। आचार्य का संकल्प है एवं शिष्य भी इस संकल्प का उच्चारण करते हैं। जो अधीत वेदभाग हैं वे 'यातयाम'-गतरस न हों एवं आगे अध्ययन किये जाने वाले जो वेदभाग हैं, उनकी वीर्यवत्ता के निमित्त इस उपाकर्म को करता हूँ, यह संकल्प

का अर्थ है। इससे सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि 'अधीत' और 'अध्येष्यमाण' शब्दों के निर्देश से अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अनादिकाल से हमारे देश में चली आ रही है। इस अनुष्ठान का 'अध्यायोपाकर्म' और 'वेदारम्भ' नाम है। अध्याय और वेद का अर्थ एक ही है। गो-बलीवर्द न्याय एवं ब्राह्मण-परिव्राजक न्याय के अनुसार वेद और अध्याय शब्द को सामान्य-विशेषपरक माना जाता है। पहले कहा जा चुका है कि कोई भी सामान्य विशेष से रहित नहीं होता। इस कर्म में यह विशेषता है कि ब्रह्मचारी-गृहस्थ सभी सम्मिलित होते हैं और संकल्प से लेकर होमसमाप्ति-पर्यन्त सभी सम्मिलित व्यक्ति आचार्य की उक्तियों का अनुसरण कर मन्त्र बोलते हैं। इससे आपसी सहभावना की चेतना जागृत होती है। केवल ब्राह्मण ही नहीं, अपितु चारों वर्ण सम्मिलित होकर इस कार्य का अनुष्ठान करते हैं। ब्रह्मचारियों के वेष एवं भाषा में विविधता के बावजूद आचरण की एकता को लेकर सहभाव की चेतना के जागरण में यह 'उपाकर्म' महत्त्वपूर्ण साधन है।

अध्यायोत्सर्जन

आचार्य अग्निकार्य पूर्वक जैसे वेदारम्भ का अनुष्ठान करते है, उसी प्रकार 'श्रावण्यां पौर्णमास्यामुपाकृत्य तैष्यां पौर्णमास्यामुत्सृजेत्' इस विधि के अनुसार उत्सर्ग भी अग्निकार्य पूर्वक करते हैं। उत्सर्जन कर्म में भी शिष्य संमिलित होते हैं। उत्सर्गानन्तर छः वेदाङ्ग का अध्ययन होता है। यह अध्ययन छः वेदाङ्गों सहित होगा वेद के जिससे अर्थों का भी ज्ञान प्राप्त हो। यह बारह वर्ष का पाठ्यक्रम वेदाध्ययन को समाप्त कर वाक्यार्थ-विचार के लिए गुरु कुल में वास करते हुए मीमांसा का भी दो-तीन वर्ष पढ़ना विहित है। अपनी वेदशाखा को इस नियम से अध्ययन कर वेदान्तर की एक एक शाखा का अध्ययन प्राचीन लोग करते थे। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यम्' इस स्मृति के अनुसार ४८ आयु तक नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को पालन करते हुए वेदों की रक्षा होती थी। वेदाध्ययन को समाप्त किये हुए ब्रह्मचारी स्नातक कहलाते हैं। स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, विद्याव्रतस्नातक। इनमें जो वेदाध्ययन को समाप्त कर व्रत को समाप्त न करते हुए समावर्तन करने से विद्यास्नातक। व्रत को समाप्त कर वेदाध्ययन को समाप्त न कर सहावर्तन करते हों वे व्रतस्नातक, वेदाध्ययन और व्रत दोनों को समाप्त कर समावर्तन करते हों वे विद्या व्रतस्नातक। इस प्रकार के स्नातक अपने आचार्य से आज्ञा लेकर 'अधीत्य स्नायात्' विधि से स्नान माने समावर्तन संस्कार करेगा।



समावर्तन

ब्रह्मचारी कहे गये नियमों सहित गुरुकुल में वास करके अङ्गों सहित अपनी शाखा का एवं वाक्यार्थ-ज्ञान के लिए मीमांसा का अध्ययन कर आचार्य से अनुज्ञा लेकर समावर्तन संस्कार करेगा। समावर्तन शब्द का अर्थ है—गृहीत ब्रह्मचर्य व्रत का समापन; अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की योग्यता का संपादन। समावर्तन का 'स्नान' शब्द से भी व्यवहार करते है। 'स्नान' नहाना भी है। उपाकर्म एवं उत्सर्जन में कही गयी दो वेदाहुतियों को करके समिदाधान करना होता है। तदनन्तर आचार्य को प्रणाम कर उनसे आज्ञा प्राप्तकर अग्नि के उत्तर भाग में रखे गये वस्त्र से वेष्टित आठ जलपूरित कुम्भों से जल लेकर ब्रह्मचारी अभिषेक-स्नान करेगा। कुम्भ से जल-ग्रहण और अभिषेक के अलग-अलग मंत्र है—

ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरूजस्तनूदूषु-रिन्द्रियहाृतान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि

'आकाशाद्वायुः वायोरग्नि-अग्नेरापः'

जल-ग्रहण के इस तैत्तिरीयोपनिषत्प्रमाण के अनुसार जल की सृष्टि अग्नि से मानी जाती है। यदि अग्नि से जल की सृष्टि होती तो जल में अग्निसंबन्धी दूषित पदार्थो का प्रवेश संभव है, उनको विजहामि-त्याग देता हूँ और जो रोचन है—मङ्गलकर है उसका ग्रहण करता हूँ। वे दूषित पदार्थ कौन है—

गोह्य उपगोह्यः मयूष मनोहा अस्खलः विरूजः तनूदूषुः इन्द्रियहा

ये आठ अमङ्गल पदार्थ हैं। जलतत्त्व को छिपाने वाला पदार्थ गोह्य, शरीर तपाने वाला पदार्थ उपगोह्य, अग्निदाह करते हुए मनुष्य को विकृतमुख कर नाश करने वाला पदार्थ मयूष कहलाता है—मयून् विकृतमुखान् कृत्वा स्यति-हन्ति, ऐसा विग्रह है; मनोहा-मन को हरण करने वाला, अस्खलः-अपने कार्य से स्खलित होने वाला, विरुजः-नाना रोग करने वाला, तनूदूषुः-शरीर को दूषित करने वाला, इन्द्रियहा-इन्द्रियों को नष्ट करने वाला। इन आठ अमाङ्गलिक तत्त्वों को विसृजामि-त्यागता हूँ एवं रोचनः-रुचिकर माङ्गलिक वस्तु का ग्रहण करता हूँ। सभी कुम्भों से जल ग्रहण का एक ही मन्त्र है। अभिषेक मन्त्र—

तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय

उस जल से मैं अपना अभिषेक करता हूँ—जिससे संपत्ति यश, वेद और ब्रह्मवर्चस प्राप्त हो। ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद है।

येन श्रियामकृणुतां येनावमृशतां सुराम्।
येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः।

दूसरे कुंभ से जल लेकर अभिषेक का यह मन्त्र है। हे अश्विनी जिस जल से आप दोनों देवताओं की संपदाओं को बड़ाये हो, जिस जल से तुम दोनों अमृत को प्राप्त किये हो जिस जल से नेत्र को अभिषिञ्चन किये हो जिससे तुम दोनों का यश प्राप्त हुआ वह मुझे भी प्राप्त हो, कहकर अभिषेक करलेना चाहिए। तीसरे चौथे पाँचवे कुंभों से जल लेकर 'आपो हिष्ठामयोभुवः' आदि तीन मन्त्रों से यथाक्रम अभिषेक कर लेना चाहिए। ये तीनों मन्त्रों को सन्ध्या के प्रकरण में मार्जन सन्दर्भ में व्याख्या हो चुकी है। अवशिष्ट तीन उद-कुंभों से विना मन्त्र से अभिषेक कर कण्ठ से मेखला को उतार कर दण्ड के साथ भूमि में रखकर नूतनवस्त्र धरारण कर लेना चाहिए। तदनन्तर अदित्य का उपस्थान। उस का मन्त्र—

'उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिंमा कुर्वाविदन्मागमय।

उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मां कुर्वाविदन्मागमय।

उद्यन् भ्राजजिष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्सायं यावभिरस्थात्सहस्रसनिरसि सहस्र-सनिं मा कुर्वाविदन्मागमय'॥

इन मन्त्रों को कहकर सूर्य को देखना आदित्योपस्थान है। मन्त्र का तात्पर्य है—हे भगवन् सूर्य ? तुम प्रातः उगते हुए तुम्हारे साथ चलने वाले ऋषि महर्षि गणों से सेवित हो इन्द्र मरुत् आदि देवताओं से भी सेवित होकर रहते हो, और दश संख्या से दान देने वाले हो उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले मुझे भी उतना उससे अधिक दान देने का योग्य वनाओ, एवं मध्यान्ह में सौ संख्या से दान देने वाले वन जाते हो मुझे भी उतना उससे अधिक दाता वनाओ, एवं सायं तुम हजारों संख्या से दान देते हो मुझे भी उस प्रकार वनाओ मैं भी हजारों संख्या से दान दे सकूं।

विशेष

समाज में गृहस्थाश्रम का माहात्म्य दातृत्व शक्ति संपदा से अंकित किया जाता है। इस आश्रम को उपजीवन कर ही अन्य आश्रम चल सकते हैं। जिस प्रकार सूर्य में दातृत्व शक्ति विद्यमान है तादृश शक्ति गृहस्थाश्रमियों को प्राप्त होने पर ब्रह्मचारी, वान-प्रस्थ एवं संन्यास आश्रम वालों की जीवन यात्रा सुख से चल सकती है। अतः ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थ वनने के पूर्व दातृत्वशक्ति को सूर्य से प्रार्थना की जाती है। यह मन्त्र हमें अंकगणित १०, १००, १००० को भी सिखाता है ताकि गृहस्थ अपने जीवन में आय के दशांश को दान में विनियोग करें। कुआँ से जितना जल खींचकर अपने कार्य करते हैं उतना जल कुएँ में स्रोत से भरता रहता है। सूर्य से प्रार्थना करने का तात्पर्य है कि सूर्य अपने किरणों द्वारा जितना सार खींचता है उससे अधिक सार कई प्रकारों से देता है। यदि हम उस शक्ति को प्राप्त करें तो हम भी समाज को उपकार कर सकते हैं। इस भावना से सूर्योपस्थान करना चाहिए। जीवन का मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि

मानवता की सेवा। मानवों में अपङ्गु दुःखी शारीरिक पीड़ा से पीड़ित, दारिद्रय आदि से आक्रांत रहते हैं उन्हें सहायना पहुँचाना ही मानवता की सेवा। यह उन्हीं से साध्य है जो दातृत्व शक्ति और आत्मीय भावना से संपन्न हों। जैसा कि सूर्य विना भेदभाव से जन सामान्य का उपकारक है उसी प्रकार उनसे प्राप्त शक्ति भी जनसामान्य का उपकारक वनें इस आशय से स्नातक प्रार्थना करता है। प्रत्येक स्नातक दैवी शक्ति से संपन्न होकर मानवता की सेवा के निमित्त जगत् में उतरना भारत की परंपरा को सूचित करता है। ब्रह्मचर्य में लिख पढ़कर गुरु की आज्ञा से गुरुकुल से मुक्त होकर बाहर आनेवाले युवकों को यही कार्यक्षेत्र है कि धर्म वुद्धि से अर्थोपार्जन और तदनुसार कामोपभोग करते हुए मानवता की सेवा में लग जाना। वाल्य और कौमार अवस्था में वृद्धोपसेवी होते हुए पढ़ने लिखने में समय बिताकर जिस सहन शक्ति का उपार्जन किया है उसका सदुपयोग की यह समय है। ब्रह्मचर्य में अनुशासित रहने को सीखकर जो स्नातक गृहस्थाश्रम में आता है वह अनुशासित रहने को ही आदत रखेगा। स्नातक ब्रह्मचर्य में विशेष रूप से अग्नि और सूर्य के उपासक रहता था, उसी उपास्य देवता भास्कर से दातृत्व शक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना अनुरूप है।

इस प्रकार आदित्योपस्थान कर ब्रह्मचर्य नियमों को समापन करके वस्त्र अलंकार तिलक उष्णीष अञ्जन छत्र उपानत् आदि को धारण करते हुए कम से कम तीन रात स्नातक व्रतों का पालन करेगा।

स्नातकव्रत

ब्रह्मचारी के नियमों को वतलाते हुए नियम, विधिपूर्वक वतलाये गये, स्नातक नियमों को निषेध पूर्वक वतलाये जाते हैं। इसका तात्पर्य आगे वतलाया जायगा। स्नातक के द्वारा न करने का पदार्थ हैं—नृत्य गीत बाजा वजाना आदि ये जहाँ होते हों वहाँ जाना नहीं चाहिए। रात के समय ग्रामान्तर की यात्रा नहीं करनी चाहिए, यदि आपत से पीडित हों उसके मदद के लिए जा भी सकते हैं,। पेड़ चढ़ना कूप जलाशय आदि में अपने प्रतिबिम्ब को देखना, नग्न होकर स्नान करना, पेड़ों से फलों को गिराना, सन्धि वेला में चलना, प्रातः मध्यान्ह और सायं सन्धि वेला में सूर्य को देखना, विकृत प्रदेश को लाँघना, गाय के दूध पीते हुए बछड़े को रोकना, अश्लील भाषण करना, भिक्षाचरण करना, बालिकाएँ षण्ड रोगी आदियों को उपहास करना, उर्वरा भूमि में मूत्र पुरीष करना विकृत वस्त्र का धारण करना पानी वरसते हुए जाना, धौड़ना आदि वर्जित है। दृढ संकल्प से विचलित होना नहीं चाहिए। सभी से मित्रभाव को छोड़ना नहीं चाहिए ये नियम ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य स्नातक मात्र के नहीं किन्तु 'कामादितरः' कहते हुए पारस्कराचार्य इच्छा होनेपर 'इतर' शूद्र भी इन नियमों को पालन कर सकता है सूचित करते हैं। विधि पूर्वक एवं निषेध पूर्वक नियमों का उपदेश है। विधिपूर्वक उपदेश समग्र विधेय पदार्थ के अनुष्ठान में लागू होता है। अर्थात् विहित पदार्थ में आधाभाग संपन्न किया और आधा भाग को छोड़ दिया है तो विध्यर्थ का अनुष्ठान नहीं माना जाता है। एवं निषेध स्थल में निषेध अवयवों में भी प्रवृत्त होता है। अर्थात् निषिद्ध पदार्थ कलञ्ज में एकदेश

अंश को भक्षण किया समग्र को नहीं किया तो भी निषेध की प्रवृत्ति होगी ही ! अतः इन नियमों को समाज सेवा के निमित्त स्नातक यथावत् पालन करने पर गृहस्थाश्रम जानेका अधिकारी होता है।

ब्रह्मचारी शास्त्रोक्त नियमों को यथारीति से पालन नहीं कर सकता है, इस कारण से कतिपय स्थलों में उपनयन संस्कार के दिन ही समावर्तन संस्कार भी प्रचलित हो गया है। कहीं कहीं ब्रह्मचारी नियमों के यथारीति से पालन न होने पर भी विवाह के पूर्व दिन या विवाह के दिन समावर्तन करते हैं। समावर्तन संवन्धी नियमों का पालन न हो पाता है इस कारण विवाह संस्कार कर लेते हैं। इस व्यतिक्रम का मूल कारण है कि इन संस्कारों को सुचारु कराने के लिए योग्य विद्वान नहीं उपलब्ध हैं। इस न्यूनता को दूर करने हेतु विद्वानों का तैयार कराना आवश्यक है।



विवाह

समावर्तन के अनन्तर विवाह संस्कार का क्रम आता है। जो समावर्तन संस्कार से संस्कृत होता है उसका विवाह संस्कार किया जाता है। मीमांसा शास्त्र का नियम है कि संस्कार उसी का होता है जिसका उपयोग आगे होने वाला हो अथवा जिसका उपयोग हो चुका हो। 'भूतभाव्युपयोगि हि द्रव्यं संस्कारमर्हति' न्याय है। हम अपने परिवार के पुत्र पौत्र आदि का जातकर्म-नामकरण-अन्नप्राशन-उपनयन-विवाह आदि संस्कार करते हैं। हमारे द्वारा किये हुए संस्कारों से पुत्र-पौत्र आदि संस्कृत होते हैं। संस्कृत-इनका उपयोग आगे सामाजिक कार्यों में होने वाला है। अतः हम पिता ज्येष्ठ भ्राता या आचार्य संस्कार करते हैं। संस्कार करने वाले हम भी इन्हीं संस्कारों से अपने पूर्वजों के द्वारा संस्कृत किये गये हैं। यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। अतः यह निश्चय करना मुश्किल है कि कौन पहिला कौन दूसरा, कब से इस परम्परा का आरम्भ हुआ।

अग्नि की आवश्यकता

जो भी हम संस्कार करते हैं वे अग्नि से साध्य होते हैं। विना अग्नि में होम किये संस्कार नहीं होते हैं। हमारे द्वारा किये जाने वाले संस्कार अग्नि साक्षिक होते हैं। अर्थात् उन संस्कारों का साक्षी अग्नि देव होता है। अग्नि को हम मात्र जलानेवाला चीज को नहीं मानते हैं किन्तु देव बुद्धि रख कर चलते हैं। जिन संस्कारों को साधने के लिए अग्नि की अपेक्षा है उस अग्नि का भी संस्कार होता है। यहाँ शंका हो सकती है कि अग्नि के बारे में महाकवि भवभूति ने कहा है कि—

तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः

तीर्थों का जल और अग्नि स्वयं शुद्ध है दूसरे से उनकी शुद्धि नहीं हो सकती है। इस अवस्था में अग्नि का संस्कार क्या होगा? प्रश्न ठीक है किन्तु ये संस्कार अग्नि की शुद्धि के लिए नहीं किये जाते हैं किन्तु संस्कारों से देवत्व बुद्धि के द्वारा फल प्रदान शक्ति का प्रोत्साहन बढ़ता है। जिन मन्त्रों से आज्य आहुतियाँ दी जाती हैं उन मन्त्रों के अर्थ पर ध्यान देने से पता लगता है कि अग्नि देव में क्या शक्ति है? उस शक्ति को अग्नि देव स्वयं उपयोग न करते हुए हम लोगों को शक्ति सम्पन्न कराता है। इसलिए ही सभी सूत्रकार 'अग्न्याधान' 'अग्निसन्धान' क्रिया को प्राथमिकता दिये हैं। अर्थात् इसी संस्कार को प्रथम निरूपण किये हैं।

गृहस्थाश्रम की गरिमा

पारस्कराचार्य अपने गृह्य-सूत्र के आरम्भ में प्रथम सूत्र लिखते हैं—'अथातो गृह्य-स्थालीपाकानां कर्म'। इस सूत्र का अर्थ है अथ-श्रौत कर्मों के निरूपण के अनन्तर, अतः-जिस कारण से श्रौतकर्म निरूपण समाप्त हुआ उस कारण से 'गृह्यस्थालीपाकानां

गृह्य अग्नि से किये जाने वाले कर्मों की व्याख्या की जाती है। कात्यायन, आपस्तम्ब, बौधायन आदि सभी सूत्रकारों ने श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र रूप से तीन प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनमें श्रौतसूत्र सर्वप्रथम प्रणयन कर अनन्तर गृह्यसूत्र का प्रणयन किया। श्रौतसूत्रों में विविध यागों का निरूपण है गृह्यसूत्रों में स्मार्त कर्मों का अर्थात् गृह सम्बन्धी जनन से मरण तक के सभी कर्मों का निरूपण है, धर्म सूत्रों में देश भर के लोगों के लिए सामान्य धर्मो का निरूपण है। इनमें श्रौतसूत्र के सभी कर्म तीन अग्नियों से साध्य हैं। तीनों अग्नियों की उत्पत्ति 'आधान' कर्म से साध्य होते हैं। अर्थात् आधान संस्कार से संस्कृत होकर निष्पन्न होते हैं। अतः त्रेताग्नि से साध्य कर्मों को श्रौतकर्म कहते हैं। उसी प्रकार गृह्यसूत्रों में विहित सभी कर्म 'अग्निसन्धान' कर्म से संस्कृत अग्नि से किये जाते हैं। अतः स्मार्त कर्म कहे जाते हैं। सभी सूत्र ग्रन्थों का 'स्मृति' शब्द से व्यवहार होता है। स्मरणार्थक स्मृति शब्द के द्वारा यह अवगत होता है कि पूर्व अनुभूत पदार्थ को स्मरण कर ऋषियों ने स्मृति ग्रन्थों का प्रणयन किया है। जिन ऋषियों ने श्रौतकर्मों को अनुष्ठान करते हुए स्मरण के द्वारा स्मृति ग्रन्थों को निर्माण किया उनका प्रामाण्य स्वतएव सिद्ध हो जाता है। अतः पारस्कराचार्य सर्व प्रथम 'गृह्यस्थालीपाकानां कर्म' कहते हुए यह निरूपित करते हैं कि स्थालीपाक अग्नि से साध्य कर्म का निरूपण किया जाता है। स्थालीपाक अग्नि को 'औपासनाग्नि' 'आवसथ्याग्नि' शब्द से भी व्यवहार है।

पिता के द्वारा पुत्र को एवं पुत्र के द्वारा पिता को जितने संस्कार किये जाते हों वे इस स्थालीपाक अग्नि से ही सम्पन्न होते हैं। श्रोत आधान से निष्पन्न हो या स्मार्त आधान से, अग्नि का पालन धारण यावज्जीव किया जाना चाहिए। सर्वदा गृहस्थ को अग्निमान् होकर रहना शास्त्रमर्यादा है। इससे घर में अग्नि तैयार रहने से आगन्तुकों के आतिथ्य के लिए गृहस्थ चौबीसों घण्टे प्रतीक्षा में रहते हैं यह प्रतीत होता है। अतएव गृहस्थाश्रम सभी अन्य आश्रमों का उपजीव्य माना जाता है।

आवसथ्याधान का काल

'आवसथ्याधानं दारकाले' इस पारस्कर गृह्यसूत्र से अग्निसन्धान का काल कहा गया है। पाणिग्रहण संस्कार से संस्कृत पत्नो 'दार' शब्द से कही जाती है। अर्थात् दार ग्रहण के अनन्तर पति-पत्नी मिलकर अग्निसन्धान संस्कार के द्वारा अग्नि का आधान करें। इससे यह निकलता है कि एकाकी पति या पत्नी का अधिकार नहीं। क्योंकि गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के बाद सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यों में दोनों मिलकर ही लगना चाहिए। जितना पुरुषों का अधिकार है उतना स्त्रियों का भी सामाजिक कार्यों में अधिकार है। यह हमारी प्राचीन परम्परा है। घर के हों या समाज के हों अथवा राष्ट्र के हों सभी कार्यों में पुरुष स्त्रियों से स्त्रियाँ पुरुषों से परामर्श कर कार्य करते हैं। 'पाणिग्रहणात्तु सहत्वं पुण्यफलेषु' कह कर आपस्तंबाचार्य दोनों का सहभाव बतलाये हैं। हम घर में सहभाव से रहने का अभ्यास करते हों तभी सामाजिकों में सहभाव भावना की चेतना को उत्पन्न करा सकते हैं। आवसथ्याधान से सिद्ध अग्नि के द्वारा अपने घर की उन्नति के साथ-साथ समाज और राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं। आवसथ्याग्नि को 'औ-

पासनाग्नि' शब्द से भी व्यवहार है। इस अग्नि का आधान पाणिग्रहण के अनन्तर किया जाता है। पारस्कराचार्य ने आवसथ्याग्नि का साधारण स्वरूप निरूपित किया है।

घटक परम्परा

स्नातक अपने व्रतों को (नियमों को) कम से कम तीन अहोरात्र पालन कर गार्हस्थ्य आश्रम में प्रविष्ट होगा। प्राचीन काल में यह परम्परा रही है कि वधू वरों की घटना के लिए विभिन्न प्रान्तों में 'घटक' मिलाने वाले होते थे। उनके पास संबद्ध परिवारों वर और वधू पक्ष वालों की नाम गोत्र आदि की सूची रहती थी। उस सूची के अनुसार वर के लिए वधू, वधू के लिए वर के पता रखते थे। स्नातक के पिता उन घटकों को बुलाकर उनके द्वारा वधू के परिवार वालों से बात कराते थे। उन्हें बुला कर युग्म संख्या (दो चार छः आदि संख्या) के घटकों को दक्षिणा देकर अच्छे योग्य कुल की कन्या को ढूंढ़कर कहने पर निर्णय होता था इस परिवार से कन्या को लेना है। घटकों को प्रेषित करते हुए मन्त्र बोला जाता है कि—

प्रसुग्मन्ता धियसानस्य सक्षणि वरेभिर्वरानभिषुप्रसीदत।
अस्माकमिन्द्र उभयं जुजोषति यत्सौम्यस्यान्धसो बुबोधति ।।
अनृक्षरा ऋजवस्सन्तु पन्था येभिस्सखायो यन्ति नो वरेयम्।
समर्यमा संभगो नो निनीयात्सञ्जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ।।

घटकों को लक्ष्य कर वर इस मन्त्र से कहता है—कन्या के अन्वेषण के निमित्त जाते हुए आप का मार्ग श्रेष्ठ रहे, कन्या के अभिभावक पिता भाई आदि के प्रति आप प्रसन्न चित्त रहें क्योंकि परमैश्वर्य सम्पन्न इन्द्र परमात्मा भी हम दोनों के सहायक हैं। सहायक होने में कारण बतलाया गया है यत्—जिस कारण से सौम्यस्य अन्धसः—सोम सम्बन्धी अन्न को हमें देने के लिए बुबोधति—इन दोनों को सोम सम्बन्धी अन्न को देने पर कालान्तर में दोनों मिलकर यज्ञ याग आदि के द्वारा मुझे आराधना करेंगे।

यह कहकर देवताओं से भी प्रार्थना करता है—कि हे देव, जाने वाले ये घटक 'सखायः' मुझको अपने समान देखने वाले हैं, वधू पक्ष से मिलने के लिए जाते हुए इनका मार्ग कण्टकों से रहित हो और 'ऋजवः' सीधा रहे, विघ्न बाधा से दूषित न हों, सूर्य एवं भाग्य देवता इनको अच्छी तरह पहुँचावें, हमारा दाम्पत्य जीवन मधुर रहे। घटक सोच विचार कर वर के दाम्पत्य जीवन सुखमय बीतने के लिए उचित एवं योग्य कन्या-पिता से मिल कर वर की बात करते हैं और कन्या के पिता से 'दास्यामि' सम्मति को प्राप्त करते हैं। इसकी सूचना वर पक्ष वालों को दे देते हैं। तदनुसार वर शुभ तिथि-नक्षत्र-वेला को निश्चय कर विवाह के लिए प्रस्थान करता है। प्रस्थान के समय वही वेष रहेगा जो स्नातक का है। अर्थात् छत्र उपानत् कुण्डल आदि धारण कर प्रस्थान करेगा। जाते हुए कन्या के धारण के लिए वस्त्र आदि को साथ लेते जायेगा। क्योंकि इसी वस्त्र को मन्त्रोच्चारण द्वारा कन्या को परिधापन वर करेगा। वर कन्या के घर पहुँचने पर कन्या पिता वर को महाविष्णु स्वरूप मान कर पाद्य अर्घ्य कूर्च-मधुपर्क आदि सत्कारों से सत्कृत करेगा। वर स्वयं लाये हुए वस्त्र को अभिमन्त्रित कर धारण के लिए कन्या के पास भेजेगा।

वस्त्रपरिधापन मन्त्र

जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा।
शतञ्च जीव शरदः सुवर्चा रयिञ्च पुत्राननु संव्ययस्वायु-
ष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वन्। याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ।
तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

कन्या को सम्बोधित कर वर कहता है—तुम इस वस्त्र को पहनो। इस मन्त्र में कन्या का विशेषण दिया गया है 'अभिशस्तिपावा'। यह विशेष तात्पर्य रखता है। 'अभिशस्ति' शब्द का अभिशाप लोकापवाद अर्थ है। मानव प्रमाद से बुरा काम करता है और लोगों के अभिशाप का पात्र बन जाता है। उन अभिशापों की रक्षा करने वाली हो अभिशस्ति पातीति 'अभिशस्तिपावा'। तुम ऐसा बन कर मेरे साथ 'जरां गच्छ' निर्दुष्ट वार्धक्य का अनुभव करो। समाज में गृहिणी का इतना महत्त्व है कि अपने घर को मिथ्यापवादों से बचाती हैं। यदि सभी घरों में इस प्रकार की गृहिणियाँ हों तो समाज प्रदूषित कैसे कहलावेगा। स्नातक गृहस्थी बन कर अपने-अपने घर को व्यवस्थित बनाने में लग जायँ तो उस कार्य में गृहिणी ही सहायक हो सकती हैं। यह विषय 'कृष्टीनाम्' पद से अवगत होता है। आकर्षणार्थ में कृष्टि शब्द प्रयुक्त होता है। यह शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग में अनुशासित है। अर्थात् आकर्षक स्त्री पुरुषों को मिथ्यापवाद से बचानेवाली तुम बनो एवं इस वस्त्र को पहिन कर मेरे साथ वार्द्धक्य तक सहयोग करो। और 'शतञ्च जीव' शतायु को प्राप्त करो एवं धन राशि पुत्र आदि को 'संव्ययस्व' एकत्रित करो। इस मन्त्र से अवगत होता है कि समाज का सारा कार्य गृहिणी को सौंपा जाता है। यही भारत की परम्परा रही है।

वस्त्र परिधान का दूसरा मन्त्र है—जो कि उत्तरीय वस्त्र से सम्बन्ध रखता है जिन देवियों ने इस वस्त्र को पहिनने का समर्थ बनाया, जिन देवियों ने वयन कार्य किया, जिन देवियों ने सूत्र को काता है, जिन देवियों ने सूत्रों को ओतप्रोत बनाया वे देवियाँ अपने सामर्थ्य से तुम्हें भी वह शक्ति दें और निर्दुष्ट वार्द्धक्य तक तुम्हें रक्षा करें। इस प्रार्थना से प्रतीत होता है कि सूत कातना, कपड़ा बनाना, सीना आदि कलाओं में स्त्रियों का एकाधिकार है। समाज एवं देश को समृद्ध बनाने में अन्न और वस्त्र का अधिक से अधिक उत्पादन एक मात्र साधन है, वह स्त्री पुरुषों से आश्रित हैं। ग्राम का विकास या उत्थान के लिए यह उद्योग परम श्रेष्ठ है, यह इन दोनों मन्त्रों से प्रतीत होता है।

विशेष

विषय प्रवेश में यह बात कही जा चुकी है कि कर्म का अनुष्ठान करने वाला अर्थ को समझकर अनुष्ठान करें, एवं कर्मानुष्ठान में अर्थ ज्ञान अङ्ग होता है। मीमांसा के साथ साङ्गवेद का अध्ययन कर गुरु की आज्ञा से समावर्तन संस्कार से संस्कृत होकर वर कन्या के लिए इस मन्त्र को उच्चारण करता हुआ वस्त्र देता है तो अर्थ समझकर ही देता है। इस प्रकार

देता हुआ यह भी बोधित करता है कि नैतिकता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अर्थात् अपने घर में तयार किये हुए ये वस्त्र हैं। हे कन्ये तुम्हें भी इसका पालन अवश्य करना होगा। तुम्हें भी मेरे घर आकर वस्त्र आदि को तयार करना होगा। व्यावसायिक रूप वस्त्र आदि को न होने पर भी नीति को अवलम्बन कर नैतिकता की रक्षा करनी चाहिए! घर के उपयोग से अधिक मात्रा में उत्पादन होने पर व्यवसाय से धन को एकत्रित करने में दोष नहीं। यह बात 'रयिञ्च पुत्राननुसंव्ययस्व' से मालुम होती है। घर के अनेक कार्यों में स्त्री पुरुषों का यह भी एक नियत कार्य है कि सीवन वयन चित्रकला आदि में सम्पर्क रहने पर मित व्ययिता पवित्रता कर्मनिष्ठता आत्मसन्तुष्टि स्वतन्त्रता आदि का लाभ होता है। पराधीन होकर नौकरी चाकरी का कष्ट भोगना नहीं पड़ेगा। समाज में स्वतन्त्र जीवन यापन निमित्त ही प्राचीनों ने इस पद्धति को प्रवर्तित किया। इसको अन्धविश्वास कैसे माना जाय।

समञ्जन (संमुखीकरण)

वस्त्र-परिधान के बाद कन्या पिता बधू-वरों को परस्पर सम्मुख करता है। अर्थात् दोनों को आमने-सामने करता हैं। इसी को समञ्जन कहते हैं समञ्जन का मन्त्र है—

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
संमातरिश्वा सन्धाता समु देष्ट्री दधातु नौ' ॥

इस मन्त्र को वर पढ़ेगा। मन्त्र का अर्थ है—हम दोनों के हृदय, मन, चित्त एवं इनके संकल्पों को विश्वेदेव-सभी देवगण समञ्जन करें-एक रूप बनायें। इसी प्रकार जल देवता वायु देवता समञ्जन करें, विधाता-परमेष्ठी समञ्जन करें, अपि च देष्ट्री उपदेश देनेवाली सरस्वती हम दोनों का सन्धान करें।

समीक्षण

वधू वर परस्पर एक दूसरे का समीक्षण करेंगे। घटकों के द्वारा वधू एवं वर के गुणों को सुनने पर भी प्रत्यक्ष द्वारा गुणों को पहचानना आवश्यक है। नेत्रेन्द्रिय की इतनी शक्ति है जिससे हृदय को पहचाना जा सकता। वर समीक्षण का मन्त्र पढ़ेगा।

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमना सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तर।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजः ॥
सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये।
रयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥

अर्थात्—हे कन्ये! तुम सौम्यदृष्टि रहो, पति के चाहे हुए अर्थ को बिगाड़ना नहीं तथा आश्रित लोगों के लिए प्रसन्नचित्त और हितैषी बनी रहो, प्रभावशाली बनकर रहो, जीवत्सुपुत्रका जननी बनो, देवकामा-दैव आराधन करने की इच्छा करती रहो, सुख पूर्वक रह कर हमें सुख पहुँचाती रहो, घर के सदस्य एवं जानवरों को सुखी बनाओ। चन्द्र,

गन्धर्व और अग्नि से रक्षित होकर मेरे पास आयी हो, अग्निदेव के द्वारा प्राप्त धन-धान्य तुम्हारे पास है, मेरे धर्म कार्य में साथ रहो। अर्थात् धर्म-अर्थ-कामों का तुम भोग करते हुए परमपुरुषार्थ प्राप्ति के लिए मेरे साथ कार्य करो।

विशेष

इस मन्त्र से अवगत होता है कि समाज में स्त्रियों का स्थान किस प्रकार का रहा है। परिणय के अवसर पर वर वधू को 'तृतीयोऽग्निः ते पतिः' कहकर अग्नि देव से पाली हुई कहता है। और अपने को 'तुरीयस्ते पतिः मनुष्यजः' कहकर मानव मैं तुम्हारा पालक हूँ कहता है। जो जिस संस्कार से पालित होता है वह उसी संस्कार से संस्कृत होता हैं, यह लोक की रीति है। अग्नि देव से पालित वधू अग्नि देव के गुणों से युक्त होगी। अग्नि को दाह करने वाला समझकर हम उससे सावधान रहते हैं, वही सावधानी अग्नि से पाली हुई वधू से भी रहनी चाहिए। मिट्टी के काली रहने पर उससे बने हुए घट-शराव आदि भी काले रहेंगे। 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' अर्थात्—कारणगत गुण कार्य गुणों के उत्पादक होते हैं, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है। जैसे अग्नि अपने पास किसी को आने नहीं देता, उसी प्रकार वधू भी रहेगी, क्योंकि वह अग्नि से पालित और पोषित है। किञ्च हमारी परम्परा में कोई भी कार्य अग्नि के विना सम्पन्न नहीं होता। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर हमें अनेक संस्कार करने पड़ते हैं उनमें अग्नि की आवश्यकता पड़ती है वह अग्नि है—विवाहिता वधू। अत एव श्रौत-स्मार्त अग्न्याधान के समय पत्नी का रहना शास्त्रों में आवश्यक वतलाया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पत्नी की अनुमति के विना पति कोई भी संस्कार नहीं कर सकता। अत एव अपत्नीक पति के लिए अग्निसन्धान ही भिन्न होता है जिसको विधुराग्नि सन्धान कहते हैं। अपत्नीक पति श्रौत कर्म में अथवा विवाह उपनयन आदि संस्कारों में अधिकारी नहीं होता सपत्नीक का ही अधिकार है। जिसके विना जिसका अनुष्ठान सम्भव नहीं, उसको उसके प्रति उसका नियत सम्वन्ध प्रतीत होता है ऐसी स्थिति में सामान्य सम्वन्ध-वोधक प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती, इस महर्षि जैमिनि के न्याय से अनिवार्यता सिद्ध होती है। अतः जैसे अर्थ समझे विना कर्मानुष्ठान निरर्थक समझा जाता है, उसी प्रकार अग्नि और तत्पालित वधू के विना गृहस्थाश्रम में होने वाले कर्मों के अनुष्ठान निरर्थक हो जाते हैं। इसी अर्थ को समझकर वर 'तृतीयोऽग्निस्ते पतिः, तुरीयस्ते मनुष्यजः' कहता हुआ वधू को देखता है। इसी प्रकार वधू भी वर को समीक्षण करती है।

दान शब्दार्थ विचार

समञ्जन और समीक्षण के मध्य में पारस्कराचार्य लिखते हैं—'पित्रा प्रदत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति'। अर्थात् पिता के द्वारा प्रदत्त कन्या को लेकर वर निष्क्रमण करता है। यहाँ 'दान' शब्द का क्या अर्थ है? विचार करना चाहिए। 'स्वस्वत्व-निवृत्ति पूर्वक परस्वत्त्वापादनं दानम्' दान शब्द का यह अर्थ कहा गया है। अर्थात् जिस द्रव्य में अपना स्वत्त्व-अधिकार है उसको त्याग कर इतर-अन्य के स्वत्त्व-अधिकार का आपादन करना

दान है जैसे कि 'ब्राह्मणाय गां ददाति' यहाँ गो द्रव्य में विद्यमान अपने अधिकार को छुड़ा कर उसमें ब्राह्मण का अधिकार बना दिया जाता है इस प्रकार दान दिये हुए गो द्रव्य में दाता 'मेरी गाय' ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता। अर्थात् उस गो द्रव्य को जिसने प्रतिग्रह किया उस ब्राह्मण का अधिकार हो जाता है। दाता दान दी हुई गो के दुग्ध का पान नहीं कर सकता। यह स्थिति गो दान में देखी जाती है। कन्या दान में इससे कुछ वैलक्षण्य है। अपने स्वत्त्व-अधिकार की निवृत्ति होने पर भी 'मेरी कन्या' यह व्यवहार विद्यमान है। अत एव गोदान आदि लेने वाला 'प्रतिग्रहीता' कहलाता है किन्तु कन्या दान लेनेवाला 'परिग्रहीता' कहलाता है। प्रतिग्रह और परिग्रह शब्द के अर्थ में भेद कहा जा चुका है। पारस्कराचार्य ने 'गृहीत्वा' शब्द का प्रयोग किया है। 'प्रत्तामादाय निष्क्रामति' इतना कहने से ही कार्य सम्पन्न हो जाता है, किन्तु 'प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति' में 'आदाय' शब्द गौण दान का बोधक है। इस प्रकार तात्पर्य कल्पना में 'गृहीत्वा' पद तात्पर्य ग्राहक माना जा सकता है। इससे क्षत्रिय-वैश्य आदि के कन्या दान में समन्वय हो जाता है। इस अर्थ की पुष्टि कविकुल तिलक कालिदास भी करते हैं—

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥

कन्या अपने पिता के लिए धरोहर है। वह न्यास रूप से अपने द्रव्य को रखता है अतः परकीय ही है। उसका स्वामी पर-दूसरा ही होता है। किन्तु जब उसका ग्रहण करता है तो वह ग्रहण परिग्रह कहलाता है, प्रतिग्रह नहीं। शकुन्तला का जन्म विश्वामित्र की तपोरूपी अग्नि से हुआ और वह तपोधन महर्षि कण्व के अधीन रही। अग्निहोत्रशाला में प्रविष्ट महर्षि कण्व को दिव्य ज्ञान से ज्ञात हुआ कि शकुन्तला दुष्यन्तालम्बनक रतिमती है, एवं दुष्यन्त शकुन्तलालम्बनक रतिमान है। इस प्रकार उभयालम्बनक रति को उचित समझकर धरोहर के रूप में विद्यमान कन्या रूप अर्थ को परिग्रहीता दुष्यन्त के पास भेजकर महर्षि कण्व अपनी अन्तरात्मा की शान्ति पाते हैं। इस पद्य के 'परकीय एव' 'परिग्रहीतुः' तथा 'न्यास इव' शब्दों से पूर्वोक्त अर्थ परिपुष्ट हो जाता है।

यद्यपि समाज की परम्परा में कन्या दान के अनन्तर उस कन्या के हाथ से कुछ भी लेना निषिद्ध है, ऐसा आचार है, किन्तु यह प्रतिग्रह-पक्ष में सङ्गत है, परिग्रह पक्ष में नहीं। वर पक्ष के द्वारा प्रेषित घटक लोग कन्या पक्ष के लोगों से मिलते हैं तो वर के गुणों को सुनकर कन्या-पिता धरोहर के रूप से विद्यमान कन्यारूपी अर्थ को 'दास्यामि' कहता है। एक बार नहीं तीन-तीन बार कहता है। क्योंकि कन्या पिता समझता है कि—

'सोमोऽददद्गन्धर्वाय, गन्धर्वोऽददग्नये, रयिञ्च पुत्रांश्चादादग्नये, अग्निर्मह्यमथो इमाम्।

अर्थात् चन्द्रमा ने गन्धर्व-सूर्य को दिया, सूर्य ने अग्नि को दिया, अग्नि ने स्वयं श्रेष्ठ रत्न धारी होने के कारण धन-धान्य आदि से समृद्ध इस कन्या को मुझे दिया। कन्या रूप अर्थ में परम्परा से प्राप्त परकीयत्व को समझकर पिता 'दास्यामि' यह प्रतिज्ञा करता है। तदनन्तर घटक वर के पिता से कहने पर वह परिग्रह के लिए तैयार हो जाता है। कन्या

पिता एवं वरपिता का वरण हो चुका है। तदनन्तर ही कन्यापिता अपने दरवाजे पर आये हुए वर को मधुपर्क आदि से सत्कृत कर समञ्जन समीक्षण आदि कराकर वृत कन्यारूपी द्रव्य को समर्पित करता है।

कन्यादान याग है

इस प्रसंग में दान और याग शब्दों का निष्कृष्ट अर्थ समझना आवश्यक प्रतीत होता है। दान शब्द का अर्थ है—'स्वस्वत्वनिवृत्ति पूर्वक परस्वत्वापादनं', और याग शब्द का अर्थ है 'देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः'। दान में परस्वत्वापादन अर्थात् अपने स्वत्त्व की निवृत्ति कर परस्वत्व को स्थापित करना होता है। याग में स्वस्वत्त्व की निवृत्ति तो है किन्तु परस्वत्वापादन नहीं है। 'इदमग्नये न मम' अग्नय इदं न मम' इस त्याग में अपने स्वत्त्व का त्याग मात्र ही है। जिस द्रव्य को देवता के लिए हम देते हैं, वह द्रव्य देवता को ही प्राप्त हैं, उसको हम देवता के लिए अर्पित करते हैं देवता उस द्रव्य को हमें इसलिए देता है कि हम पुनः अर्पित करें। चन्द्र-सूर्य-अग्नि की परम्परा से प्राप्त कन्यारूप द्रव्य का दान कन्यापिता इसीलिये करता है कि भविष्य में चन्द्र-सूर्य-अग्नि आदि देवताओं की आराधना होती रहे। अतएव कन्या-पिता वर को विष्णु रूप समझकर स्वागत करता हुआ पाद्य-अर्घ्य-कूर्च-मधूपर्क आदि से पूजन करता है। आज कल यह पूजन दहेज के रूप से परिणत होकर समाज को नष्ट कर दिया है। स्वयं वधुएँ नष्ट हो जाती हैं और नष्ट करायी जाती हैं। अग्नि देव 'रत्नधातम' है। अतिशयेन रत्नों का धारण करने वाला है। उस देवता से प्रदत्त कन्या है। कन्या पिता की प्रतिरूप है। अतएव 'धन्या पितृमुखी कन्या धन्यो मातृमुखस्सुतः' कहा गया है। अतएव कन्यादान को एक प्रकार का याग समझना चाहिए।

स्वत्व पदार्थ

दान में अपने स्वत्त्व को छुड़ाना पड़ता है वह 'स्वत्त्व क्या है? इसका विचार मीमांसकों ने काफी किया है। एवं मीमांसान्यायों को समन्वय कर मिताक्षरा दायभाग आदि निबन्ध ग्रन्थों में काफी विचार उपलब्ध है। उन ग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है कि कन्यापिता के पास अपने द्रव्यों में प्रतिग्रह करने योग्य जो स्वत्व विद्यमान है वह कन्याद्रव्यों में नहीं है, कन्यारूपी द्रव्य में पिता का परिग्रह कराने योग्य ही स्वत्त्व है।

वस्त्र परिधान-क्रम में विकल्प

वस्त्र-परिधान कराकर समञ्जन और समीक्षण के अनन्तर वर वधू के साथ विवाह मण्डप में पहुँचता है। कुछ आचार्य मण्डप पहुँचने पर वर के द्वारा आनीत वस्त्र का परिधापन मानते हैं यह क्रम विकल्प रूप से माना गया है। परम्परा के भेद से क्रम में भेद हो जाता है। पूर्व निर्दिष्ट क्रम में वर के द्वारा लाये गये वस्त्र को वधू पहन कर वर के सामने आती है और समञ्जन-समीक्षण सम्पन्न होने पर विवाह मण्डप में आकर मण्डप में प्रतिष्ठित अग्नि की तीन बार परिक्रमा कर वधू और वर अग्नि के पश्चात् पूर्वाभिमुख

होकर वैठते हैं। द्वितीय पक्ष में मण्डप पहुँच कर अग्नि के परिक्रमा के अनन्तर अग्नि के सम्मुख दिये हुए वस्त्र को पहन कर समञ्जन-समीक्षण के अनन्तर वधू के साथ वर अग्नि सम्मुख वैठता है।

विशेष

मनु याज्ञवल्क्य-कात्यायन-वौधायन प्रभृतियों ने स्मृति ग्रन्थों का प्रणयन किया है। स्मृति शब्द का अर्थ है—'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम्'। अर्थात् अनुभूत पदार्थों के संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को लिपिवद्ध करना स्मृति ग्रन्थ है। अनुभव अनुष्ठान या अनुष्ठान करते हुए देखने से समुद्भूत है। यह प्रक्रिया स्मृतिकारों में समान रहती है। अतएव स्मृति ग्रन्थों में विभिन्नता होने पर भी मीमांसकों ने होलाकाधिकरण न्याय से सभी स्मृति ग्रन्थों का प्रामाण्य सिद्ध किया है। इसी प्रक्रिया को अवलंवित कर पारस्कराचार्य ने सूचित किया 'प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयैके'। वस्त्रपरिधापन आदि कर्मजात अग्नि-परिक्रमा के अनन्तर कुछ आचार्य मानते हैं। तात्पर्य यह है कि विवाह में जो कुछ किया जाय वह मण्डप में प्रतिष्ठित अग्नि के सम्मुख ही हो, अग्नि देव से प्रदत्त कन्या का अग्नि के सामने ही वर के लिए प्रदान हो, एवं समञ्जन-समीक्षण आदि उनके सम्मुख ही हों। परिग्रहण संकार भी अग्नि साक्षिक ही हो। इस परम्परा में वर वस्त्र के साथ माङ्गल्य-सूत्र भी लाता है। जव वर और कन्या दोनों पक्ष के गोत्र-प्रवर नाम आदि का उच्चारण हो तव इस सूत्र को वर कन्या के कण्ठ-गले में बाँधता है। कन्या दान करता हुआ कन्यापिता पहले से ही अपनी कन्या को जातकर्म-नामकरण आदि संस्कारों से संस्कृत रखता है, एवं वर भी उन संस्कारों एवं उपनयन, स्नातक आदि संस्कारों से संस्कृत होकर संस्कृत कन्या का ग्रहण करता है। संस्कृत कन्या के गले में मंगल सूत्र को वाँधना ही कन्या का उपनयन माना जाता है। और इसी समय कन्या का विवाह-संस्कार भी हो जाता है। मंगल सूत्र-धारण के स्थान में सीमान्त में सिन्दूर का धारण कुछ परम्परा में है। यह भेद, प्रान्त और आचार भेद से वन गया है। इतना भेद रहते हुए भी अवशिष्ट पदार्थों में एकता पायी जाती है। भेद होते हुए भी एकता को प्राप्त करना भारतीय परम्परा है।

पाणिग्रहण

सिन्दूर-धारण या मांगल्यसूत्र-धारण के अनन्तर वर कन्या के दाहिने पाणि का विना मन्त्र के ग्रहण कर अग्नि की परिक्रमा कर पाणि को छोड़े विना अग्नि के सम्मुख वैठ विहित होम करता है। पाणिग्रहण का प्रकार वतलाया गया है कि कन्या के दाहिने हाथ की अँगुलियाँ ऊर्ध्वमुख रहें और उन अँगुलियों को इकट्ठा कर अपने दाहिने हाथ से वर पकड़ता है। पिता कन्या-दान के समय तिथि-वार-नक्षत्र आदि का कीर्तन कर संकल्प में निर्देश करता है—

दशानां पूर्वेषां दशानां परेषां आत्मनश्चैकविंशति कुलोत्तारणद्वारा नित्य-निरतिशयानन्दशाश्वतब्रह्मलोकावाप्त्यर्थं श्रीमहाविष्णुप्रीत्यर्थं कन्यादानाख्यमहादानं करिष्ये।

अर्थात् मैं अपने साथ पूर्व और पर दश-दश पीढ़ियों के उद्धार के लिए कन्या-दान रूपी महादान को करता हूँ। इसके सत्यापन के लिए वर दश अँगुलियों को इकठ्ठा दिखलाता है आगे सप्तपदी के अवसर पर दाहिने हाथ से कन्या की अँगुलियों को पकड़ते हुए बायें हाथ से कन्या के दाहिने पाद के अंगुष्ठ को पकड़ता है। यह २१ कुलों के उद्धार का सूचक है।

विशेष

शाखान्तर में पाणिग्रहण के लिए चार ऋचाएँ विहित हैं। ये मन्त्र महत्त्व रखते हैं, इस लिए दिखाया जाता है। चारों ऋचाओं को पढ़ने के वाद वर लाज होमानन्तर कन्या का समन्त्रक पाणिग्रहण करता है। ऋचाएँ इस प्रकार की हैं—

गृभ्णामि ते सुप्रजास्त्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथाऽसः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिः मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः॥

ते ह पूर्वे जनासो यत्र पूर्ववहो हिताः।
मूर्द्धन्वान् यत्र सौभ्रवः पूर्वो देवेभ्य आतपत्॥
सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति।
तां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रगायामस्यग्रतः॥
य एति प्रदिशस्सर्वा दिशोऽनु पवमानः।
हिरण्यहस्त ऐरम्मः स त्वा मन्मनसं कृणोतु॥

हे कन्ये तुम्हारे हस्त को ग्रहण करता हूँ, किस लिए 'सुप्रजास्त्वाय-अच्छी प्रजा-तुन्तु प्राप्ति के लिए। तुम मेरे साथ 'जरदष्टिर्यथाऽसः जैसा कि तुम जरावस्था को प्राप्त कर सकोगी। पुरन्धिः—अत्यधिक प्रजा वाले भग आदि देवताओं ने श्रौत कर्मों के अनुष्ठान के लिए मुझे तुमको दिया है। गार्हपत्याय का अर्थ है गार्हस्थ्य। गार्हस्थ्य का पालन गार्हपत्य अग्नि को सतत धारण कर श्रौत कर्मानुष्ठान सम्पन्न हो सके। वे भग आदि देव पूर्वे जनासः चिरन्तन, पूर्ववहः आदि काल के संस्कृति को वहन करने वाले हैं और हित करने वाले हैं। उन देवों के द्वारा यज्ञ आदि सत्कर्मानुष्ठान के निमित्त तुम प्राप्त हुई हो। यत्र जिस गार्हस्थ्य में देवेभ्यः पूर्वः सभी देवताओं से मूर्धन्वान् प्रथम, सौभ्रवः—सूर्य आतपत् चारों ओर ताप किया है। सुभ्रूः—अदिति उसका अपत्य आदित्य सौभ्रव होता है। वह ही मूर्द्धन्वान् सभी देवताओं में प्रथम। सूर्य तेजोमय होने से अग्नि भी हो जाता है। अतएव 'अग्निर्मूर्धा' 'अग्निर्मूर्धन्वान्' 'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' इत्यादि प्रमाणों से आदित्य ही अग्नि है अग्नि ही आदित्य है सिद्ध होता है। इस प्रकार के देवताओं से तुम प्राप्त हुई हो अतः मैं तुम्हारा हस्त को ग्रहण करता हूँ। हे सरस्वति कन्ये ? तुम इस पाणि-ग्रहण को प्राव-रक्षा करो। हे सुभगे सौभाग्यवति एवं वाजिनीवति-वाजशब्द अन्नवाची। वह अन्न देवताओं का हवीरूप है उसको तुम धारण करनी वाली हो। एवं रूप हे कन्ये त्वा तुमको विश्वस्य भूतस्य—सभी भूत पदार्थों के अग्रतः सामने हम प्रगायामः—अत्यधिक स्तोत्र करते हैं। एष पवमानः—यह वायु देव जो सर्वा दिशः प्रदिशश्चान्वेति—सभी दिशाओं में वह रहा है और हिरण्यहस्तः—अच्छे कर्मों को आचरण करने

वालों एवं भक्तों को देने के लिए अपने हाथ में हिरण्य को धारण करते हैं। और यह वायु देव ऐरमः–इरा शब्द का अन्न अर्थ है, इरां अन्न को मिमीते करोतीति इरमः–अग्निः, तस्यायं सखा ऐरमः–वायु सखा है। इस प्रकार का वायु त्वा तुम को मन्मानसं कृणोतु–मेरे मनोनुकूल वनावें।

पाणिग्रहण के पूर्व ही वर के घर से लाया हुआ जल से कन्या को स्नान कराकर नया वस्त्र जो लाया गया उसको परिधान कराकर समञ्जन समीक्षण आदि होते हैं।

विवाहहोम

मण्डप के वेदि में प्रतिष्ठित अग्नि लौकिक अग्नि है। उसके संस्कार के लिए १४ होम विहित हैं। इन होमों को करने पर वह अग्नि संस्कृत-अलौकिक माना जाता हैं। पाणिग्रहण लौकिक अग्नि के साक्ष्य में हुआ है। अव उस अग्नि को होमों द्वारा अलौकिक वना कर उसके सामने विवाह के मुख्य कर्म अश्मारोहग 'सप्तपदी' को करना है। सप्त-पदी क्रिया संपन्न हो जाने पर ही विवाह का प्रधान कर्म संपन्न माना जाता है।

चौदह होमों के विवरण

दो आधार, दो आज्यभाग, तीन महाव्याहृति होम, पांच सर्व प्रायश्चित्त होम, एक प्राजापत्य होम, एक स्विष्टकृत् होम इस प्रकार चौदह होम होते हैं। सभी स्मार्त कर्मों में ये १४ होम नित्य है। अर्थात् अग्नि संस्कार के रूप ये होम होते हैं।

आघार

अग्नि के वायव्य दिशा से आग्नेय दिशा पर्यन्त एवं निर्ऋति दिशा से ईशान दिशा पर्यन्त घृत की सन्तत धारा के रूप क्षारण करना आघार कहलाता है। यही पूर्वाघार और उत्तराघार कहलाते हैं। बिना मन्त्र से घृत का क्षारण होने पर भी दोनों आघारों को होम माना जाता है। आघार होम इसलिए किया जाता है कि दोनों घृत-धाराओं का मिलन से अग्नि के मध्यभाग निश्चित हो जाता है और सभी होम अग्नि के मध्य भाग में कर सकें। प्रथम आघार प्रजापति देवताक है द्वितीय इन्द्र देवताक है।

आज्यभाग

अग्नि और सोम देवता के दो होम आज्यभाग कहलाते हैं। अग्नि के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में किये जाते हैं।

व्याहृतिहोम

'भूः भुवः स्वः' ये व्याहृतियाँ हैं। अग्नि वायु सूर्य देवताक हैं। 'भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वस्स्वाहा' व्यष्टि से होम किया जाता है और 'भूर्भुवस्स्वस्स्वाहा' समष्टि से भी होम किया जाता है।

सर्व प्रायश्चित्तहोम

प्रायश्चत्त पद का अर्थ कहा जा चुका है। 'त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्' इत्यादि पाँच मन्त्रों से मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' जोड़कर पाँच आहुतियाँ प्रायश्चित्त होमों का अनुष्ठान करना चाहिए। 'त्वन्नो अग्ने+प्रमुमुग्ध्यस्मत्स्वाहा' अग्नि देवताक, 'सत्वन्नो अग्ने+सुहवोन एधि स्वाहा' अग्नीवरुणदेवताक, 'अयाश्चाग्नेऽसि+भेषज ॐ स्वाहा' अयोगुणकाग्निदेवताक, 'ये ते शतं+स्वर्काः स्वहा' वरुण-सवितृ-विष्णु-विश्वेदेव-मरुत्-स्वर्क देवताक, 'उदुत्तमम्+स्याम स्वाहा' वरुणदेवताक होम हैं।

प्राजापत्यहोम

'प्रजापतये स्वाहा' यह प्रजापतिदेवताक होम है। महाव्याहृतियों को समष्टि 'भूर्भुवस्स्वस्स्वाहा' से भी प्रजापतिदेवताकहोम संप्रदायविशेष से माना जाता है।

स्विष्टकृद्धोम

इस होम को प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है। अर्थात् होम में उपयुक्त होकर अवशिष्ट-बचा हुआ द्रव्य को विधिपुरस्सर उपयोग में लाना। होम से अवशिष्ट द्रव्य का कहीं होम कहीं भक्षण आदि विहित हैं। श्रौत कर्मों में अवशिष्ट द्रव्य का भक्षण भी विहित है वह इडा भक्षण शब्द से व्यवहृत है। यह भक्षण स्विष्टकृत् होमानन्तर किया जाता है। होम घृत और तदरिक्त द्रव्य पुरोडाश सांन्नाय्य आदि से होता हो वह भक्षण के उपयोग में लाया जाता है। यही इडाभक्षण प्रतिपत्ति कहा जाता है। स्विष्टकृद्धोम को पूर्णाहुति शब्द से भी व्यवहार किया जा सकता है। सुष्ठु इष्टं करोतीति स्विष्टकृत् कहा जाता है। होम में घृत द्रव्य होने पर 'स्विष्टकृते स्वाहा' इस मन्त्र से होम किया जाता है। अग्निस्विष्टकृद्देवताक है यह होम। सम्प्रदाय विशेष में

सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तर्षयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होत्रा यजन्ति सप्तयोनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा॥

इस मन्त्र से भी होम किया जाता है। अग्नये सप्तवत इदं न मम त्याग मन्त्र है।

विशेष

ये चौदह आहुतियाँ नित्य हैं। अर्थात् अग्नि संकार के निमित्त ये आहुतियाँ होंगी। स्विष्टकृद्धोम के पूर्व विहित प्रधानाहुतियों को अनुष्ठान कर प्रायश्चित होम एवं स्विष्टकृद्धोम का अनुष्ठान करना है। श्रौतकर्मों में विधियाँ हैं उन्हीं में से स्मार्त कर्मों के लिए सूत्रकार संग्रह कर प्रदर्शित किये हैं। इसका तात्पर्य है कि गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट त्रैवर्णिकों को अग्न्याधान कर अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास आदि नित्य कर्मों का अनुष्ठान अनिवार्य है। किसी कारण से उनका अनुष्ठान न हो सकता हो तो कम से कम स्मार्त नित्यकर्मों का अनुष्ठान करें। वेद के ब्राह्मण भागों में जो विहित हैं वे सभी श्रौत कर्मों से सम्बन्ध रखते हैं। उन्हीं में से संग्रह कर सूत्रकारों ने गृह्यसूत्र लिखा है। प्रायः सभी सूत्रकार श्रौतसूत्रों को प्रणयन कर ही गृह्यसूत्रों का प्रणयन किये हैं। कोई भी कर्म इतिकर्तव्यता-अङ्गों के बिना

परिपूर्ण नहीं होता है। वे अंग श्रौत कर्मों से सम्बद्ध हैं। अतः अंगों की आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं श्रौत कर्म के अंगों को स्मार्त कर्मों में भी अनुष्ठान के लिए दिखलाये हैं। इस दृष्टि से विचार करने से सिद्ध होता है कि श्रौत कर्मों को अनुष्ठान करते हुए पूर्वज उपनयन विवाह आदि स्मार्त कर्मों का भी अनुष्ठान करते थे, क्योंकि विना उपनयन से वेदाध्ययन, विना अध्ययन से विद्या की प्राप्ति, विना दारपरिग्रह से श्रौत कर्मानुष्ठान नहीं बन पाता है। इसी पद्धति को स्मरण कर सूत्रकारों ने सूत्रों का प्रणयन किया है। अतः श्रौत और स्मार्त कर्मों की एकता का अनुभव होता है।

विवाह प्रयोग में सर्व प्रायश्चित और प्राजापत्य होम के मध्य में कर्म समृद्धि के निमित्त जयादि अभ्यातान और राष्ट्रभृदादि होम करने का विधान है। यह ऐच्छिक माना गया है। होम के मन्त्रों में कन्या रक्षा की प्रार्थना की जाती है।

लाजहोम

विवाह में लाज होम मुख्य है। कन्या के भाई शमी वृक्ष के पत्ते एवं पलाश पत्ते के टुकड़ों से मिश्रित लाजों को अपने अञ्जलि से लेकर कन्या के अञ्जलि को भरता है। कन्या खड़ी होकर उन लाजों को अग्नि में होम करती है। ये तीन होम हैं। अञ्जलि में भरे हुए लाजों को तीन अंश से विभक्त करके तीन वार होम करती है। एतन्निमित्त तीन मन्त्र हैं।

अर्यमणं देवं कन्याऽग्निमयक्षत। स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा'

इयं नार्युप ब्रूते लाजानावपन्तिका। आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा'

इमांल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकारणं तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियँ स्वाहा।'

कन्याएँ पूर्व, वर लाभ के निमित्त देवं तेजोमय अर्यमणं सूर्य को अग्निरूप समझ कर अयक्षत पूजा किये हैं, स अर्यमा वह सूर्य नः परिणय करने हेतु विद्यमान हम को इतः पितृकुल से प्रमुञ्चतु छुड़ावें और पतिकुल से मा प्रमुञ्चतु न छुड़ावें यह मन्त्र वर पक्ष में भी लागू किया जा सकता है। इन मन्त्रों को वर के मुख से सुनकर कन्या भी पढ़ती है। इयं नारी वधूः उपपत्युः पति के समीप में ब्रूते बोलती है कि मे पतिरायुष्मान् भवतु मेरे पति दीर्घायु हों मैं इन लाजों को विभाग कर हवन करती हूँ। मम ज्ञातयः एधन्तां मेरे ज्ञाति के लोग वृद्धि को प्राप्त करें हे पते हे नाथ इन लाजों को अग्नि में हवन करती हूँ। ये लाज समृद्धि के कारण हैं। अतः मेरा और तुम्हारा परस्पर संवननं अन्योन्य अनुराग को यह अग्नि और सूर्य अनुमन्यतां अनुमोदन करें। इयञ्च स्वाहा—यह अग्नि की पत्नी भी अनुमोदन करें।

विशेष

लाज धान को भर्जन कर निकाले जाते हैं। और उनमें शमी-वन्हि वृक्ष के पत्ते एवं पलाश पत्ते के टुकड़े मिलाये जाते हैं। उनमें शमी वृक्ष अग्नि गर्भ माना जाता है।

अतएव याज्ञिक लोग शमी काष्ठ को अरणि-अग्नि निकालने का काष्ठ रखते हैं। शमी वृक्ष के पत्ते भी अग्नि से सम्बन्ध रखते हैं। वह तेज के स्थान पर माना जा सकता है। एवं पलाश वृक्ष के वृंतों में तीन तीन पत्ते होते हैं उनमें मध्यम पत्ता विशेष गुणान्वित है। उसको घृत द्रव्य के हवन में दर्वी बना लेते हैं। और मध्यम पत्र में एक विशेषता मानी जाती है कि इसमें सन्तति प्रतिवन्धक निवर्तक शक्ति विद्यमान है और स्त्री रोग निवृत्ति के लिए इसका खास उपयोग में लाते हैं। एवं अग्नि के ताप से धान को भर्जन करने पर लाज बनता है। इन तीनों के मिश्रण को कन्या के व्याकोचात्मक-अञ्जलि से होम का संपादन करने पर अग्नि देव प्रसन्न होकर अभीष्ट फल प्रद बनता है। कन्या के अञ्जलि में भी अग्नि विद्यमान रहता है। प्रदेय वस्तु में अधिकरण में और प्रदान साधन अञ्जलि में अग्नि रूपता का अनुसन्धान की आवश्यकता को वोधित करता है।

पाणिग्रहण

शाखान्तर की रीति से पाणिग्रहण दिखलाया गया है वह स्नान वस्त्रपरिधान समञ्जन समोक्षण योक्त्रसंनहन आदि कर अग्नि सम्मुख आने के पूर्व कन्या के पाणि को अमन्त्रक ग्रहण करते हुए अग्नि के पास आकर वैठते हैं। पारस्कराचार्य लाज होम के अनन्तर सप्तपदी जाने के पूर्व पाणिग्रहण का क्रम वतलाते हैं। यह क्रम इस लिए उचित प्रतीत होता है कि विवाह में पाणिग्रहण और सप्तपदी प्रधान कर्म है, लाजहोम पर्यन्त प्रधान के अंग हैं, वह भी पूर्वाङ्ग है। लाजहोम के मन्त्रों में 'आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम' 'मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यताम् इयᳫं स्वाहा' अर्थात् मेरा पति दीर्घायु हो मेरे ज्ञाति समृद्ध रहे, मेरे तुम्हारा पारस्परिक प्रेम को यह अग्नि अनुमोदन करें इस प्रकार कन्या प्रार्थना करती है। इस मन्त्र से कन्या ने पति को निश्चय कर लिया उसको वर आश्मारोहण और सप्तपदी के द्वारा सुदृढ़ बनाता है।

शाखान्तर की रीति से यह सिद्ध होता है कि वर समीक्षण से कन्या को सहधर्मचारिणी निश्चय कर पाणिग्रहण के द्वारा अग्नि संमुख लाकर सहधर्मचारित्व को निरूपित करता है पदार्थों के क्रम में ही भेद है पदार्थों में नहीं।

प्रयोगविधि के निश्चायकों में मन्त्र पाठ को भी मीमांसकों ने प्रमाण माना है। मन्त्र पाठ जिस क्रम से निवद्ध है उस क्रम से पदार्थों का अनुष्ठान माना जाता है। शाखा के भेद से पाठ क्रम में भेद परिलक्षित होने पर अपनी शाखा के अनुसार अनुष्ठान का विधान है। अतः पारस्कराचार्य लाजहोमानन्तर पाणिग्रहण को सूत्रित करते हैं—'अथास्यैव दक्षिणं हस्तं गृह्णाति'। 'अथ' शब्द आनन्तर्य क्रम का वोधक है। अर्थात् लाजहोमानन्तर कन्या के दाहिने हाथ को वर ग्रहण करता है।

शाखान्तर के सूत्रकार आपस्तम्ब—

अथैनामुत्तरया दक्षिणे हस्ते गृहीत्वा + उदगग्रं कटमास्तीर्य तस्मिन्नुपविशत उत्तरो वरः।

(आप० गृ० २-९)

अग्नेरुपसमाधानाद्याज्यभागान्तेऽथैनामादितो द्वाभ्यामभिमन्त्रयेत् ।
(आप० गृ० २-१०)

अथास्यै दक्षिणेन नीचा हस्तेन दक्षिणमुत्तानꣳहस्तं गृह्णीयात् गृभ्णामि त इत्येताभिश्चतसृभिः ।

(आप० गृ० २.११-१४)

पारस्कर और आपस्तम्ब का इतना अन्तर है कि पारस्कराचार्य मन्त्रों को पूरा लिखते हैं आपस्तम्ब मन्त्र का प्रतीक दिखलाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पारस्कराचार्य शाखान्तर के मन्त्रों का ग्रहण करते हैं, आपस्तम्ब अपनी शाखा में पठित मन्त्र का प्रतीक ग्रहण करते हैं। आपस्तम्ब यह भी सूचित करते हैं कि वर यदि कन्या-सन्तति को अधिक चाहते हों तो कन्या के पांचो अंगुलियों का ग्रहण करें, यदि पुंसन्तति को अधिक चाहेंगे तो कन्या के दाहिने हाथ का अंगुष्ठ मात्र को ग्रहण करें। पाणिग्रहण का पारस्कराचार्यानुसार मन्त्र है—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः ।
भगोऽर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः ॥
अमोऽहमस्मि सा त्वꣳसा त्वमस्यमोऽहम् ॥

सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सरेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान्विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणवाम शरदः शतम् ॥

मन्त्र का तात्पर्यार्थ है कि—हे कन्ये तुम्हारा अंगुष्ठ सहित हस्त का ग्रहण करता हूँ जिससे तिलतण्डुल न्याय से स्त्रीपुरुष सन्तति की प्राप्ति हो सके। जिस पाणिग्रहण से मेरे साथ तुम जरदष्टिः आसः जरायुक्त शरीर वली अर्थात् अनेक वर्ष आयुष्मती रहोगी। चन्द्र सूर्य आदि देवताओं ने त्वा मह्यमदुः मुझे तुमको गृहस्थाश्रम चलाने हेतु दिया है।

हे कन्ये अमोऽहमस्मि अमति सर्वत्र व्याप्नोति व्युत्पत्ति से अम शब्द विष्णुवाची है। मैं विष्णुस्वरूपी हूँ, तुम सा हो अर्थात् प्रसिद्ध लक्ष्मी हो। सा शब्द 'सुवति सूते वा विश्वम्' व्युत्पत्ति से लक्ष्मी वाचक है और सा त्वमसि तुम वेदत्रयी रूप हो मैं वायु सूर्य अग्नि रूप हूँ। 'अग्नेः ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात्सामवेदः' इस श्रुति प्रमाण से तुम तीनों देवताओं से उत्पन्न वेदत्रयी रूप हो, किञ्च मैं साम हूँ तुम ऋचा हो, मैं अन्तरिक्ष हूँ तो तुम पृथिवी हो, इस प्रकार के हम दोनों विवाह संस्कार से संस्कृत होकर धन-धान्य, पुत्र-पौत्रादियों से युक्त होकर चिरकाल तक जीवन यापन करते हुए समाज की सेवा करते रहें।

अश्मारोहण

पाणिग्रहण होने के अनन्तर वर वधू को अग्नि के उत्तर दिशा में स्थापित सिल में चढ़ाता है। वधू को दाहिना पाद प्रथम रखकर चढ़ाना है। मन्त्र है—

१६

आरोहेममश्मानमश्मेव त्वᳪस्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽव बाधस्व पृतनायतः॥

इस सिल पर चढ़ो, चढ़कर सिल के समान दृढ़ रहो। और पृतन्यतः कलह करने वाले शत्रुओं को अभितिष्ठ सामना करो, एवं पृतनायतः सेना से आक्रमण करने के यत्न करने वालों को अव बाधस्व रोको।

विशेष

अश्मारोहण एक संस्कार है। हृदय से मृदु होते हुए भी कर्मों में दृढ़ता, क्लेशों को सहने की भावना, गार्हस्थ्य को चलाने में धीरता, श्रौतस्मार्त कर्मानुष्ठान में व्यग्रता, पाप भीरुता, बुरे कार्यों में व्यसन रखने वाले पारिवारिक लोगों को रोक कर अच्छे कार्यों में लगाने की दक्षता आदि गुणों से भूषित भारतीय नारी-समाज ही अग्रसर होता है। इस संस्कार से यह अवगत होता है। इसी को वर गथा के द्वारा सूचित करता है—

'सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती।
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः॥
यस्यां भूतᳪसमभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः'॥

सरस्वतो देवी की स्तुति है जो नारी जगत के लिए उत्तम यश देने वाली है। सरस्वती—सरतीति सरः सरः अस्या अस्तीति सरस्वती सर्वत्र फैलने वाली व्यापक वैखरी वाग्रूपा एवं वाजिनीवतो—हंस वाहिनी इदं प्राव इस द्वन्द्व पति पत्नी एवं कर्म की रक्षा करो। यां त्वा जिस तुम को सारे जगत को जनयित्री कहा गया है। यस्यां जिस देवी में समस्त विश्व उत्पन्न होकर लय को भी प्राप्त करता है। लीन जगत् पुनः उत्पन्न होता है उस गाथा को मैं गाता हूँ जिसको सुनने से स्त्री समाज को श्रेष्ठ यश मिलता है।

वर इस गाथा को सुनाते हुए वधू के विषय में यह भावना रखता है कि सोम सूर्य आदित्य आदि परम्परा से आयी हुई यह वधू न केवल धन धान्य आदि से समृद्ध हो कर रहने वाली है किन्तु विद्या की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी के अनुग्रह से विद्यावती भी रहेगी। जैसा धन धान्य आदि से सामाजिक कार्यों को सम्पन्न किये जाते हैं वैसा विद्या के क्षेत्र को भी विकसित कराना गृहस्थ के लिए आवश्यक है। इस कार्य में भी यह वधू साथ देती रहेगी। 'पाणिग्रहणात्तु सहत्वं पुण्यफलेषु' कहा गया है। पुण्य फलों को प्राप्त करना धन दौलत मात्र से नहीं हो सकता है किन्तु वह विद्या सापेक्ष है। इतने सन्दर्भ से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर वधू को दुर्गा-लक्ष्मी-सरस्वती के रूप समझ कर अपने गार्हस्थ्य कार्यों को निर्वाह करें। आज के समाज में वर या वर पक्ष के लोग यह भावना नहीं रखते हैं, केवल उपभोग साधन मानकर चलते हैं। अत एव स्त्री-समाज नाना प्रकार की यातनाओं का भागी बनता है देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है, नैतिकता का पतन देखा जाता है। समाज का उद्धार नैतिकता से होता है। नैतिकता पालन विद्या से ही हो सकता है। वह विद्या स्त्री समाज के उपदेश से साध्य है। हर एक घर में माता

पिता के उपदेश व्यवहार आचरण आदि से ही सन्तान शिक्षित होते हैं पूर्वोक्त गाथा सुनाने का यही तात्पर्य है।

अग्नि का परिक्रमण (परिणय)

अश्मारोहण के अनन्तर वर वधू के साथ अग्नि का परिक्रमण करेगा। यह परिक्रमा लाज होम का अंग है। लाज होम एक वार हुआ है। परिक्रमा कर पुनः उसी प्रकार से भाई के द्वारा वह्नि वधू के अंजलि में दिये हुए लाजों का होम, पुनः परिक्रमा पुनः होम तृतीय वार परिक्रमा के अनन्तर शूर्प में विद्यमान लाजों को शूर्प के कोने से अंजलि में डालकर 'भगाय स्वाहा' मन्त्र पढ़कर वधू होम करती है। इस प्रकार लाज होम चार होते हैं, तीन परिक्रमा होते हैं। परिक्रमण ही परिणय है। परिक्रमण करते हुए वर मन्त्र पढ़ता है—

तुभ्यमग्रे पर्यवहन् सूर्यां वहतु ना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दाग्ने प्रजया सह॥

हे अग्ने! तुभ्यं-तुम्हारे पास अग्रे पूर्व इस कन्या को पालन के लिए **पर्यवहन्** देवों ने पहुँचाया है। **सूर्यां** सूर्य से पली हुई इस कन्या को आप वहन करो। तुम **ना** हो अर्थात् परमपुरुषार्थ के हेतु हो, और **प्रजया सह** प्रजा-सन्तति के साथ जाया के रूप में मुझे **दाः** दो।

विशेष

जिस कन्या का हम पाणिग्रहण करते हैं परिणय करते हैं वह मानव जाति के होते हुए भी वेद मन्त्रों द्वारा बतलायी गयी एक परम्परा से आयी हुई समझ कर गौरव बुद्धि से देखने को मन्त्र उपदेश करता है। इस मन्त्र में **दाग्ने** पद विद्यमान है। **दाः अग्ने** इसका पदच्छेद करना है। हे अग्ने ? सोम आदि परम्परा से तुम्हारे पास आयी हुई इस कन्या को मुझे दो कहकर अग्नि देव से मांगता है। इस प्रकार की भावना से वर कन्या को परिणय करता है नयतीति नयः परि-परितः नयः परिणयः सूत्रकार ने **परिक्रामति** शब्द का प्रयोग किया है। क्रमण का अर्थ है पादविक्षेप-पैर रखना। अग्नि के परितः पादविक्षेप करना अर्थ निकला। परिक्रमण ही परिणय है। परिक्रमण करते हुए मन्त्र पढ़ने का तात्पर्य है—सांसारिक सुखोपभोग होते हुए भी इस कन्या के द्वारा मुझे आध्यात्मिक शक्ति भी प्राप्त हो, यह अग्नि से प्रार्थना करता है। परम पुरुषार्थ हेतु अग्नि देव से लौकिक सुखोपभोग मात्र चाहना अनुचित है जबकि अग्नि देव परमपुरुषार्थ देने का सामर्थ्य रखता है। अपनी शक्ति के अनुसार हे अग्ने ? इस तुम्हारी कन्या को परमपुरुषार्थ साधन बनाकर मुझे दो। जिससे धर्म संवलित अर्थ और काम को सेवन करते हुए परमपुरुषार्थ को भी हम प्राप्त कर सकें। अत एव कन्या पिता कन्या दान के समय अपने संकल्प में निर्देश करता है—'नित्यनिरतिशयानन्द-शाश्वत-ब्रह्मलोकावाप्त्यर्थं श्रीमहाविष्णुप्रीत्यर्थं कन्यादानं करिष्ये' दाता परिग्रहीता देय इन तीनों की एकता की भावना और उसके आध्यात्मिक चेतना के उद्भावकता में क्या सन्देह है।

सप्तपदी

अग्नि को तीन परिक्रमा कर आसन में वैठकर प्राजापत्य होम करेगा। अनन्तरं अग्नि के उत्तर दिशा में सप्तपदी का अनुष्ठान होता है। अर्थात् मन्त्रपुरस्सर वधू के द्वारा सात पद-पैर वर रखवाता है। वर के द्वारा एक एक मन्त्र उच्चारित होने पर वधू एक एक पाद विक्षेप करेगी। सम्प्रदाय विशेष में वर कन्या के दक्षिण पाद के अंगुष्ट को स्पर्श कर एक एक पद रखवाता है। अग्नि के उत्तर भाग में कन्या उत्तराभिमुखी रहेगी और वर उत्तर दिशा में कन्या के पादविक्षेप करावेगा। मन्त्र है—'एकमिषे विष्णुस्त्वान्वेतु'। अनुपङ्गाधिकरणन्याय से 'विष्णुस्त्वान्वेतु' इस भाग का सभी मन्त्रों में अनुषङ्ग कर वोलना चाहिए। 'द्वे उर्जे विष्णुस्त्वान्वेतु' 'त्रीणि रायस्पोपाय विष्णुस्त्वान्वेतु' 'चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वान्वेतु' 'पञ्च पशुभ्यो विष्गुस्त्वान्वेतु' 'पड्ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वान्वेतु, 'सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव'।

इस मन्त्र में 'इषे' 'ऊर्जे' ये पद चतुर्थी विभक्ति के हैं। इट् शव्द का अन्न अर्थ है और 'ऊर्क्' शव्द का अन्न रस या वल अर्थ है। 'एकं द्वे' आदि पद पग के संख्यावाची है। एक एक पग को रखकर आगे वढ़ना चाहिए। हर एक पग पर व्यापनशील विष्णु देव तुम्हारा अनुसरण करें कहकर वर कन्या के दाहिने पग के अंगुष्ठ को पकड़ कर पाद विक्षेप कराता है। 'रायस्पोषाय' धनपोषण के लिए, 'मायोभवाय' सुख के हेतु वनाने के लिए 'पशुभ्यः' चतुष्पद गाय वैल आदि पशु वृद्धि के लिए, 'ऋतुभ्यः' छः ऋतुओं में वृष्टि सस्य पुष्प फल आदि की वृद्धि के लिए एक एक पग रखवाकर अन्त में 'सखे सप्तपदा भव सा माभनुव्रता भव' कहता है। समानं ख्यायत इति सखा। सखिशव्द का अर्थ पहले कहा जा चुका है। इहलोक और परलोक में तुम मित्र हो ऐसा तुम 'सप्त पदा भव' भूरादि सप्तलोकों में रहने वाली वनो मुझे अनुसरण करती रहो कहकर सातवें पग को रखवाता है।

विशेष

हमारी परंपरा में 'सप्त' शव्द महत्त्व रखता है। सप्तर्पि सप्तच्छन्द, सप्त देवता सप्तलोक सप्त व्याहृतियाँ, नवग्रहों में सप्तग्रह, द्वादश राशियों में सप्तम राशि सप्तम स्थान, सप्त रश्मियाँ, सप्त वार सप्त कन्याः सप्त वृक्ष सप्त तटाक सप्त नदी, सप्त गिरि, सप्त तन्तु, सप्त व्याधा सप्तसप्ति, सप्त संस्था सप्त जन्म, सप्तपर्णी सोमयाग में सोमलता को खरीदने के लिए गाय को ले जाते हुए उसके सप्तम पग में 'सप्तमे पदे जुहोति' में सप्तम पद आदि स्थलों में 'सप्त' शव्द का प्रयोग किया जाता है। इससे सप्त शव्द का विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। वही महत्त्व सप्तपदी में भी है। यों तो हमारे संख्या शास्त्र के अनुसार सभी संख्याओं का महत्त्व विद्यमान है ही किन्तु सप्तसंख्या की एक विशेषता है। वह पुराणों में प्रतिपादित है। उत्तरायण के 'रथसप्तमी' के दिन प्रातः स्नान करते हुए सात अर्क पत्र-मदारपत्रों को शिर पर रखकर स्नान किया जाता है उस समय पौराणिक मन्त्र—

सप्त सप्त महासप्त सप्तलोकैकपावनि ।
सप्त जन्मार्जितं पापं हर सप्तमि सप्तमि ॥

वोला जाता है। यह सप्तमी तिथि की विशेषता है। क ट प यादि संख्या शास्त्र के अनुसार 'सप्तसंख्या' शब्द का अंक २१ निकलता है। यह उसका सूचक है कि कन्या पिता अपने कन्यादान संकल्प में 'दशानां पूर्वेषां दशानामुत्तरेषामात्मनश्चैकविंशतिकुलानामुत्तारणाय' निर्देश करता है। 'एक्कीस पीढी का उद्धार' को यह 'सप्त पदी' कर्म सूचित करता है।

शाखान्तर में छः पादविक्षेप तक समान मन्त्र तो है किन्तु सातवाँ पद विक्षेप का जप मन्त्र विलक्षण प्रतिपादित है—

सखा सप्तपदा भव सखायौ सप्तपदा बभूव सख्यन्ते गमेयꣳसख्यात्ते मायोषꣳसख्यान्मे मायोष्ठास्समयाव सङ्कल्पावहै संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ इषमूर्जमभिसंवसानौ सन्तौ मनाꣳसि संव्रता समुचित्तान्याकरम् । सा त्वमस्यमूहमस्मि सा त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वꣳरेतोऽहꣳरेतोभृत्त्वं मनोऽहं वाक्त्वꣳसामाहमस्मि ऋक्त्वꣳसा मामनुव्रता भव पुꣳसे पुत्राय वेत्तवै श्रियै पुत्राय वेत्तवा एहि सूनृते'

सात पैर रखने वाली तुम सखा भव, मैं भी सप्तपद हूँ हम दोनों सखायौ बभूविव। (बभूव द्विवचन का लोप है) 'सख्यन्ते गमेयम्' तुम्हारा सख्य को प्राप्त करूँ। तुम्हारे सख्य से मैं पृथक् न हूँगा मेरे सख्य से तुम 'मायोष्ठाः' पृथक् न होना। 'समयाव' हम दोनों सभी कार्यों में संगत रहेंगे। 'सङ्कल्पावहै' अच्छे काम का संकल्प रखेंगे। 'सम्प्रियौ आपस के प्रीतिवाले, 'रोचिष्णू' हम दोनों सदृश होने से आपस में आश्रय पाकर प्रकाशमान रहे, शोभनमनवाले होकर धन धान्य को अनुभव करते रहें। अनेक व्यापारों में लगे रहने से विक्षिप्त मन न होकर समानता को प्राप्त करें। जो धर्म कर्म करना है वह तुम्हारे साथ करना है तुम ही मैं हूँ मैं ही तुम हो। एवं गुणोपेता 'एहि सूनृते' प्रियकर वाग् वाली आओ। पाणिग्रहण मन्त्र में शेष भाग आ चुका है। शाखा और सम्प्रदाय के भेद से मन्त्रों का विनियोग भिन्न हो जाना स्वाभाविक है।

वधू का अभिषेक या प्रोक्षण

सप्तपदी का अनुष्ठान करते हुए उदकुम्भ को स्कन्ध में ले कर एक व्यक्ति अग्नि के दाहिने भाग में मौनी होकर खड़ा रहेगा। सप्तपद निष्क्रमण समाप्त होनेपर वर वधू के मूर्धा को उस जल से प्रोक्षण या अभिषेक करेगा। उसका मन्त्र है—

'आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्' आदि।
यह जल मङ्गलकर है शान्त तम है तुम्हारे लिए यह जल औषध का कार्य करें।

सूर्य को दिखलाना

वर अभिषेकानन्तर वधू को 'तच्चक्षुर्देवहितम्' मन्त्र से सूर्य का अवेक्षण कराता है।

हृदय स्पर्शन

सूर्य को दिखला कर वधू के हृदय का स्पर्श करते हुए मन्त्र बोलता है—

'मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु, मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्'

हे कन्ये! मेरे व्रतानुष्ठान में तेरे हृदय को धारण करता हूँ, मेरे चित्त के अनुसार तुम्हारा चित्त रहे मेरे वचनों को सावधान मन से ग्रहण करो परमात्मा मेरे लिए तुम्हें नियुक्त करें।

विशेष

हृदय के बारे में लिख चुका हूँ। हृदय कमल का उद्घाटन कष्ट साध्य है। अपने हृदय में तुम्हारे हृदय को धारण करता हूँ कह कर वर सप्तपदी के अनन्तर एकात्मकता का द्योतित करता है लोक में 'तुम कहाँ हो' प्रश्न करने पर हृदय को स्पर्श कर उत्तर दिया जाता है 'मैं यहाँ हूँ'। हृदयाकाश ही आत्मा का अधिष्ठान है। हृदय कमल हर एक को भिन्न होने पर भी उसमें रहने वाली आत्मा एक है। इस तत्त्व को मन्त्र द्वारा वर द्योतित करता है—हे कन्ये हम दोनों अलग नहीं हैं एक हैं। व्रत आदि में यदि मैं शिथिल हो जाता हूँ तो तुम मुझे उद्बोधित करो। परमेश्वर तुमको इस लिए नियुक्त किया है कि मेरे आचरण व्रत आदि में तुम्हारी सहायता की अपेक्षा है। क्यों कि सप्तपदी के अनन्तर वधू पक्की गृहिणी बन जाती है। समाज में गृहिणी का स्थान प्रधान माना जाता है। महा कवि कालिदास लिखता है—

'भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीप गमः'

परिवार में संभव है कि कभी कभी पति पत्नी का मनमोटाव। उस समय पत्नी ही पति को सुधारने का अधिकार रखती हैं हर एक परिवार में यह स्थिति रहने पर सुदृढ़ समाज बनता है। तात्कालिक समाज के स्वरूप को कवि लिखता है धन दौलत आदि से सुसमृद्ध परिवार में जितना दायित्व पुरुष का है उतना या उससे अधिक स्त्रियों का है। यही हमारी संस्कृति है। इसका वैपरीत्य जिस कुल में पाया जाता है वह कुल या परिवार नष्ट ही समझा जाता है। इसी को कवि कहता है—

'यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः'

कवि का 'गृहिणीपदं' शब्द ध्यान देने योग्य है। सप्तपदी संस्कार करने के अनन्तर ही वधू 'गृहिणीपद' के योग्य बनती है और घर के सभी कार्यों में अधिकार और दायित्व रखती है। हिन्दू संस्कृति में शास्त्रों के उपदेशों को प्राबल्य माना गया हैं। शास्त्र मानवों के कर्तव्य को बतलाता है। कर्तव्य तो मानवाधीन है। अपने कर्तव्य का पालन मानव नहीं करता हो उसको रास्ते में लाना स्त्रीसमाज के अधीन है! अत एव मन्त्र कहता है— 'मम व्रते ते हृदयं दधामि'। कर्तव्य का पालन नहीं करने पर शासक राजा शस्त्र से ठीक करता है। 'शास्त्र' जैसा वैसा 'शस्त्र' है। किसी कार्यालय के कर्तव्य को पालन नहीं करने पर कर्मचारी को अधिकारी दण्डित करता है। वह दण्ड-विधान कार्यालय के विधियों में

परिगणित हैं। उसी प्रकार घर या परिवार अथवा समाज में विधान परिगणित हैं। उसका अनुपालन स्त्री पुरुषों का समान हैं। इस समानता को यह मन्त्र द्योतित करता है।

अभिमन्त्रण आदि

हृदय स्पर्शन के वाद उत्त रांग होम के अनन्तर अभिमन्त्रण मन्त्र पढ़ना चाहिए यह प्रसिद्ध मन्त्र है। वधू के सौभाग्यकी कामना इस मन्त्र से की जाती है। विवाह संबन्धी जितने देवताएँ है उनसे प्रार्थना की जाती है कि इस वधू को सौभाग्य देकर अपने अस्तं-गृह यात-जायिये न विपरेत-विमुख होकर न जायिये। पुनः आने का मन रखिये। लोक में किसी को अपने गन्तव्य प्रदेश को भेजते हुए कहा करते हैं 'क्षेमाय पुनरागमनाय च'। यह आचार इसी मन्त्र से चला आ रहा है। वधू के सौमंगल्य सौभाग्य की कामना करते हुए सुमङ्गली स्त्रियाँ हलदी चूना मिश्रित जल से आरतीं उतारती हैं।

अनन्तर वर वधू को ले जाकर घर के अन्दर वैठाता है। वहाँ वृद्ध स्त्रियाँ सौभाग्य द्रव्यों से अपने देशाचार के अनुसार वधू को विभूषित करती हैं। अनन्तर वर वधू को ध्रुव नक्षत्र दिखलाता है। आचार्य को वर-दक्षिणा से सत्कृत करता है वधू और वर कम से कम तीन रात अक्षार लवण व्रत रखेंगे।

प्रवेश होम

यदि विवाह लग्न दिन में हो तो उस दिन सूर्यास्तके बाद प्रवेश होम किया जाता है। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति को अग्नि-सन्धान से नित्पन्न अग्नि का यावज्जीव धारण करने का विधान है इस आधान से ही अग्नि की उत्पत्ति मानी जाती है। इस अग्नि में सायं प्रातः तण्डुलों से हवन करते हुए पर्व काल आने पर तण्डुल को चरु वनाकर चरु का हवन होता है। इसी को स्थालीपाक-होम कहते हैं। स्थालीपाक का होम पर्व सन्धि में किया जाता है! चरु के बिना तण्डुल होम को ओपासन होम कहते हैं। औपासन होम सायं प्रातः करें।

शेष होम

चौथे दिन के अपररात्रि-रात्रिशेष में उठ कर मंगल स्नान से निवृत्त वर वधू शेष होमानुष्ठान करते हैं। इसको चतुर्थी कर्म भी कहते हैं। तिथि वार नक्षत्र आदि को कीर्तन कर कुश कण्डिका पूर्वक औपासनाग्नि को प्रज्ज्वलित कर चरु वनाकर विहित होमों का अनुष्ठान करना है। आज्य भागान्त पूर्वाङ्गों को अनुष्ठान कर छः प्रधान होम आज्य से करना है। छटवाँ होम में स्थालीपाक चरु से करना है। होम के मन्त्र—

'अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उप-धावामि याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्य नाशय स्वाहा'

'वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि। ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उप-धावामि याऽस्यै प्रजाघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा'

'सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि। ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पशुघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा'

'चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि। ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै गृहघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा'

'गन्धर्व प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै यशोघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा'

इन छः मन्त्रों से छ- आहुतियाँ प्रधान होम हैं। मन्त्रों का तात्पर्य है कि कन्या के शरीर में पति-पुत्र-पशु-गृह-यश के नाशक तत्त्व हो सकते हैं, उनके निराकरण हेतु ये होम किये जाते हैं। इनको देवताएँ अग्नि-सूर्य-वायु-चन्द्र-गन्धर्व हैं। प्रजापति छठवाँ होम का देवता है। गन्धर्व पृथ्वी संबन्धी देवता है।

विशेष

वरवधू के अन्वेषण के लिए घटकों को भेजकर वधू के परिवार के महत्त्व व्यक्तित्व एवं वधू के रूप सौन्दर्य शील आदि को पहिचान लेता है. तदनन्तर विवाह के लिए प्रवृत्त हो जाता है। जैसा कि मानवरूपी यन्त्र का निर्माण रहस्यमय है वैसा ही वधू और वर का विवाह भी। जहाँ ईश्वर को घटना है वहाँ ही विवाह घटित होता है। शास्त्र दृष्टि से विचार करने पर मालुम होता है कि जिन वधूवरों को पूर्व-जन्म में कोई संवन्ध रहा हो उन्हीं लोगों को इह जन्म में संवन्ध घटित होता है। विवाह एक तन्तु है जो दोनों को सीकर दृढ़ रखता है। लोक में विना आडंबर के रहने वाले सुख दुःखों को अनुभव करते हुए कहते हैं कि पूर्वजों का पुण्य है आज हम धन दौलत आदि से सुख का अनुभव करते हैं। उसी प्रकार दुःखों को अनुभव करते हुए पूर्व जन्म का पाप है या पूर्वजों का पाप है। पुण्य हो या पाप दोनों जन्य हैं। जन्य मात्र के प्रति एक जनक होना निश्चित है। विना कारण कोई तो कार्य उत्पन्न नहीं होता है। कौन है वह कारण? स्वयं या अपने द्वारा अनुष्ठित कर्म को छोड़ कर अन्य कौन कारण वन सकता है? भला या बुरा फल को भोगनेवाली आत्मा होती है। वह भी भोगायतन शरीर में रहकर पुण्य और पाप के फल को भोगती है। किन्तु शरीर के नष्ट होने पर वह नष्ट नहीं होती है। क्यों कि वह जन्म जन्मान्तरों में नित्य रहने वाली है। शास्त्रकारों के कहने से ही इस वात को मानना है यह वात नहीं है यह स्वयं अनुभव करने का विषय है और स्वयं अनुभव किया भी जता है। यह मानकर हमें चलना होगा कि प्रत्यक्ष से अनुभव किया हुआ पदार्थ ही का कालान्तर में स्मरण होता है। जिस पदार्थ को हमने अनुभव किया नहीं उसका स्मरण करना संभव नहीं यह नियति है। जो अनुभव करता है वही स्मरण भी करता है। एक ने अनुभव किया और दूसरा उसका स्मरण करता है यह संभव नहीं। एवञ्च जिसने जिसका कालान्तर में अनुभव किया उसने उसका स्मरण किया यह निष्कर्ष निकला। इस प्रकार स्मरण करने का साधन है संस्कार। वह संस्कार उसी में अधिष्ठित है जिसने अनुभव किया है। अनुभव उससे समुत्पन्न संस्कार उससे समुत्पन्न स्मरण ये तीनों एक वस्तु में अधिष्ठित हैं। वह एक कौन है? शरीर इन्द्रिय आदि नहीं

हो सकते क्योंकि उनके नाश होने पर स्मरण होता है। इस रीति से आत्मा नित्य सिद्ध होती है। जगत की विचित्रता को देख कर यह विचार उत्थित होता है कि छोटे मोटे भोगायतन-शरीर को वह आत्मा कैसे धारण करती है? नित्य आत्मा को न मानकर शरीर मात्र को मानकर चलने पर पूर्वोक्त प्रक्रिया सिद्ध नहीं हो सकती। उस प्रक्रिया को स्वीकार किये विना स्मरण की उपपत्ति नहीं बनेगी।

अत एव हमारे चिरन्तन दार्शनिकों ने विविध उपायों से नित्य आत्मा को सिद्धकर दिखलाया है। हम शब्दतः उसको जान पाते हैं, वे अर्थतः भी जानते थे। वह आत्मा चाहे भिन्न हों चाहे एक, भोगायतन शरीर के बिना सुख और दुख का अनुभव करना संभव नहीं। भिन्न होते हुए उसका भोगायतन भिन्न होना स्वाभाविक है। एक होते हुए भोगायतन-शरीर के भेद से उसका औपाधिक भेद सिद्ध होता है। उपाधि को हटाकर उपाधि रहित अवस्था को प्राप्त करने पर वह सत् चित् आनन्द रूप रह जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने का ही विवाह संकार किया जाता है।

इस पृष्ठ भूमि में रह कर इन पाँचों मन्त्रों के तात्पर्य का चिन्तन करना चाहिए। घटकों के द्वारा वधू का निश्चय वरपक्ष के द्वारा उसका अनुमोदन, कन्या पक्ष से वर का पाद्य अर्घ्य आदि से सत्कार, सत्कृत वर के द्वारा वधू का समीक्षण पाणिग्रहण अश्मारोहण सप्तपदी का परिक्रमण से परिणय आदि के अनन्तर वर शेष होम में प्रवृत्त होता है। जन्म जन्मान्तर का जो सम्बन्ध वह पुनः विवाह रूप से घटित हुआ। यह घटना दैव कृत है और इसका दीर्घकाल तक अनुस्यूत रहना है इसका विच्छेद नहीं होना है। दैव कृत है तो इसका विच्छेद की सम्भावना क्यों है यह प्रश्न उत्थित होगा। दैव अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी करता किन्तु जीव उस उस भोगायतन-शरीर को पाकर जैसे जैसे कर्मों का अनुष्ठान किया हो वैसे वैसे फलों के उपभोग के लिए भोगायतन-शरीर की व्यवस्था करने मात्र का अधिकार रखता है। पुनः प्रश्न उत्थित होता है कि किये हुए कर्मों के अनुसार ही फलोपभोग हो तो दैव का इसमें क्या अधिकार है? प्रश्न सही है किन्तु मानवों को विवेक रूपी साधन प्रदान कर अपनी अनुग्रह शक्ति का परिचय कराता है। उस अनुग्रह शक्ति का ही परिचायक हैं ये मन्त्र। बुरे कर्मों का आचरण कर बुरे फलों को भोगने का अधिकारी होकर भी मानव अपने विवेक से प्रायश्चित कर दैव की अनुग्रह शक्ति को पा-सकता है। 'प्रायश्चित' पद का अर्थ पूर्व निरूपित हो चुका है। इन पांच मन्त्रों में देवता अग्नि-सूर्य-वायु-चन्द्र-पृथ्वी के विशेषण दिया गया है 'प्रायश्चित्तिरसि'। अर्थात् इन देवताओं में पापनिर्हरण शक्ति विद्यमान है। यदि हम अपने विवेक से उन देवताओं की शक्ति को पहचान कर विहित कर्मों का अनुष्ठान करें तो दैव के अनुग्रह से विपरीत फल को हटा कर अच्छे फल को प्राप्त कर सकेंगे। इसी तात्पर्य से ये शेष होम किये जाते हैं।

जन्म जन्मान्तरों में भटक भटक कर अच्छे बुरे कर्मों द्वारा सञ्चित पुण्य और पाप के फलों को कुछ भोग कर और कुछ शेष रखकर इस जन्म में भोगने के लिए आयी हुई वधू में पति पुत्र पशु-गृह-यश के लोप करने वाले तत्त्व शायद रह सकते हैं। उस तत्व को दूर करने के लिए ये होम किये जाते हैं। वर के द्वारा किये हुए समञ्जन समीक्षण

अभिषेक आदि क्रियाओं से बहुत कुछ अनिष्ट तत्त्व हट गये हैं तथापि उनमें यदि कुछ शेष हो तो उसको हटाने के लिए ये होम किये जाते हैं। अत एव इनका शेष होम संज्ञा दी गयी।

इन पांच मन्त्रों में वे ही देवतायें हैं जो मन्त्रगत अक्षरों में अधिष्ठित हैं। पूर्व इसका विवरण दे दिया गया है। पाश्चात्य संस्कृतिप्रवाह में प्रवहित और यान्त्रिक युग में चलने वाले भारतीय बालक और युवा युवतियों इन बातों में विश्वास या श्रद्धाभाव नहीं होगा, इतने गहरे गर्त में हमारा पतन हुआ है कि हम उस गर्त से उठने के सामर्थ्य को खो वैठे हैं। किन्तु लोगों में उठने की भावना भरी हुई है। वह भावना जैसा उद्भूत हो वैसी चेष्टा करना हमारा कर्तव्य है। यह शिक्षापद्धति के परिवर्तन से साध्य है। आज कल वही शिक्षा पद्धति प्रचलित है जिससे प्रमाणपत्र के पाने से 'इति श्री' हो जाता है। प्रमाण-पत्र पाना ही अध्ययन का लक्ष्य वन गया है। ज्ञान आचरण व प्रचारण लुप्तप्राय है। अध्ययन का फल वोध, वोध का आचरण, आचरण का प्रचारण यह क्रम होता हैं। शिक्षा पद्धति में पुनः उस क्रम को जारी रखने से ही हमारी संस्कृति वच सकती है।

आज कल के प्रवाह को देखते हुए मैं मानता हू—गृह्यसूत्रकारों द्वारा बतलाये गये पद्धति के अनुसार उपनयन विवाह आदि संस्कारों को चलाना कठिन है, क्योंकि लोगों के पास उतना समय नहीं समय रहने पर भी सहन शक्ति नहीं है। तथापि स्थान स्थान में विशेषतः गावों में पुराणप्रवचन के माध्यम से संस्कारों से आधारित संस्कृति संवन्धी गोष्ठियों व्याख्यानों को आयोजित करने से थोड़ा परिवर्तन लाया जा सकता है। छोटे छोटे कथाओं के रूप से ग्रन्थों को निर्माण कराकर छोटे कक्षाओं के पाठ्यक्रम में उनको पढाना चाहिए। विशेषतः ग्रामों के बालक वालिकाओं को संस्कृति संवन्धी ज्ञान कराना चाहिए। महाविद्यालयों के अध्यापकों को अवकाश समय में गाँव गाँव भेजकर डयूटी लगाना चाहिए ताकि वे छोटे कक्षाओं के विद्यार्थियों के हृदय परिवर्तन करा सकें।

उच्च उच्चतर श्रेणियों के छात्रों को अध्यापक गांवों में जाकर उनके द्वारा भारतीय संस्कृतिसंवन्धी बातों को व्याख्यान दिलाना चाहिए। हमें आगे देख देख कर जाते ही रहना चाहिए, लेकिन कभी कभी घूम कर पीछे भी देखते रहना चाहिए। क्योंकि हमें साथ देने वाला पीछे ही रहता है। अंग रक्षकों को हम आगे पीछे वगल में रखते हैं उन में पीछे जो रहते हैं वे ही साथ देने वाले होते हैं। आगे और वगल के अंग रक्षक आगे-आगे देखकर जाते रहेंगे, पीछे रहने वाले हम ही को देखकर सावधान रहेंगे। वह पीछे साथ देने वाला कौन है ? यह मानव को सोचना चाहिए। हम जीवन में पत्नी पुत्र पुत्री सखा नौकर आदि मुझको छोड़े विना जीवन यात्रा करते हैं लेकिन अंतिम समय में उनमें हमारे साथ देने वाला कोई भी नहीं हैं—

दाराः पुत्राः परमसुहृदो वान्धवाः किङ्करा वा
स्वप्नावस्थास्वपि च विरहं ये मया न क्षमन्ते।
अत्यासन्ने तपनतनयस्याज्ञया दूतवर्गे
तेष्वेकोऽपि स्मरहर न मां गन्तुमन्वस्ति जन्तुः॥

मेरे साथ ये लोग चिपके हुए रहते थे किन्तु अन्तकाल के समय एक भी मेरे साथ नहीं आता है। मेरे साथ देने वाले वही है जो मेरे कर्म से कमाया पुण्य और पाप। हम ज्ञानी और भगवद्भक्त बनना चाहते हैं भगवान के चरणों में चित्तवृत्ति को लगाना चाहते हैं लेकिन ज्ञानी बनने के लिए अपने को शुद्ध रखना होगा, भगवद्भक्त होने के लिए चित्त को शुद्ध रखना होगा, वह शुद्धि विहित कर्मों का अनुष्ठान निषिद्ध कर्मों का त्याग से ही संभव है। चित्त शुद्धि होने में बुरे कर्मों के अनुष्ठान से प्रतिबन्धक उत्पन्न हों तो शेष होमों के मन्त्रों में इसीलिये 'देवानां प्रायश्चित्तिरसि' कहा गया है। अग्नि-सूर्य आदि देवताएँ देवों का भी दोष निर्हरण करने का सामर्थ्य रखते हैं वे देव मानवों के दुष्कर्म जन्य दोषों के निराकरण करने में क्या कहना है? इतने भावों को समझकर इन होमों को किया जाता है।

उत्तराङ्ग

शेष होमों को समाप्त करके अंग होमों का एवं स्विष्टकृत् होम स्थालीपाक होम वधू के मूर्धा में अभिषेक हविश्शेष भक्षण आदि करना है।

गर्भाधान

एवं विवाह संस्कार संपन्न कर निर्दुष्ट ऋतुकाल में वर भार्याभिगमन का अधिकारी होता है। गर्भाधान एक उत्तम संस्कार है। इस संस्कार को शान्ति कर्म समावेश-संस्कार नाम से भी व्यवहार करते हैं। वधू का प्रथम ऋतु होनेपर दिन नक्षत्र समय आदि का परीक्षण कर दूषित दिन नक्षत्र वेला में ऋतुमती होने से तदर्थ शान्ति कर्म किया जाता है। कहीं कहीं ऋतुवेला से लग्न निकालकर जन्म कुण्डली बनाकर रखते हैं। जैसा उपनयन से त्रैवर्णिक द्विज कहलाते हैं, वैसा कन्या का यह आर्तव दूसरा जन्म समझा जाता है। जैसे बच्चे के जनन में तिथि वार नक्षत्र वेला आदियों के दुष्ट और अदुष्ट का विभाग पूर्वक शान्ति की जाती है उसी प्रकार प्रथम ऋतु समय को देखकर यदि दोषयुक्त हो तो ऋतु शान्ति कर गर्भाधान संस्कार किया जाता है। अतएव ऋतु शान्तिपूर्वक समावेश संस्कार प्रथम ऋतु का समय निर्दुष्ट होनेपर केवल समावेश संस्कार मात्र प्रचलित है। इस संस्कार में मन्त्र मात्र का जप होता है हवन अदि नहीं। पारस्कराचार्य—

'तामुदुह्य यथर्तुं प्रवेशनम्। अथास्यै दक्षिणांसमधिहृदयमालभते यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ श्रृणुयाम शरदः शतमिति'।

अपने इस सूत्र में निर्देश करते हैं कि वधू को उद्वाह कर निर्दिष्ट ऋतुकाल में प्रवेशनं-अभिगमन कराना चाहिए। वधू के हृदय तक के दाहिने अंस भाग को वर अपने दाहिने हाथ से स्पर्श-आलिंगन करते हुए इस मन्त्र को पढ़ेगा—हे सुसीमे-शोभन सींमन्त वाली कन्ये जो तुम्हारा हृदय-मन दिवि-आकाश में विद्यमान चन्द्रमसि—चन्द्र में अधिष्ठित है उसको मैं जानता हूँ, वह तुम्हारा मन मुझको समझे, एक मनवाले हम दोनों होकर सौ वर्ष पुत्र पौत्र आदियों को देखते सुनते जीते रहें।

विशेष

इस मन्त्र में 'चन्द्रमसि श्रितम्' कहा गया है। उसका तात्पर्य है कि श्रुति कहती है 'चन्द्रमा मनसो जातः' विराट् पुरुषोत्तम के मन से चन्द्रमा का उद्भव है। उस चन्द्रमा में तुम्हारा मन अधिष्ठित है, उसी प्रकार मेरा मन का भी वही अधिष्ठान है इसको अपने मन से जानो। एक अधिष्ठान में अधिष्ठित, अनेक होने पर भी एक हो जाते हैं। चन्द्रमा भगवान के मानसिक सृष्टि में आता है तो चन्द्रमा भगवान के मन ही हुए 'आत्मा वै पुत्र नामासि' श्रुति कहती है कि भगवान के मन से पैदा हुआ चन्द्रमा पुत्र भगवान के मन ही है। चन्द्रमा सत्त्वगुण संपन्न सुशीतल है तदधिष्ठित तुम्हारा मन भी सत्त्वगुण संपन्न है मैं जानता हूँ वैसा तुम भी मेरे मन को जानो इस परंपरा से मेरा और तुम्हारा मन एकरूपता को प्राप्त कर हम दोनों भगवत्स्वरूप को जानने में सफल बनें। किञ्च हम दोनों विवाह सूत्र से बद्ध होकर गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट हुए हैं और इस धर्ती-माता के गोद में आश्रित हैं। ऐसे लाखों करोड़ों मानव इस एक धर्ती में अधिष्ठित हैं। धर्ती माता के हम

सभी संतान हैं एक आधार में अधिष्ठित भी हैं। हम अनेक हैं तथापि एक अधिष्ठान से आश्रित हैं तो एक ही हो जाते है। इस विश्वबन्धुत्व का यह मन्त्र परिचायक है। पवित्र भावना को लेकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हम दोनों आंख से श्रोत्र से परिपुष्ट होकर देखते सुनते सौ वर्ष जीवन यात्रा को चलावें। शाखान्तर के समावेशन मन्त्र भिन्न है। उसमें पत्नी के अवयवों को विष्णु आदि देवतों से कल्पित समझकर अभिगमन करने को कहा गया है। उसमें 'सुमनस्यमानः' पद के द्वारा पूर्वोक्त तात्पर्य अभिव्यक्त होता है।

कर्मानुष्ठान सामान्य का अर्थज्ञान आवश्यक अङ्ग है। यह वतला चुके हैं। यदि मन्त्रों के अर्थ को समझ कर इस संस्कार में प्रवृत्त होते हैं तो आज कल समाज में नवोढा वधुओं की जो परिस्थिति देखी जाती है वह एतन्मूलक ही है कि हम अपने संस्कारों के स्वरूप को नहीं जान रहे हैं। हमें जिस पवित्र भावना से संस्कारों को करना है उससे हम अनभिज्ञ होकर जीवन व्यतीत करते हैं। काल परिस्थितिवश यथावत् कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति न होने पर भी अर्थांश को समझते हों तो समाज में विप्लव नहीं होगा। हम हेट, बूट, टाई पहिन कर वावू वने लेकिन भारतीय संस्कृति को जानने में कालपरिस्थिति वाधक नहीं होगी। प्रत्येक भारतीय को अपनी संस्कृति का ज्ञान आवश्यक है। प्रकृत मन्त्र में 'सुसीमे' पद है। शोभन सीमन्त वाली उसका अर्थ है। विवाह के अवसर पर कन्या के सीमन्त में वर ने सिन्दूर लगाया है। यह सौभाग्य का सूचक है। सौभाग्य द्रव्यों से ही तो कन्याएँ सुशोभित होती हैं। वर-कन्या अपनी पत्नी को 'सुसीमे' शब्द से सम्बोधित करता हुआ आलिङ्गन मुद्रा से वधू के हृदय, मन को पवित्र भावना से टटोल रहा है और दोनों की एकतारूपी चेतना को उद्बुद्ध कर रहा है। इतने तात्पर्य से यह मन्त्र प्रवृत्त हुआ है।

अभिगमन-वर्जित दिन

समावेश संस्कार ऋतु से स्नानानन्तर होता है। चौथे दिन के अनन्तर १६ दिन ऋतुकाल है। अष्टमी एकादशी त्रयोदशी चतुर्दशी पर्व अमावस्या पूर्णिमा, सूर्य संक्रमण, श्राद्ध दिन उसके पूर्वोत्तर दिन नक्षत्रों में मघा रेवती मूल, मासों में सूर्य कर्क राशि में रहते हुए वर्जित हैं। वर्ज्य और अवर्ज्य का ख्याल करते हुए अभिगमन हो तो प्रजा-वृद्धि का प्रसंग आवेगा नहीं। आज हम प्रजा-वृद्धि को रोकने के लिए कई प्रकार के उपायों का अवलम्बन करते हैं लेकिन वर्ज्यावर्ज्य का ख्याल नहीं करते हैं। काम पुरुषार्थ भी धर्म संवलित होना चाहिए। यही भारतीय परम्परा है। काम-प्रकोप को रोक कर अर्थात् ब्रह्मचर्य को रक्षा कर यदि हम चलते हैं तो संतति वृद्धि का प्रसंग आयेगा नहीं। इन वातों को सोचकर ही स्मृतिकारों ने व्यवस्था बनायी। सन्तति को चाहना खराब नहीं किन्तु धार्मिक भावना से चाहना चाहिए। अतः वर्ज्या-वर्ज्य का ख्याल होना चाहिए।

नित्यकर्मानुष्ठान

गर्भाधान संस्कार के अनन्तर वधू वरों का कर्तव्य है नित्यकर्मानुष्ठान। त्रिकाल-सन्ध्या, ब्रह्मयज्ञ, देवर्षि-पितृतर्पण, सायं प्रातः औपसनाग्नि में होम, पर्वकालों में स्थाली पाक वैश्वदेव नवान्नयाग, बलिकर्म अतिथि-सत्कार समाज सेवा आदियों का अनुष्ठान पति

पत्नी करते रहेंगे। भारतीय नित्य कर्मानुष्ठान को दिनचर्या की सूची के रूप देख सकते हैं। प्रातः स्नान से लेकर रात्रि समय तक जो कर्तव्य हैं उनमें स्वार्थ भी हैं और परार्थ भी। उदाहरण के लिए—

'यन्मया दूषितं तोयं शारीरमलसञ्चयात्।
तस्य पापविशुध्यर्थं यक्ष्माणं तर्पयाम्यहम्' ॥

नदी तटाक सागर आदियों में स्नान के समय लघु देवर्षि पितृ-तर्पण करके अपने अञ्जलि से जल लेकर किनारे में छोड़ना यक्ष्म-तर्पण कहा जाता है। पवित्र जल में स्नान से शरीर मल से जल दूषित हो जाता है। उससे लगा पाप के शुद्धि के लिए यह तर्पण माना गया प्रभूत जलाशय या प्रवाह युक्त जल में स्नान से जल प्रदूषित नहीं होगा क्योंकि जल जन्तुओं मत्स्य आदियों द्वारा मलापकर्षण हो जाता है तथापि 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' न्याय से जल को प्रदूषित किये विना रह सकते हैं किन्तु अवगाहन स्नान किये विना रहना भी सम्भव नहीं। जल की पवित्रता को नष्ट करना माने जलाधिष्ठित देवता का अपचार समझ कर स्नान से अपने को दोषी मानते हुए उस दोष से मुक्त होने के लिए इस पौराणिक मन्त्र से यक्ष्म तर्पण किया जाता है। यक्ष्म शब्द रोग वाचक है। रोग भी पापात्मक है। यह तर्पण स्वार्थ भी है। यक्ष्म तर्पण के अनन्तर अपनी शिखा ग्रन्थि को उन्मुक्त कर शिखोदक को जमीन पर गिराना एक कर्म है। जिसका यह पौराणिक मन्त्र है—

'लता·गुल्मेषु वृक्षेषु वर्तन्ते पितरो मम।
तेषामाप्यायनार्थाय इदमस्तु शिखोदकम्' ॥

अपने कर्म के अनुसार पूर्वज लता आदियों में हों उनकी तृप्ति के लिए यह शिखोदक हो। शिखा हिन्दुओं के सूचक चिन्ह है जो चूडा कर्म से संस्कृत है। संस्कार भूतोपयुक्त या भाव्युपयोक्ष्यमाण द्रव्य का होता है। भावी उपयोग इस द्रव्य का यही है। प्रति नित्य शिखोदक से पितरों को तृप्त कराना। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी परम्परा में लता गुल्म वृक्ष आदि भी प्राणी हैं। उनका नुक्सान नहीं पहुँचाना है। पर्यावरण की रक्षा में चिरन्तन ध्यान रखते थे, जैसे अपनी संतति एवं जानवरों को पालते हैं वैसे तरु गुल्म आदियों को भी पालना है। यह हमारी संस्कृति है।

शिखोदक देने के अनन्तर,

ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रजा मृताः।
ते गृह्णन्तु मया दत्तमिदं वस्त्रनिष्पीडनोदकम् ॥

इस मन्त्र से उन पितरों को वासोदक दिया जाता है जो सन्तति के विना गुजर गये हैं। शिखोदक वासोदक दान परार्थ है स्वार्थ भी है। पैतृक कर्म के आचरण से अपनी सन्तति को पितरों की तृप्ति से पोषण मिलता है। वर्ष में एक बार हम पितरों को स्मरण करते ही हैं, किन्तु पितृ वर्ग के तीन एवं मातृवर्ग के तीन पुरुषों का स्मरण होता है, नित्य कर्म के रूप शिखोदक वासोदक दान से सभी पितरों का स्मरण किया जाता है। हमारी संस्कृति आगे बढ़ते हुए पीछे भी ध्यान रखना है।

पुंसवन

दार संग्रह हो जाने पर गृहस्थ स्नान सन्ध्योपासन, औपासनाग्नि परिचरण-ब्रह्म-यज्ञ-वैश्वदेव-देवताराधन-अतिथिपूजन-समाज सेवा आदि नित्य कर्मों को यथावदाचरण करते हुए पत्नी के गर्भ धारण हो जाने पर गर्भ धारण के दूसरे या तीसरे मास में पति पुंसवन संस्कार करेगा। कर्म का नामधेय पुंसवन है। सवन शब्द का निचोडना अर्थ है। पुंनक्षत्र में चन्द्रमा के योग होने पर यह संस्कार किया जाता है। धर्म ज्योतिष ग्रन्थों में पुंनक्षत्र-हस्त मूल श्रवण पुनर्वसू मृगशिर पुष्य परिगणित हैं। इन नक्षत्रों में चन्द्रमा के योग के साथ तारा बल-चन्द्र बल-पञ्चक शुद्धि-जीव-नेत्र योग लग्न आदियों को ज्योतिषियों से निश्चय कर पुंसवन संस्कार करना है। पुंप्रजा प्राप्त करने हेतु इस संस्कार का अनुष्ठान कुछ लोग मानते हैं। यह संस्कार प्रथम गर्भ धारण का ही होता है।

इस संस्कार का अनुष्ठान प्रकार

निर्दिष्ट दिन के पूर्व दिन रात्रि में वट वृक्ष के अग्र पल्लव (वृषण सहित) एवं वट की जटा का अग्रभाग (अश्वत्थ औदुम्बर-(गूलर) के पल्लव को भी कुछ लोग मिलाते हैं) तथा कुशा के मूल इनको प्रथम प्रसूति में बछड़े के साथ विद्यमान गो के दुग्ध से पाँच छः वर्ष के कन्या के द्वारा सिल में लोढ़ा से पिसवा कर सुरक्षित रखना चाहिए। दूसरे दिन पत्नी के मङ्गल स्नान के अनन्तर नूतन अधोवस्त्र एवं उत्तरीय पहिना कर पत्नी को उनके लिए कल्पित आसन पर बैठाना चाहिए। पहले दिन पीसा हुआ द्रव्य को नये कपड़े में रख कर पति पत्नी के दाहिने नासा रन्ध्र में निछोड़ कर नासा रन्ध्र के द्वारा रस को पिलावेगा। 'हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः सम्भृतः' इन दो ऋचाओं को पढ़ता हुआ निचोड़ेगा। यही पुंसवन है। पत्नी का उस दिन उपवास होगा। इस संस्कार के आरम्भ में संकल्प के अनन्तर विघ्नेश्वर पूजन मातृकापूजन नवग्रहाराधन अभ्युदय श्राद्ध आदि होंगे।

विशेष

वैद्यक सुश्रुत आदि ग्रन्थों में क्षीर वाली लताएँ और वट अश्वत्थ आदि वृक्षों का माहात्म्य वर्णित है। कई प्रकार के औषध भी इनसे सिद्ध किये जाते हैं। विशेषतः वट वृक्ष में फैलने वाला गुण है। वट के अवरोह-जटाओं के द्वारा वृक्ष फैलता रहता है। अत एव हिन्दुओं के परिचायक वेदों को एक महान वट के समान वर्णन मिलता है। जैसा कि पथिक गण वट शाखाओं की छाया को आश्रय लेकर अपनी यात्रा को सफल बनाते हैं वैसा वेदों की शाखाओं के आश्रित हिन्दू अपनी संसार यात्रा को सफल बनाते हैं। प्रलय कालान्तर जगत्सृष्टि के लिए वट पत्र को आश्रय लेकर वट पत्र शायी होकर जगत की सृष्टि करते हैं। परमात्मतत्त्व वट वृक्ष में निहित है। हिन्दू अश्वत्थ को नारायण मानकर पूजन करते हैं तो वट को परमात्मा मान कर पूजन करते हैं। भारतीय परम्परा यही रही है कि पंच भूतों के कण कण में भगवत्तत्त्व व्याप्त है। पृथिवी जल तेज वायु आकाशों में

हम देवता की बुद्धि रख कर व्यवहार करते हैं। पहले कहा जा चुका है कि अक्षरों को पाँच विभाग कर उनमें अनिल अग्नि पृथ्वी चन्द्र और सूर्य देवता अधिष्ठित हैं, वे ही वेद मन्त्रों के अक्षरों में विद्यमान हैं। पुनः पुनः यह बात इसलिये दुहराया जाता है कि हिन्दुत्व वेद से आश्रित है ऐसा दृढ़ निश्चय लोगों में हो।

ब्रह्म तत्त्व या परमात्मतत्त्व को कई उदाहरणों से प्रदर्शित करने हेतु प्रवृत्त छान्दोग्य उपनिषद् ने षष्ठाध्याय बारहवें खण्ड में न्यग्रोध (वट) वृक्ष का उदाहरण देकर समझाया है। पिता-गुरु पुत्र-शिष्य को समझाने के लिए कहता है—आगे क्या देख रहे हो न्यग्रोध वृक्ष को देख रहा हूँ कहने पर, गुरु से वृक्ष से तोड़कर एक फल को लाओ प्रेरित शिष्य फल लाता है। फल को तोड़ो कहने पर शिष्य तोड़ता है। इसमें क्या देखते हो पूछने पर शिष्य का उत्तर—बीजों को देखता हूँ। एक बीज को तोड़ कर देखो कहने पर शिष्य तोड़ कर कहता है—कुछ भी नहीं देख रहा हूँ। तब गुरु कहता है—सामने जो विस्तृत वृक्ष को देख रहे हो वही इसके अन्दर है इसी बीज से इतना महान वृक्ष पैदा हुआ। श्रद्धा करो। ब्रह्म तत्त्व की सत्ता में न्यग्रोध उपमान के रूप से कहा गया है। उपमान और उपमेय में उपमान अधिक गुणवान् माना जाता है। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततसत्यं समीहते' न्याय है। हम असत्य संसार-जगत् में रह कर ही सत्य वस्तु को पहचान सकते हैं। हम सत्य ही रहें तो ज्ञातव्य क्या अवशिष्ट होगा। न्यग्रोध फल के बीज की इतनी शक्ति है कि शाखायें उपशःखायें पत्ते फलों आदि से समन्वित महान् वृक्ष की उत्पत्ति हुई। इससे इस वृक्ष के मूल का परिचय हुआ, उसी प्रकार इस महान संसार वृक्ष का भी मूल एक विद्यमान है वही परमात्मतत्त्व है परमात्मतत्त्व-वेदन का उपाय हुआ वट बीज उसी को पीसकर रस को दाहिने नासिका रन्ध्रमें निचोड़ते हैं। यह गर्भ के पिण्ड में मिल-कर परिवार का वर्द्धक बने और अपने तथा अपने सन्तति प्रभव ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बने। किञ्च वट के अवरोह और पल्लव के साथ कुशा मूल एवं सोमलता को भी मिलाकर पीस कर निचोड़ने का भी विधान मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि गृहस्थाश्रम के कर्म काण्डों को यथावत् करते हुए ब्रह्म ज्ञान के योग्य चित्त शुद्धि को प्राप्त करें। क्योंकि सोम दैविक कर्म का साधन एवं कुशा मूल पैतृक कर्म का साधन है। उभय विध कर्मों का आचरण करते हुए गृहस्थ आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति परमपुरुषार्थ के द्वार तक पहुँचने में योग्य बनता है। इस उद्देश्य को लेकर इस संसार का अनुष्ठान होता है।

पूर्वोक्त रस को निचोड़ते हुए पति 'हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः सम्भृतः' मन्त्र पढ़ता है। ये दो मन्त्र हैं—

'हिरण्यगर्भस्समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
अद्भ्यस्संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणस्समवर्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥

तात्पर्य है कि नासिका रन्ध्र द्वारा निचोड़ा हुआ रस उदर में जाने पर उदरस्थ जीव जो संचित पुण्य के फल स्वरूप शरीर धारण करने वाला है उसको आदि पुरुष परमात्मा के रूप से स्तुति करता है देवताओं में आजान देव एवं कर्मदेव दो प्रकार के होते हैं। आजान देव सूर्य चन्द्र आदि हैं। कर्मदेव मर्त्य हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में कर्म कारण होता है। इन कर्म देवों का रूप देने वाला त्वष्टा है। अर्थात् निर्गुण को सगुण बनाने वाला है। इस भावना से पति को मन्त्र पढ़ना है। शंका हो सकती है कि मन्त्र के पढ़ने मात्र से पूर्वोक्त फल की सिद्धि में क्या प्रमाण है ? उत्तर में कहा जाता है कि शब्द अर्थ को छोड़कर रहता नहीं है। मन्त्र शब्दात्मक अपने अर्थ का वर्णन कर रहा है। 'अर्थं वागनुधावति' न्याय से सिद्ध जो अर्थ है उसका प्रतिपादन जब कि मंत्रात्मक शब्द कर रहा है तो प्रश्न की उत्थिति क्यों होती है। मानव अपने कर्म के अनुरूप ही जन्म लेता है। ऐसी अवस्था में इस मन्त्र द्वारा पूर्वोक्त भावना अनुचित नहीं है।



सीमन्त

यह संस्कार गर्भ धारण छठवें या आठवें मास में किया जाता है। पुंसवन के समान यह भी गर्भ संस्कारक है और पुंनक्षत्र में चन्द्रमा की युति को देखकर निष्पच्छक एवं लग्न को निश्चित कर लेना चाहिए। निश्चित दिन में पत्नी को मंगल स्नान नूतन वस्त्र परिधान कराकर पति संस्कार का आरम्भ करेगा। यह संस्कार प्रथम गर्भ के लिए कुछ लोग मानते हैं प्रति गर्भ धारण में भी मानने वाले कुछ होते हैं।

संस्कारानुष्ठान

निर्दिष्ट दिन में पति पत्नी के साथ पंच भू संस्कार से अपनी औपासनाग्नि को स्थापन कर संकल्प पूर्वक पुण्याहवाचन मातृका-पूजन नवग्रह पूजन अभ्युदय आदि के अनन्तर अग्नि में मुद्ग और तिल से मिश्रित स्थाली पाक-चावल का चरु को तैयार करेगा। चरु तैयार हो जाने पर ब्रह्म वरण द्वारा आज्य-भागान्त होम करके प्रजापति देवता के लिए स्थालीपाक होम होगा। तदनन्तर स्विष्टकृद्धोम एवं महाव्याहृति होम करना है। तदनन्तर अग्नि के पश्चाद् भाग में मृदु पीठ में पत्नी को बैठाकर सीमन्त का उन्नयन-ललाट से केश विभाजन पति 'भूर्भुवस्स्वर्विनयामि' मन्त्र पढ़ कर करेगा।

केश विभाजन साधन

अपक्वयुग्म फल वाले गूलर के गुच्छ कुशाएँ तीन अथवा सफेद शल्यक जन्तु (काटेदार वनमृग) का कण्टक, अश्वत्थ एवं सोमलता को इकट्ठा बान्ध कर इस साधन से ललाट से लेकर केश विभाजन करना चाहिए। इसी को सीमन्तोन्नयन कहते हैं। स्त्रियों का सीमन्त सौभाग्य चिन्ह है। सौभाग्य वृद्धि के लिए यह अनुष्ठान किया जाता है। सौभाग्य वृद्धि पति के सुखमय जीवन से आश्रित है।

विशेष

पति का सुखमय जीवन पत्नी के सौभाग्य से आश्रित है पत्नी का जीवन पति के साधु आचरणों से आश्रित है। दोनों परस्पर आश्रित होकर गृहस्थाश्रम के जीवन को चलाना है। आकांक्षाओं की पूर्ति सर्वत्र एक दूसरे से ही होती है। देवता हो या मानव इनकी आकांक्षाएं परस्पर आश्रय से ही सम्पन्न होती हैं। गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट मानव को अपने विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए सामाजिक कार्यों में भी सम्बन्ध रख कर जीवन यात्रा चलाना नियति है।

सीमन्त शब्दार्थ विचार

स्त्रियों के केशों का ललाट देश से विभाजित करने पर जो मार्ग निकलता है उस मार्ग प्रदेश को सीमन्त कहते हैं। अन्य अवयवों के साथ सीमन्त भी स्त्रियों के सौन्दर्य का अभि-

व्यञ्जक है। स्त्रियों का सौन्दर्य सौभाग्य से ही बनता है। ललाट के मार्ग रूपी जो सीमन्त है वही संसार है। 'सम्यक् सरतीति संसारः'। अच्छी तरह चलने का साधन मार्ग है। संसारी पुरुष को अच्छी तरह चलना माने साधु कर्मों का अनुष्ठान। साधु-कर्म देव-पूजन अतिथि-पूजन समाज-सेवा सहभाव-भावना आदि हैं। इनको पति पत्नी मिलकर करेंगे तो दृढ़ावस्थिति होती है। इसी का सूचक है सीमन्त। केशों को दोनों ओर अलग करके मध्य में जो मार्ग सीमान्त शव्द का अर्थ है वह सत्त्व गुण का परिचायक है, दोनों ओर अलग किया हुआ केश रजस् तमस् का सूचक है। रजस् और तमस् को अलग कर सत्त्व गुण मात्र को आश्रयण कर संसार मार्ग में चलने को यह सीमन्त सिखाता है। सीमन्त को धारण करने वाली पत्नी अपने सीमन्त के द्वारा बोधित करती है कि आपने विभक्त किये हुए तम और रजोरूपी केशों को मैंने वेणी के रूप वन्धन कर लिया आप सत्त्व गुण मात्र को आश्रित कर कार्य करिये मैं आप के साथ देती हूँ। अपने में सहभाव भावना स्थिर हो जाने पर अन्यत्र भी वह भावना जागृत रहेगी। इसी लिए संस्कार किया जाता है। संस्कारों में कुछ गत के लिए किये जाते हैं, कुछ तो अनागत-भावि के लिए किये जाते हैं। पूर्व इसका निरूपण हो चुका है। 'भूत भाव्युपयोगि हि द्रव्यं संस्कारमर्हति'। सीमन्त संस्कार को पुंसवन के समान गर्भ संस्कार कुछ लोग मानते हैं, कुछ पत्नी संस्कार मानते है। कैसे भी हो दोनों भावि काल के उपयोगि हैं।

वेणी में गुच्छ का वान्धना

जिस साधन से केशों का विभाजन किया उस उदुंबर आदि गुच्छ को वान्धते हुए पति मन्त्र पढ़ता है

'अयमूर्जावतो वृक्ष उर्जीव फलिनी भव'

हे सीमन्तिनी ? यह उदुम्बर वृक्ष ऊर्जावान्। उदुम्बर वृक्ष का वेदों में 'ऊर्क्' रूप से वर्णन मिलता है 'ऊर्क् वा उदुम्बरः ऊर्क् पशवः'। ऊर्क् शब्द का अर्थ वल अथवा अन्न रस। यह उदुम्बर अश्वत्थ आदि बल प्रद है, अथवा अन्न रस प्रद है। इस ऊर्जावान् वृक्ष के ऊर्जा के समान तुम फलवाली बनो। बिना क्लेश से सुख प्रसव होकर तुम फलिनी बनो। गूलर वृक्षों की छाया पत्ते कच्चे फल एवं पक्के फल काया कल्प के लिए महौषधि माने जाते हैं। गूलर के जंगलों में कुटी बना कर गन्ध को सूंघ कर वास करने के लिए भी विधान मिलता है। एक प्रकार यह महौषधि है। अत एव इस संकार में गूलर लिया गया है।

सोमलता

पूर्वोक्त केश विभाजन साधन गुच्छ में गूलर-अश्वत्थ के साथ सोमलता को भी रखने का विधान है। जैसा गूलर और अश्वत्थ क्षीर वाले होते हैं वैसा सोमलता भी क्षीरवाली है। सोम का परिचय देते हुए शबर स्वामी मीमांसा-भाष्य कार ने कहा है कि **'सोमशब्दः क्षीरिण्यां लतायां रूढ़'**। सोम लता का अपार महात्म्य वेदों और आयुर्वेद में वर्णित है। वेद अलौक अर्थ का प्रतिपादन करते हुए लौकिक जीवन के साथ मिले हुए पदार्थों का भी प्रतिपादन करता है। लोक के साथ सम्बन्ध रखना ही वेदों का प्रयोजन मुख्य है। वेद

किसी न किसी रूप से लोक के साथ मिलकर रहना ही उसकी उपयोगिता है। वेदों में वर्णित आख्यायिकाओं से विदित होता है कि देवगण अपने वगीचों में सोमलता को सावधान से पालते थे, उसकी रक्षा के लिए सुरक्षा दल को नियुक्त करते थे। जैसा सुरक्षा दल राजा की सुरक्षा में जागरूक रहता है वैसा सोम रूपी राजा को भी वगीचों में सुरक्षा दल रहता था। अत एव वेदों में जहाँ ही सोम का प्रसंग आता है वहाँ उसको 'राजा' शब्द से निर्देश मिलता है। 'सीम राजन् मृडयानः' ऋ. सं. ८. ४८.८, 'सोम राजन्नेहि' तै. सं. १. ३. १३.१., 'सोमो राजा प्रथमः' ऋ. सं. ८. ४८.८, अथर्व. ५. १७.२, सोमेन सह राज्ञा तै. सं. ४. २. ६.५, 'सोमं राजा नमवसे' अथर्व. ३. २०.४; तै. सं. १. ७.१०३.

विशेष

ऋग्वेद के नवम मण्डल पूरा 'पावमान' कहलाता है, कारण है कि सोम अति पवित्र वस्तु है, उसका वर्णन पूरे मण्डल में किया गया है। राजा और पवित्र होने के कारण रजोगुण तमोगुण रूपी केशों के वेणी में सोम को वान्ध कर रखने से रज और तम अनुद्भूत होकर रहेंगे, और सत्त्व गुण वाले उदुंवर अश्वत्थ और सोम ये तीनों उद्भूत रहेंगे। अतः गर्भ से उत्पन्न होने वाला बच्चा तमस् और रजस् से अभिभूत न होकर सत्त्व गुण सम्पन्न रहेगा इस तात्पर्य से गुच्छ का बन्धन वेणी में किया जाता है। सोम याग में मण्डप में सोम राजा के आने पर स्त्रोत्र शस्त्र आतिथ्य आदि किये जाते हैं उसी प्रकार सीमन्त के अवसर पर सोम राजा के निमित्त से ही गाना बाजा बजाना आदि का विधान मिलता है।

कटपयादि संख्या शास्त्र विवरण

किञ्च प्राचीन काल में कटपयादि संख्या शास्त्र के अनुसार पदार्थों का विवरण चिरन्तन करते थे। उस दृष्टि से विवेचन करने पर प्रकृत में एक तत्त्व निकलता है। जिस गुच्छ से पति पत्नी के ललाट भाग से सीमन्त का अनुष्ठान करता है उस गुच्छ में वट अश्वत्थ-उदुम्वर-कुशा-(शलली मृग) का कण्टक ये पाँच रहते हैं, किसी आचार्य के मतानुसार वट अश्वत्थ-उदुम्वरों के अन्यतम स्थान में सोम रहता है। सीमन्त संस्कार समाप्ति के अनन्तर त्रिवेणी में गुच्छ का बन्धन होता है। तत्त्व तक पहुँचने के पूर्व संख्या शास्त्र का विवरण जानना जरूरी है। क ट प य ये चार वर्णों का समूह है। 'क' से लेकर 'झ' तक एक समूह, 'ट' से लेकर 'ध' तक एक समूह, प फ ब भ म एक समूह, 'य' से लेकर'ज्ञ' तक एक समूह। इस प्रकार चार सूमूहों में सभी व्यञ्जन वर्ण आ जाते हैं। स्वर वर्णों का अलग संख्या नहीं है। स्वर युक्त व्यञ्जन की संख्या से ही गतार्थ माना जाता है। पहला और दूसरा समूह को क्रम से नौ नौ संख्या नियत है। तीसरा समूह को पाँच संख्या एवं चौथा समूह को नौ संख्या। व्यञ्जन वर्णों के क्रम के अनुसार एक दो संख्या की गणना होती है 'छ' आने पर ७ संख्या 'झ' आने पर ९ एवं 'थ' आने पर ७ 'ध' होने से ९ 'म' हो तो ५, 'व' होने पर ४, 'स' आने पर ७ इस प्रकार संख्या को निश्चय कर लेना चाहिए। 'ञ' और 'न' का कोई संख्या नहीं है शून्य ही अंक है। संयुक्त वर्ण में दूसरा वर्ण का ही अंक है। प्रथम वर्ण का अंक नहीं है। उदाहरण के लिए 'त्थ' में 'थ'

का ही अंक ७ है, पूर्व वर्ण की गिनती नहीं है एवं 'श्व' में 'व' का ही ४ अंक है। इस रीति से हर एक वर्ण का अंक जान कर एक पद में जो वर्णों के अंक होते हैं उनको क्रम से लिखकर अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए कहीं जोड़ कर कहीं गुणनाकर कहीं घटा कर कहीं भाग देकर अंक को निकाल लेना इस शास्त्र की प्रक्रिया है। जोड़ना घटाना आदि अपनी इच्छा के अनुसार होता है इसमें नियामक शास्त्र कोई नहीं है। यह संख्या शास्त्र का स्वरूप है। यह शास्त्र संस्कृत पदों में ही लागू होता है भाषा के पदों में नहीं।

तीन संख्या का तत्त्व

इस शास्त्र को दृष्टिगत रखते हुए वेणी में जो ३ संख्या है उसका तत्त्व क्या है; यह विवेचन किया जाता है। उस वेणी में जिस गुच्छ को बाँधा जाता है उसमें वट अश्वत्थ उदुम्बर इनके एक के विकल्प में सोम, कुशा और कण्टक विद्यमान हैं। इन पदों के वर्णों की पूर्वोक्त रीति से गणना करने पर ३ ही संख्या प्राप्त होगी। वट पद में ४ और १ संख्या आती हैं। ४ में १ को घटाने से ३ आती है। एवं अश्वत्थ में व ४ थ में ७ सात में चार को घटाने से ३ आती है। उदुम्बर में क्रम से ८-३-२ संख्याओं में ३+२ को जोड़कर ५ को आठ में घटा देने पर ३ संख्या, अथवा ८ में ३ को घटा कर उसमें २ को घटाने से ३ संख्या, एवं सोम पद की संख्या क्रम से ७-५ प्राप्त होती है। इस दो संख्या को जोड़ने से १२ संख्या पुनः दोनों को जोड़ने से ३ संख्या, एवं कुशा पद से १-५ संख्या जोड़ने से ६ संख्या आती है। उसमें दो तीन संख्या, इसी प्रकार कण्टक पद में क्रम से १-१-१ संख्या निकलती है। तीनों के जोड़ से ३ संख्या निकलती है। एक प्रकार इन पदों में समान रूप से तीन तीन संख्या की प्राप्ति से कोई एक तत्त्व विद्यमान है ऐसा प्रतीत होता है। वह तत्त्व क्या है? अनुमान करना पड़ता है कि जिस देवता के पद में तीन संख्या निकलती हो वह देवता इन सभी चीजों में व्याप्त है। वह देवता बाला त्रिपुर सुन्दरी है। बा ३ ला ३। ये ६ संख्या षडक्षरी बाला का बोधक है। बाला मन्त्र षडक्षर का भी होता है त्र्यक्षर का भी। इसकी चर्चा उपनयन के प्रकरण में दिग्दर्शन किया गया है। कर्म काण्ड आध्यात्मिक चेतना का उद्भावक है। देवता की भावना से कर्म काण्ड के अनुष्ठान से आध्यात्मिक चेतना की जागृति अवश्य होगी। कर्तव्य पदार्थ को करते हुए दैवी शक्ति को जुटाना ही आध्यात्मिक चेतना। उसकी प्राप्ति ही हमारी संस्कृति है।

इसी दृष्टि से सीमन्त शब्द के वर्णों की संख्या का विचार करें तो क्रम से ७ ५ ६ संख्याएँ आती हैं। ७५ संख्या को संख्या ६ से भाग देने पर ३ संख्या का शेष निकलता है और ७५ में बारह छः होते हैं। १+२ जोड़मे से ३ संख्या होती है। एवञ्च ३ संख्या किसी न किसी रूप से निकल आती है। यही त्रिवेणी बनकर तीन तीन संख्या वाले पदार्थों को गुच्छ रूप से धारण करती है। इसको दुर्गा लक्ष्मी सरस्वती और गंगा यमुना सरस्वती अथवा ब्रह्म विष्णु महेश्वर रूप की भावना रख कर सीमान्त संस्कार करने पर गर्भ से पैदा होने वाला शिशु भी इस भावना से आहित होकर अपनी परम्परा का रक्षण करेगा।

उपनयन प्रकरण में कहा गया है कि गायत्री मन्त्र के साथ त्र्यक्षरी का उपदेश

परम्परा प्राप्त है। परम्परा का मूल है कि गायत्री मन्त्र का तीन पाद होना 'त्रिपदा गायत्री' एवं गायत्री मन्त्र के अक्षरों में विद्यमान संख्या १०० होती है। इसको तीन से भाग देने पर विभाज्य संख्या ३३ और विभाजक संख्या ३ शेष बचता है। इस संख्या से अवगत होता है कि विभाज्य और विभाजकों की एकता। 'शते पञ्चाशत्' न्याय से भेद में अभेद का तत्त्व निकलता है। गायत्री मन्त्र एवं त्र्यक्षरी मन्त्र के देवता की दृष्टि से विचारा जाय एकता की प्रतीति होती है। गायत्री का देवता-सविता एवं त्र्यक्षरी का देवता वाला है! सविता की क्रम संख्या ७ ४ ६ है एवं वाला की संख्या ३ ३ निकलती है। इन संख्याओं के जोड़ से २३ संख्या होती है। यह गायत्री मन्त्र के वर्णों की संख्या है। यद्यपि 'चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री' मन्त्र कहा गया है, तथापि एक अक्षर से न्यून होने पर भी छन्दों भंग नहीं माना जाता है। अथवा वाला ३ + ३ = ६ सविता के अंतिम संख्या ६ तुल्य है एवं सविता के पहली दो संख्या ७४ में से ४ को ७ में घटा देने से ३ संख्या निकलती है। अतः वाला एवं सविता रूपी देवता के संख्या-समानता को लेकर देवता को भी समानता सिद्ध होती है। इस समानता को लेकर ही उपनयन में वालक को गायत्री मन्त्र के साथ त्र्यक्षरी का भी उपदेश परम्परा चली है।

पुंसवन सीमन्त संस्कार से गर्भ गत शिशु का संस्कार होता है। शैशव अवस्था से ही हम भारतीय इस लिए संस्कार करते हैं कि आगे यह सन्तान भौतिक दैविक और आध्यात्मिक शक्तियों से संपन्न होकर गृहस्थाश्रम में इन तीनों शक्तियों से लोगों में इनकी चेतना का उत्पन्न करें।

वीणागान

सीमन्त करने के उपकरणों में सोमलता का संवन्ध विकल्परूप से वतलाया गया है। सोम को राजा भी कहते हैं। राजा की आने पर सभा में हर्षोल्लास प्रगट करने का विविधस्तोत्र गाना वजाना आदि होते हैं। इस परंपरा को कायम रखने के लिए सीमन्त संस्कार के अनन्तर वीणा गान राजा या वीर पुरुष की गाथा और स्त्रियों का लोक गीत आदि होते हैं। गर्भिणी का मन तृप्त और सन्तुष्ट रहने निमित्त वीणावादन आदि को सूत्रकार सीमन्त के अंग के रूप में वतलाते हैं—वीणागाथिनौ राजानᳪ संगायेताम्'। यह गायन पति के प्रैषोच्चारण के अनन्तर होता है। कुछ आचार्यो ने गाथा के रूप में मन्त्र पढ़ने को कहा है—

सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः।
अविमुक्त-चक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यमसौ॥

हम लोगों का सोम ही राजा है राजा के ये प्रजायें सौम्य होकर पास में विद्यमान नदी के नाम लेकर हे नदी तुम्हारे तट पर तुम को आश्रित होकर रहते हैं। तट का विशेषण है 'अविमुक्त' चक्र। अर्थात् मर्यादा को विना त्याग किये रहने वाला है। जैसे आप मर्यादा को विना त्याग किये रहने वाले हो। जैसे आप मर्यादा को उल्लंघन न कर रहते हो उसी प्रकार प्रजा भी अपनी शास्त्र मर्यादा को विना छोड़े रहने वाली है। अतः इनको पालन करो।

विशेष

इस सन्दर्भ को विशेष मनन करने पर विदित होता है कि सोम एक ओषधि है और ओषधियों के पति सोम-चन्द्र है। जात कर्म के 'आयुष्यकरण' में इस मन्त्र का कि

'सोम आयुष्मान् स ओषधीभिरायुष्मान् तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि'

निर्देश कर चुके हैं उस आयु से तुम्हें आयुष्मान् बनाता हूँ जो चन्द्रमा ने ओषधियों द्वारा प्राप्त किया है। गर्भगत शिशु जो पैदा होने वाला है सोम या चन्द्र से उस प्रजा की रक्षा की प्रार्थना इस गाथा से की जाती है। जैसा कि हे गंगे हे यमुने हे सरस्वती हे गोदावरि अपने किनारे में समुद्भूत ओषधियों को अपनी मर्यादा को छोडे विना रक्षा करते हो तथा तुम्हारे द्वारा पाला गया यह सोम राजा भी गर्भगत प्रजा को वैसा पालन करो जैसा कि शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हुए जीवन यात्रा का निर्वाह कर सकें। क्योंकि हमारी धर्ती माता, श्रुति माता के इस मन्त्र के द्वारा चाहती हैं—

'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आस्मिन् राष्ट्रे राजन्य इषव्यः शूरो महारथो जायताम्, दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान् आशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठास्सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम् निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलिन्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्'॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि यज्ञयागाद्यनुष्ठान देश संरक्षण पशु पालन आदि अपने कामों में लगे रहे, गायें दुग्ध देते रहें, बैल शकटों को वहन करने में समर्थ रहे घोड़े शीघ्र धावन शक्ति रक्खें नारी गण चरित्र रक्षण करें, राज्य एवं लोक सभा के अर्ह वीर युवा उत्पन्न हो मेघ बार बार वर से ओषधियाँ पक्व होकर फलप्रद रहें हमें योग और क्षेम हो अथवा लोक में वेद मिलकर अपने स्वयं प्रार्थना कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। इस मन्त्र भाग को चिन्तन करने पर विदित है कि धर्ती माता के गर्भ में विद्यमान सन्तान के लिए वेद पुरुष प्रार्थना कर रहा है पैदा होने वाला इन गुणों से युक्त होकर पैदा हो। वे ही भारत माता के सुपुत्र हैं। हमारे लिये श्रुति माता है और वेद पिता हैं। इस भावना से सीमन्त संस्कार संपन्न हो तो गर्भस्थ शिशु उन गुणों से युक्त होकर पैदा होगा ही।

गर्भ-प्रसव

पुंसवन सीमन्तोन्नयन के अनन्तर जैसा वगीचे में लगा हुआ वनस्पतियों को अनेक उपचारों से सावधान होकर पालते हैं उसी प्रकार गर्भिणी पत्नी को वात पित्त कफ के प्रकोप से बचा कर रक्षा करनी चाहिए। आज कल हम डाक्टरों और नर्सों से अवलंबित रहते हैं एवं नर्सिंग होमों का आश्रय लेते हैं। पूर्वज मितव्ययिता को अवलम्ब कर गाँव के अनुभवी वृद्धाओं की सहायता से इस कार्य को सम्पन्न करते थे। अधिक क्लेश होने पर नियम से वेदाध्ययन किये हुए वेद पाठियों का शरण लेते थे।

वेद मन्त्र का चमत्कार

वेद के आरण्यक भाग (जो जंगल-मन्दिर-नदी तटाक के किनारे में अध्ययन किया जाता है घर में नहीं) में आये हुए मन्त्रों को पाठ कराते थे। इन मन्त्रों का शब्द गर्भिणी

के कानों में पड़ने से सुख प्रसव हो जाता है। आज भी इस क्रिया को प्रत्यक्ष दिखलाया जा सकता है। लेकिन शर्त यह है कि नियत वेदाध्ययन एवं आचारशील वेदपाठियों द्वारा मन्त्र उच्चरित हो। सभी कार्यों की सिद्धि के लिए श्रद्धा या विश्वास भी कारण होता है। अंध-श्रद्धा या अंध-विश्वास कह कर उपेक्षा दृष्टि नहीं रखना चाहिए। यह वह मन्त्र है जिसका पाठ करते थे—

अष्टयोनीमष्टपुत्राम् । अष्टपत्नीमिमां महीम् ।
अहं वेद न मे मृत्युः । न चामृत्युरघाऽहरत् ॥
अष्टयोन्यष्ट पुत्रम् । अष्टपदिदमन्तरिक्षम् ।
अहं वेद न मे मृत्युः । न चामृत्युरघाऽहरत् ॥
अष्टयोनीमष्ट पुत्राम् । अष्ट पत्नीरमूं दिवम् ।
अहं वेद न मे मृत्युः । न चामृत्युरघाऽहरत् ॥
अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् । अदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजनाः । अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
अष्टौ पुत्रासो अदितेः । ये जातास्तन्वः परि ।
देवां ३ उपप्रैत्सप्तभिः । परा मार्तण्डमास्यत् ॥
सप्तभिः पुत्रैरदितिः । उपप्रैत्पूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे तत् । परा मार्तण्डमाभरत् ॥
मित्रश्च वरुणश्च । धाता चार्यमा च ।
अꣳशश्च भगश्च । इन्द्रश्च विवस्वाꣳश्चेत्येते ॥
हिरण्यगर्भो हꣳसः शुचिषत् । ब्रह्मजज्ञानं तत्पदम् ॥
गर्भः प्राजापत्यः । अथ पुरुषः सप्त पुरुषः ॥ (तै. आ. १.१३)

सूत्रकारों ने इन मन्त्रों को चयन प्रकरण के इष्टका (ईंटें) ओं के उपधान (रखना) में विनियोग किया है। इन मन्त्रों के अर्थ विचार से प्रसव का प्रसंग नहीं मालूम होता है। किन्तु वैदिक वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि इनका पाठ सुख प्रसव के लिए किया जाता है। प्रयोग ग्रन्थ में इस विषय का उल्लेख भी नहीं मिलता है। किन्तु चिरन्तनों का प्रत्यक्ष अनुभव है। उसकी परम्परा आज तक चली आ रही है। कहीं इसका मूल होगा ही, वह अन्वेषण का विषय है। कहा जाता है और प्रत्यक्ष से देखा भी गया है कि प्रसव शूल वाली गर्भिणी इन मन्त्रों को सुनने से प्रसव शूल उत्कट हो जाता है एवं बिना शस्त्र चिकित्सा प्रसव हो जाता है। इन मन्त्रों के अक्षरों में एक ऐसा तत्त्व विद्यमान होगा जो गर्भ गत अग्नि और वायु को प्रकुपित करने का सामर्थ्य रखता हो। इतना तो निश्चित है कि अग्नि और वायु के प्रकोप से ही प्रसव होता है।

मीमांसा दृष्टि से उपपत्ति

मीमांसकों की दृष्टि से यहाँ उपपत्ति इस प्रकार हो सकती है। पूर्व वेद मन्त्रों के अक्षरों में अनिल अग्नि भूमि चन्द्र सूर्य रूपी पाँच देवताएँ समूह भेद से अधितिष्ठ हैं निरूपित किया गया है। इन मन्त्रों में वायु और अग्नि देवता के अक्षरों का बाहुल्य देखा

जा रहा है। मन्त्र-गत अर्थ-प्रकाशन सामर्थ्य मात्र से मन्त्रों का विनियोग मीमांसक नहीं कहते हैं किन्तु एक आध पद मात्र भी मिल जाय तो उसको लेकर भी कई जगह मन्त्रों का विनियोग निरूपित करते हैं। यहाँ पुत्र पद और गर्भ पद मन्त्रों में मिलते हैं। इसको अपने विज्ञान से समझ कर चिरन्तनों ने इस कार्य में इस मन्त्र का पाठ प्रवर्तित किया होगा। जैसा भी हो प्रकृत में इस मन्त्र का प्रयोग कर अनेक गर्भिणियों का प्रत्यक्षतः लाभ पहुँचा है, इतनी दृढ़ता चिरन्तनों की है।

पारस्कराचार्य का मत

पारस्कराचार्य लिखते हैं—सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति। वेदना को अनुभव करती हुई पत्नी को जल से 'एजतु दशमस्य' से ले कर 'जरायुणा सह' तक मन्त्र बोल कर अभ्युक्षण-प्रोक्षण कर—

अवैतु पृश्नि शैवलꣳशुने जराय्वत्तवे नैव माꣳसेन पीवरी न कस्मिंश्च नायतमव जरायु पद्यताम्'

इस मन्त्र को जपना चाहिए। मन्त्र का अर्थ है हे वेदना का अनुभध करने वाली भार्ये ? तुम्हारा जरायु अवैतु नीचे गिरे। वह नाना रूप का है और चिकना है। यह श्वा का भक्षण योग्य है। दुःख जनक होने पर भी गर्भ कोश न गिरे।

पारस्कर गृह्य सूत्र का प्रामाण्य विचार

आज कल लोगों में शंकाएँ होती हैं कि प्रसव वेदना को अनुभव करती हुई पत्नी के पास जाकर पति को यह मन्त्र जपना है कहते हुए पारस्कराचार्य ने इसका अनुभव कैसे किया ? एवं इसका क्या प्रयोजन है ? आज इस युग में इसको क्यों माने ? इत्यादि। तर्क-संगत समाधान को सभी मान्यता देते हैं, यह न्याय का अतिक्रमण कर चलने वालों को जितना भी सुसंगत तर्क हों बतलाना निष्प्रयोजन है। अतः न्याय को मानकर समाधान को सुनना आवश्यक है। महर्षि जैमिनि श्रुति एवं स्मृति के रूप में धर्म ग्रन्थों को विभक्त कर उसके प्रामाण्य का न्याय बतलाये हैं। श्रुति का प्रामाण्य में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। अभी स्मृति के प्रामाण्य में क्या न्याय है इसका विचार हमें करना है। महर्षि जैमिनि अपने प्रमाणाध्याय (पहला अध्याय) के समग्र-तीसरे पाद में स्मृति प्रामाण्य का न्याय बतलाये हैं। न्याय के लिए अधिकरण (न्यायालय) १० बनाये। एक एक अधिकरण से एक एक न्याय निकलता हैं। न्यायालय में अन्याय का स्थान कैसे होगा। उनमें पौरुषेय मनुयाज्ञवल्क्य आदियों के स्मृतिग्रन्थ, श्रुति विरुद्ध स्मृतियाँ, विभिन्न आचार, महर्षियों के कल्प और सूत्रग्रन्थ एवं व्याकरण आदि का विचार हैं। जैमिनि ने वेद को छोड़कर वेदमूलक जितने विद्या-स्थान के ग्रन्थ हैं उनको स्मृति शब्द से ही व्यवहार किया है। स्मृति शब्द का अर्थ है—

'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम्'

संस्कार अतुभव से होता है वह कालान्तर स्मरण के लिए उद्बोधक होता है। इस नीति से देखते हों तो पारस्कराचार्य-विरचित गृह्यसूत्र भी स्मृति के अन्तर्गत हो जाता है। पारस्कराचार्य प्रथम अनुभव किये हुए पदार्थों को संस्कार द्वारा स्मरण कर सूत्रग्रन्थ का प्रण-

यन किये। अनुभव के विना संस्कार नहीं संस्कार के विना स्मरण नहीं स्मरण के विना ग्रन्थ प्रणयन असंभव है। अनुभव श्रुतियों से हुआ या श्रुतियों में पारंपरागत महर्षियों की गोष्ठियों (सेमिनार) से हुआ। यह मानकर चलना ही न्याय्य है। क्योंकि 'अर्थं बुध्वा शब्द रचना' न्याय है। विना अर्थ के जाने शब्द रचना हो ही न सकती। निरर्थक शब्द की रचना कोई नहीं करता। इस दृष्टि से देखा जाय तो कात्यायन से अभिन्न पारस्कराचार्य वेदों को अध्ययन कर वेदों में कहे हुए कर्मों को अनुष्ठान करते हुए इस सूत्रग्रन्थ का प्रणयन किये। श्रौत (वैदिक) पदार्थों के अनुष्ठान में जो कर्ता वह ही सूत्रग्रन्थ का भी कर्ता है तो कर्तृसामान्य ही इस सूत्रग्रन्थ के प्रामाण्य में हेतु है 'पारस्करगृह्यसूत्रं प्रमाणम् कर्तृसामान्यात्' यह अनुमान का आकार है। महर्षि जैमिनि अपने स्मृत्यधिकरण में 'अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्' कहकर न्याय वतलाये। इस न्याय को हमें स्वागत करना चाहिए क्योंकि हम भारतीय हैं वैदिक। वेदों का भी हम मानते नहीं कहने पर हम हिन्दू नहीं होंगे। कुरान को धर्म ग्रन्थ मानने वाले मुसलमान, वैंवल को मानने वाले ईसायी वेदों को मानने वाले हिन्दू। जैसा कि पदार्थों द्रव्य गुणों आदियों का विभाजक धर्म पदार्थत्व द्रव्यत्व गुणत्व आदि होते हैं वैसा मुसलमान क्रिश्चियन् हिन्दू ये मत विभाजक हैं। यद्यपि बौद्ध जैन अद्वैती, विशिष्टाद्वैती द्वैती आदि भेद हमारे में मिलते हैं तथापि ये मत नहीं किन्तु सम्प्रदाय हैं। संप्रदाय का अर्थ कह दिया गया है कि अविच्छिन्न गुरुशिष्यभाव से विद्याप्राप्ति। हिन्दू होते हुए ये संप्रदाय के भेद होने से बौद्ध जैन आदि व्यवहृत हुए। जैसा कि द्रव्य होते हुए पृथिवी जल आदि भिन्न होते हैं वैसा हिन्दू होते हुए तत्तद्विद्या प्राप्ति को निमित्त लेकर बौद्ध आदि व्यवहार प्रवृत्त हुए हैं। हिन्दू ही मत का विभाजक है। बौद्ध जैन आदि संप्रदाय के विभाजक हैं। जैसे पृथिवीत्व जलत्व आदि पदार्थविभाजक नहीं हैं किन्तु विशेष गुणों के संवद्ध होने से भेद पड़ गया। एवञ्च हमें हिन्दू होकर चिन्तन करना चाहिए पारस्कर स्मृति का प्रामाण्य कैसा है ? तो प्रामाण्य के प्रति जैमिनि न्याय ही अवलंब है।

दूसरी शंका थी क्या प्रयोजन ? पहले कहा जा चुका है कि प्राचीनों का व्यवहार मितव्ययिता की ओर समाज को ले चलता है। कष्टप्रद अवस्था में प्राण रक्षण में हर एक की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। रक्षण में नाना उपायों को ढूण्ढ कर अनुभूत किसी उपाय का ग्रहण करता है। उसी उपाय का ग्रहण समुचित है जिसके ग्रहण से मितव्ययिता सिद्ध हो ओषधियों की शक्ति को पहचान कर वैद्य उपचार में प्रवृत्त होता है तो वैदिक शब्दों की शक्ति को समझ कर मन्त्रोच्चारण उपाय का ग्रहण करता है। डाक्टर शस्त्र चिकित्सा शीघ्र फल प्रद मानकर उसमें प्रवृत्त होता है। इनमें व्यय की दृष्टि से उच्च नीच भाव है ही और स्वायत्त उपाय अपने पास रहते हुए परावलम्बी बन कर रहना व्ययाधिक्य का हेतु बन जाता है। वैद्य हों चाहे डाक्टर अनुभूत नुक्से का आश्रयण कर ही चिकित्सा में प्रवृत्त होता है, वैदिक का भी यही न्याय है। परोपकार दृष्टि सभी का होना जरूरी है 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' अपने पास मधु के रहते हुए पहाड़ चढ़ने लिए क्या आवश्यकता है। अपने पास मधु के अभाव में उसकी प्राप्ति हेतु उपायान्तर का अवलम्ब उचित है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्वी वन कर रहने के लिए ही इस परम्परा को चिर-

न्तनों ने प्रवर्तित किया है जिससे मितव्ययिता की सिद्धि हो। यही इन संस्कारों की प्रवृत्ति का प्रयोजन है।

आज कल के यान्त्रिक युग में इसकी क्या आवश्यकता है? किसी प्रकरण या प्रवन्ध के तात्पर्य को निर्णय करने में—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्तिश्च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

शास्त्रकारों ने छः प्रमाणों की परिगणना किया है। इनमें अभ्यास एक है। इसका अर्थ है '**अनन्यपरविधिपुनः श्रवणम्**'। अर्थात् विधि का पुनः श्रवण अन्य परक न होकर प्रकृत कार्य सिद्धि के लिए हो इस न्याय से उसी को दुहराया जाता है जो पूर्व कहा जा चुका है। अभ्यास शारीरक भी होता है वाचिक भी। शरीर पार्थिव-भौतिक है वाक् आध्यात्मिक है। भौतिक वल से आध्यात्मिक वल प्रवल होता ही है। महर्षि भारद्वाज का आश्रम है। महर्षि का परिवार विद्यार्थियों का समूह। खाने पीने का साधन कन्द मूल फल आदि, पहनने का साधन वल्कल वृक्षो की छाल, और शयन स्थण्डिल में। इस परिस्थिति में अपने दल-वल सहित भरत आकर महर्षि को दर्शन करता है तो महर्षि दल-वल सहित उनको भोजन के लिए निमन्त्रित करते हैं। राजा भरत के अनुरूप भोजन कराना है। भौतिक साधन का पूर्ण अभाव है, तो भी अपनी वाक् शक्ति से समग्र सेना सहित भरत का आतिथ्य अभूत पूर्व हुआ। अपनी अग्नि होत्र शाला में जाकर तीन वार आचमन मात्र करके विश्वकर्मा का आह्वान करते हैं, बड़े बड़े प्रासादों का निर्माण होता है सभी जंगल सुन्दर नगर बन जाते हैं मधुर पक्वान्न वनते हैं, पायस की नदियाँ बहती हैं। इसका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकी थक जाते हैं। मैं कथा कहने को प्रवृत्त नहीं हुआ हूँ। वाक शक्ति को प्रदर्शित करता हूँ—

आनीयतामितस्सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा।
अग्निशालां प्रविश्याथ पीत्वापः परिमृज्य च।
आतिथ्यस्य क्रियाहेतोः विश्वकर्माणमाह्वयत्॥
आह्वये विश्वकर्माणमहं त्वष्टारमेव च।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम्॥

आतिथ्य ग्रहण कर जनता कहती है

तर्पितास्सर्वकामैस्ते रक्तचन्दनरूषिताः।
नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान्
कुशलं भरतयास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम्॥

भरद्वाजर्षि की वाक् शक्ति का यह परिणाम है। आचमन करना एवं आह्वान करना जैसा यजमान नौकरों को वुलाता है। यह प्रभाव महर्षि का कैसे प्राप्त हुआ। मानना पड़ता है नियत वेदाध्ययन के महिमा छोड़ अन्य कारण कौन हो सकता है। शंका करने वाले कर सकते हैं यह सव 'कथा' है। सचमुच पुरुषोत्तम राम की कथा ही है लेकिन 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' न्याय से वेद के प्रामाण्य वुद्धि में संवाद ज्ञान की अपेक्षा रखने वाले भी तो होते हैं। उसको प्रदर्शित कर वाल्मीकि महर्षि प्रत्यक्ष दृष्ट अनुभव को स्मरण कर दिखलाते हैं। पुराण इतिहास भी मीमांसकों के मत में स्मृतियाँ हैं। जैसा

लौकिक ज्ञानों के प्रामाण्य में संवाद ज्ञान की अपेक्षा है वैसा अलौकिक अदृष्ट विषयक ज्ञान के प्रामाण्य में भी संवाद सापेक्षता है ही। तदर्थ महर्षियों ने इन पुराणों का प्रणयन किया है। हाँला कि हम वेद के प्रामाण्य में संवाद ज्ञान की अपेक्षा न रखते हैं वह निरपेक्ष प्रमाण ही है, किन्तु पुराणों के प्रामाण्य में वही महर्षि जैमिनी के न्याय मात्र को शरण लेकर चलना पड़ता है। वेद के सामने शिर न झुकावें किन्तु न्याय के सामने शिर झुकाना ही होगा। तात्पर्त टीकाकार ने मुक्त कण्ठ कहा है—

'मीमांसासंज्ञकस्तर्कस्सर्वो वेदसमुद्भवः।
सोऽतो वेदो रुमाप्रासकाष्ठादिलवणात्मवत्॥'

यह वचन ध्यान देने योग्य है। मीमांसा शब्द पूजित विचारार्थक है। अयुक्त का प्रतिषेध कर युक्त का अभ्यनुज्ञान तर्क कहलाता है। पूजित विचार के द्वारा जो वेद से निकला तर्क प्रस्तुत किया जाता है, वह वेद ही है। अर्थात् समग्र जैमिनि न्याय वेद है। यह मीमांसकों की उक्ति नहीं है किन्तु तात्पर्य टीकाकार की। वे प्रामाणिक नैयायिक हैं जिनके तर्क अखण्डनीय होते हैं। वे मीमांसा के न्यायों के विषय में अपने उद्गार को प्रकटित करते हैं। अतः पारस्कराचार्य की स्मृति के प्रामाण्य में क्यों सन्देह होगा।

आज कल हम परिवर्तित युग में चल रहे हैं, इस युग के लिए ये वैदिक बातें अनुरूप नहीं हैं। दुनियाँ वढ़ती हुई जा रही है, हम क्यों पीछे रहें आदि वार्ताएँ चलती हैं। यह ठीक है कि हमें वढ़ना है। यह वढ़ना व्यापार भौतिकता को लेकर होता है। बाहरी वढ़ाव को देखकर हम भी सोचते हैं हमें भी वढ़ना। वढ़ें! यह रोका नहीं जा सकता लेकिन शान्ति नहीं मिलेगी। अशान्त रह कर वढ़ते रहना भी तो अच्छा नहीं। हम इस यान्त्रिक युग में रह कर भी शान्त रहने के उपाय हमारे में विद्यमान हैं। इसके लिए पर्याप्त सामग्री को जुटा कर चिरन्तन रखे हुए हैं। उनको हम क्यों छोड़ें? वे आज कल के भौतिक आविष्कारों के लिए प्रतिवन्धक तो नहीं हैं। एक ओर अपनी संस्कृतियों को अवलम्बन करते हुए युगानुरूप नूतन चीजों के आविष्कार में लग सकते हैं। आपस में इनका वाध्य वाधक भाव नहीं हैं। अपनी संस्कृति में रह कर भी हम इन नूतन पदार्थों के आविष्कार में वुद्धि लगा सकते हैं। नूतन पदार्थ के आविष्कार करते हुए जूता पहन खाना खाना पाणी पीना आदि को हम वर्जित कर सकते हैं। विदेशी ऐसा करते हैं हमें भी ऐसा करना है यह ख्याल ठीक नहीं। मैं अनुकर्ता क्यों वनूँ? अनुकार्य वनने का सामर्थ्य रहते हुए। आत्मीयता का रहते हुए परकीयता का ग्रहण क्यों करें? आज इस युग में इन संस्कारों को क्यों माने? इस प्रश्न के उत्तर में इस युग में अपने संस्कारों को क्यों परित्याग करें कहने पर क्या समाधान होगा? कह सकते हैं फेशन वन गया है। फेशन ही तो अनुकरण है। अनुकरण करने वाला परतन्त्र होता है अनुकार्य स्वतन्त्र रहता है! किन्तु परतन्त्रता के कारणों का आश्रय लेते हैं। इस अवस्था में स्वतन्त्रता का मतलव क्या निकलता है। अपने घर पर धोती कुरता धारण कर नित्य नैमित्तिकों का अनुष्ठान करें दफ्तर जाते हुए तदनुरूप वेष धारण कर सकते हैं। दफ्तर में भी सूट वूट पहनने में अनिवार्यता तो नहीं हैं। स्वच्छ धोती कमीज से भी काम चल सकता है। मितव्ययिता का लाभ भी तो है।

संस्कारों का संक्षिप्त क्रम

(महर्षि जैमिनि के उपक्रमाधिकरण (३. ३. १.) न्याय से जात-कर्म से लेकर पुनः जनन पर्यन्त के मुख्य मुख्य संस्कारों का विवरणात्मक स्वरूप दिखलाया गया। संप्रति उनका संक्षिप्त पदार्थ क्रम संक्षिप्त रूप से दिखाया जाता है)।

सामान्य अङ्ग

सभी संस्कारों का कुछ सामान्य अंग होते हैं। स्नान धौतवस्त्र परिधान तिलक धारण आचमन प्राणायाम निर्विघ्न समाप्ति के लिए संक्षिप्त गणेशपूजन, प्रधान कर्म का संकल्प, आवहित गणेश का उद्वासन पुण्याहवाचन, नान्दीश्राद्ध ग्रह पूजन मातृका पूजन अग्नि-प्रतिष्ठा के लिए भूसंस्कार, अग्नि-प्रतिष्ठा आदि। इनमें जहाँ जितना विहित हैं उनका वहाँ अनुष्ठान किया जाता है।

जातकर्म

जातकर्म में मेधाजनन और आयुष्यकरण मुख्य है। पुत्र उत्पन्न होने के बाद पुत्र के मुख को देखकर पिता नदी या तटाक या घर के शीतल जल से सचेल स्नान कर धौत वस्त्र और तिलक धारण कर नालच्छेद के पूर्व सूतिका गृह में प्रविष्ट होकर प्रथमतः आचमन प्राणायाम करेगा। गणेशस्मरण और पुण्याहवाचन देश काल आदि को कीर्तन कर संकल्प करेगा—

'अमुकनक्षत्रे अमुकराशौ जातस्य मम कुमारस्य गर्भाम्बुपान-जनितसकल-दोषनिवृत्तिद्वारा मेधायुषोरभिवृद्ध्यर्थं श्रीपरमेश्वरमुद्दिश्य परमेश्वरप्रीत्यर्थं मेधाजननम् आयुष्यकरणञ्च (जातकर्म) करिष्ये।

मेधाजनन

रजत या कांस्य पात्र में मधु और घृत को सुवर्ण शालाका से मिलाकर शिशु के जिह्वा में 'भूस्त्वयि दधामि, भुवस्त्वयि दधामि, स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवस्स्वस्त्वयि दधामि मन्त्र से मिलाया हुआ मधुघृत को लगाना है।

आयुष्यकरण

बालक के पास या दाहिने कान के पास दिखाये गये आठ मन्त्रों को तीन बार जपना ही आयुष्यकरण कहलाता है। मन्त्र—

अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्मान् तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि।
सोम आयुष्मान् स ओषधीभिरायुष्मान् तेन + करोमि।
ब्रह्मायुष्मत् तद् ब्राह्मणैरायुष्मत् तेन + करोमि।
देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तः तेन + करोमि।

ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तः तेन + करोमि ।
पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन + करोमि ।
यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभिरायुष्मान् तेन + करोमि ।
समुद्र आयुष्मान् स स्रवन्तीभिरायुष्मान् तेन + करोमि ।

अनुप्राणन

पांच ब्राह्मणों को पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर मध्य में खड़ा कराकर पूर्व दिशा से आरंभ कर क्रम से प्राण अपान व्यान उदान शब्दों को कहलाना चाहिए । मध्य में रहने वाले से अन्तरिक्ष ऊपर देखकर समान शब्द को कहलाना चाहिए । यदि ब्राह्मण न मिले पति स्वयं ही सभी दिशाओं को घूम कर प्राण व्यान अपान उदान समान शब्दों को उच्चारण करें । यही अनुप्राणन है ! ये अनुप्राणन ब्राह्मण करे तो उनको पति 'इमं मम कुमारमनुप्राणित' इस प्रकार प्रैष आज्ञा देता है[1] । स्वयं कर्ता हो प्रैष नहीं है ।

अनन्तर जिस स्थल में बच्चे का जन्म हुआ है उस स्थान का 'वेद ते भूमि' मन्त्र से अभिमन्त्रित करना है ।

वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदःशतं जीवेम
शरदः शतꣳश्रृणुयाम शरदः शतम् ॥

मन्त्र का तात्पर्य बतला दिया गया है ।

बच्चे का अभिमर्शन

अनन्तर पिता बच्चे को अभिमर्शन-स्पर्श इस मन्त्र से करता है ।

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव ।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥

बच्चे के माँ का अभिमन्त्रण

अनन्तर बच्चे के माँ को इस मन्त्र से अभिमन्त्रण करता है—

'इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः ।
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरत्' ॥

अनन्तर बच्चे को स्तन्य पान कराकर यथाशक्ति ब्राह्मणों को सत्कृत कर जिस खटिया में माता सोती है उसके शिर के भाग के नीचे एक उदकुम्भ को पति रखेगा । उसका मन्त्र है—

आपो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ ।
एवमस्याꣳसूतिकायाꣳसुपुत्रिकायां जाग्रथ ॥

---

१. ज्योतिष्टोम के ऋतु याज नामकयागों में यजमान कर्तृक याज्या मन्त्र के पाठ में याज्या प्रैष नहीं होता है उसी न्याय से यहाँ भी प्रैष नहीं है । द्रष्टव्य—पू. मी. ३. ५. १८.

अनन्तर सूतिका घर के द्वार देश में भूसंस्कार कर लौकिक अग्नि की स्थापना करना है। उस अग्नि में सायं प्रातः सूतिका स्नान पर्यन्त हाथ से चावल में सर्षपों को मिलाकर होम करना है। मन्त्र है—

'शण्डामर्कां उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः।
मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा॥
आलिखन्ननिमिषः किं वदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भी शत्रुः पात्रपाणिर्नृमणि-
र्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा॥

ये दो होम सायं प्रातः करें। दोनों होम अग्निदेवताक हैं। उत्पन्न बच्चे का यदि कुछ पीडा की बाधा का अनुभव होने पर उसके शमन के लिए पारस्कराचार्य ने मन्त्र पढ़ने का निर्देश किया। यह नैमित्तिक है नित्य नहीं। एवञ्च सूतिका घर के द्वार देश में अग्निस्थापन, तथा होम पर्यन्त के कार्य कलाप से जातकर्म समाप्त होता हैं।

आज कल अनुष्ठान करने वाले नामकरण के साथ सूतक निवृत्ति होने पर जातकर्म को करते हैं। यह उचित है या नहीं इसका विचार पहले नहीं किया यया। अतः अभी विचार किया जाता है।

कर्म सामान्य के लिए मुख्य काल विहित है। मुख्य काल शास्त्रीय कारण से न मिलने पर गौण काल का ग्रहण होता है। प्रकृत जात कर्म में मेधाजनन और आयुष्यकरण का मुख्य काल नालच्छेद का पूर्व बतलाया है, नालच्छेद हो जाने पर सूतक लग जाता है यह भी शास्त्र कहता है। अर्थात् नालच्छेद के पूर्व सूतक नहीं लगने से जात कर्म का अनुष्ठान प्राप्त है। किन्तु सूतक लग जाने के कारण मृख्य काल नहीं मिलता। इस अवस्था में मीमांसा का निर्णायक न्याय बतलाया हुआ है। काल और देश कर्म प्रयोग के साथ संवन्ध रखने वाले हैं कर्म के प्रयोग में प्रधान कुछ होते हैं अंग कुछ होते हैं। उनमें प्रधान का मुख्य काल में अनुष्ठान होना चाहिए, अंगों का मुख्य काल का लाभ न होने पर भी कोई बाधा नहीं है। जात कर्म प्रयोग में प्रधान मेधाजन और आयुष्यकरण है। इसका मुख्य काल नालच्छेद का पूर्व। और वह काल सूतक से रहित है। नालच्छेद के समय को बढ़ा नहीं सकते हैं। अतएव मेधा-जनन और आयुष्य-करण का मुख्य काल अतिक्रान्त होनेपर उसका लोप प्राप्त है। किन्तु 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' न्याय से सूतक निवृत्त होने पर जात कर्म का अनुष्ठान नाम-करण के साथ प्रचलित है। मीमांसा के जातेष्टि न्याय (३. ३. १८) द्रष्टव्य है।❀

आपस्तंबीय जातकर्म

आपस्तंब प्रयोग में कुछ वैलक्षण्य है। अपनी शाखा के अनुसार मन्त्र एवं प्रयोग की भिन्नता अवश्यंभावी है। किस में भेद और किसमें एकता इसका परिचय होने से संपूर्ण भारत में सांस्कृतिक एकता का बोध होगा। इस निमित्त संस्कारों में आपस्तंब संबन्धी पदार्थ कहीं कहीं दिखलाया जाता है।

❀ गौण काल में अनुष्ठान के पूर्व मुख्य काल का अतिक्रमण से उत्पन्न दोष से छूटने के लिए प्रायश्चित के रूप से कृच्छ्राचरण किया जाना चाहिए।

कालातिपन्न प्रायश्चित

आचमन, गणेश स्मरण, देश काल संकीर्तन द्वारा संकल्प

अमुक नक्षत्रे अमुकराशौ जातस्य मम कुमारस्य जातकर्मणः मुख्यकालातिक्रमणेन यो दोषस्समजनि तद्दोषपरिहारार्थं कृच्छ्रप्रत्याम्नायं हिरण्य दानं व्याहृतिहोमञ्च करिष्ये ।

संकल्प कर जल से हाथ धोकर

हिरणगर्भं गर्भस्थं हेमबीजं विभावसोः ।
अनन्तपुण्यफलदं ततश्शान्तिं प्रयच्छ मे ॥

अमुक नक्षत्रे अमुक राशौ जातस्य मम कुमारस्य जातकर्मणः मुख्यकालातिपन्न प्रायश्चित्तार्थं इदं हिरण्यं शर्मणे तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम कह कर अपने शक्त्यनुसार दक्षिणा देकर लौकिक-अग्नि को स्थापित कर चतुष्पात्र प्रयोग से परिषेचनान्त कर्म कर मम कुमारस्य जातकर्मणः मुख्यकालाकरणदोषनिवारणार्थं सर्वप्रायश्चितहोमं होष्यामि, ओं भूर्भुवस्सुवस्स्वाहा होम कर प्रजापतय इदं न मम त्याग कर आचमन करें ।

अनन्तर पिता वेद विदों का एक परिषद को घटित कर उनसे जातकर्म करने के लिए अनुमति लेकर आचमन, गणेश-स्मरण, प्राणायाम कर संकल्प करेगा । नक्षत्रे राशौ जातं मम कुमारं जातसर्मणा संस्करिष्यामि । गणेश पूजा कर वच्चे को वात्सप्रमन्त्र पढ़ कर अभिमर्शन करेगा । भालन्दन का पुत्र वत्सप्री नाम के महर्षि के द्वारा अनुभूत मन्त्र समुदाय वात्सप्र कहलाता है । इस सूक्त में ११ मन्त्र हैं इसको पढ़ कर वच्चे के शरीर के शिर से लेकर पाद पर्यन्त अभिमर्शन होता है । पारस्कराचार्य ने भी वात्सप्र मन्त्र से अभिमर्शन कहा है किन्तु 'स यदि कामयेत सर्वमायुरियात्' कह कर इस अभिमर्शन को काम्य माना है । अभिमर्शन के अनन्तर शिशु को पिता अपने गोद में रखेगा ।

मन्त्र की विशेषता

श्रौत चयन प्रकरण में उखामें स्थापित अग्नि के उपस्थान-अग्नि समीप में जाकर मन्त्र पढ़ना कार्य में इस सूक्त का विनियोग किया गया है । उसी को गृह्य सूत्रकार सभी शिशु के अभिमर्शन में विनियोग किये हैं । अग्नि साध्य कर्म काण्ड में जैसा अग्नि का संरक्षण वर्द्धन और आदर मुख्य है वैसा ही देश-समाज के संरक्षण में अग्नि तुल्य वत्स का भी प्राधान्य है । इस विषय को वत्सप्री महर्षि ने समझा । अत एव सतत मनन के द्वारा इस सूक्त से परिचित हुए । इस तत्त्व को जानकर पारस्कराचार्य आपस्तंबाचार्य आदि गृह्य सूत्र प्रणयन के समय अद्य जात शिशु का भविष्य उज्ज्वल हो समाज सेवा में धुरंधर रहे समग्र आयु को प्राप्त कर सुखी रहे इन उद्देश्यों को लेकर अभिमर्शन में विनियोग किये । ये सूक्त (माध्य. सं. १२. १८, एवं. तै. सं. ४.२.२) में विद्यमान है ।

गोद में लेने का मन्त्र है—

अस्मिन्नहं सहस्रं पुष्याम्येधमानः स्वे वशे

अनन्तर मूर्धा का अवघ्राण-अभिमन्त्रण-दाहिने कान में जप और नक्षत्र नाम निर्देश मेधा जनन-मधुघृत प्राशन-स्नपन-माता के गोद में शिशु को रखना दाहिना स्तन प्राशन आदि समान है। शाखा के भेद से मन्त्र के आनुपूर्वी मात्र भिन्न है। फलीकरण होम समान है। अन्त में अभ्युदय पुण्याहवाचन विशेष है।

नामकरण प्रयोग

ग्यारवाँ दिन पत्नी और बच्चे को स्नान कराकर स्वयं नहाकर पति धौत वस्त्र तिलक धारण के द्वारा प्रातस्सन्ध्यानुष्ठान के अनन्तर यथाविधि पुण्याहवाचन कर धोये हुए घर को पुण्याहवाचन जल से प्रोक्षण कर आचमन प्राणायाम संक्षिप्त गणेश पूजन मातृका पूजन अभ्युदय नान्दी को समाप्त कर नक्षत्रे राशौ जातं मम कुमारं नाम करणसंस्कारेण संस्करिष्याव: संकल्प करना चाहिए। नामकरण में माता का भी अधिकार माना गया है अतएव संकल्प में द्विवचन बोला जाता है। अपनी परंपरा के अनुसार बच्चे के दाहिने कान में दम्पति नाम सुनावेंगे। ब्राह्मण भोजन कराना आवश्यक कहा गया है। अनुष्ठान पूर्वाह्ण में ही होगा।

आपस्तंब के अनुसार संकल्प में नाम धास्याव: बोला जाता है। नाम को सुनाने के पश्चात् अभ्युदय और पुण्याहवाचन किया जाता है। घर के प्रोक्षण के लिए आरंभ में पुण्याहवाचन होता ही है। निष्क्रमिणिका सूर्य दर्शन आदि अपने काल में समान है।

अन्न प्राशन पदार्थक्रम

बच्चे के छटवें मास में ताराबल चन्द्रबल आदि को निश्चय कर शुभ दिन में आचमन प्राणायाम आदि करके मातृका पूजन पूर्वक नान्दी श्राद्ध का अनुष्ठान होगा। तदनन्तर पञ्चभूसंस्कार कर लौकिक अग्नि को स्थापित कर ब्रह्मवरण आज्यभागान्त करें। स्थालीपाक सिद्ध कर रक्खें। आज्य से दो आहुतियाँ होंगी। जिसका मन्त्र है।

'देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रमिषमूर्ज्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु स्वाहा, इदं वाचे न मम देवीं वाचं·······पूरा पढ़कर वाजो नो अद्य प्रसुवातिदानं वाचो देवीं ऋतुभिः कल्पयाति। वाजो मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशावाजपतिर्जयेयँ स्वाहा। इदं वाचे वाजाय न मम।

इन दो होमों के अनुष्ठान के अनन्तर स्थालीपाक के चार आहुतियाँ करें उनका मन्त्र—

प्राणेनान्नमशीय स्वाहा, इदं प्राणाय न मम। अपानेन गन्धानशीय स्वाहा इदमपानाय न मम। चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा–इदं चक्षुषे न मम। श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा–इदं श्रोत्राय न मम

स्थालीपाक से स्विष्टकृद्धोम करके, महाव्याहृति आदि नौ होमों को करना है। अनन्तर संस्रव प्राशन। दक्षिणा दान के अनन्तर अन्न को अलग पात्र में रखकर एकबार बच्चे को विना मन्त्र से खिलाना चाहिए। अथवा 'हन्त' बोलकर खिलाना चाहिए। पारस्कराचार्य

कामना के भेद से कतिपय पक्षियों के मांस का भी खिलाने का निर्देश किये हैं। अनन्तर ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए।

आपस्तम्ब के अनुसार पदार्थ

अन्न प्राशन संस्कार के अंगभूत प्रतिसर वन्धनकर्म करने का विधान है। यह अन्न प्राशन-चूडाकर्म-उपनयनों में किया जाता है। स्नान सन्ध्या आदि से निवृत्त होकर चार पाँच ब्राह्मणों के साथ इस कर्म का अनुष्ठान होता है। एक थाली में चावल विचाकर तीन रेखायें बनाकर जल भरा कुंभ को उस पर रखकर कूर्च आम्रपल्लव नारियल से कुंभ को विभूषित कर कुम्भ के उत्तर दिशा में पत्ते में तण्डुल विचाकर उसके ऊपर हल्दी गन्ध आदि से अनुलिप्त सूत्र (जिसको हाथ में वान्धना है) को स्थापित करना है। अनन्तर आचमन गणेशस्मरण प्राणायाम कर—

नक्षत्रे राशौ जातस्य मम कुमारस्यान्नप्राशनकर्माङ्गं प्रतिसरवान्धकर्म करिष्ये

सङ्कल्प करना है। कुम्भ में वरुण देवता को आवाहनादि पोडशोपचारपूजा कर के कुम्भ के उत्तर भाग में स्थापित सूत्र के जप के लिए—

'अस्मिन् प्रतिसर मन्त्र जपकर्मणि ऋत्विजं त्वां वृणे'

ऐसे चार ऋत्विजों को वरण कर 'प्रतिसर मन्त्र जपं कुरुध्वम्' कहकर गायत्री मन्त्र का पच्छ एवं अर्द्धर्चक्रम से उच्चारण कर ऋत्विजों के साथ जप करना है। जप के लिए चारों वेदों के शुरू के मन्त्र 'कृणुष्वपाज' अनुवाक 'अग्ने यशस्विन्' से चार ऋचाएँ, दधिक्राव्ण ऋचा 'आपो हिष्ठा' से तीन ऋचाएँ, हिरण्यवर्णीय सूक्त, पवमानानुवाक, वरुण-रुद्र-ब्रह्म-विष्णु-दुर्गा-श्रीसूक्त एवं अन्त में 'नमो ब्रह्मणे' मन्त्र को तीन वार परिधानीया के रूप जप कर आवाहित वरुण को उद्वासन कर अब्लिङ्गक मन्त्रों से सूत्र को प्रोक्षण कर 'त्र्यम्बकं यजमाहे' मन्त्र से सूत्र को हाथ में लेकर भस्म से तीन वार उन्मार्जन कर 'अग्निरायुष्मान्' आदि पांच मन्त्रों से अपने हाथ को अभिमन्त्रित कर पुमान् को दाहिने हाथ में एवं स्त्रियों को वायें हाथ में 'वृहत्सामक्षत्रभृत्' मन्त्र से वान्धना चाहिए। जिस भस्म से सूत्र का उन्मार्जन हुआ उसको धारण करके ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर सत्कार करना है। अन्नप्राशन आदि समाप्ति के दिन में सायं नदी या तटाक में हाथ में वन्धा हुआ सूत्र को विस्रंसन कर विसर्जन करना है। यह अन्नप्रासन के पूर्वाङ्ग है।

अन्नप्राशन

अन्नप्राशनाङ्ग प्रतिसर वन्ध के अनन्तर अभ्युदय पुण्याहवाचन करना है। अनन्तर गणेशस्मरण कर देशकाल संकीर्तन कर—

'नक्षत्रे राशौ जातं मम कुमारं रामशर्माणम् अन्नप्राशनकर्मणा संस्करिष्यामि'।

संकल्प कर पुण्याहवाचन जल से कुमार और अन्न को प्रोक्षण करना है। दधिमधु घृत और अन्न को पात्र में मिलाकर—

'ओं भूरपां त्वौषधीनां रसं प्राशयामि शिवास्त आप ओषधयस्सन्तु अनमीवास्त आप ओषधयस्सन्तु रामशर्मन् भुवोऽपां त्वौधीनां रसं प्राशयामि शिवास्त आप ओषधयस्सन्तु अनमीवास्त आप ओषधयस्सन्तु रामशर्मन्, सुवरपान्त्वौषधीनां रसं प्राशयामि शिवास्त आप ओषधयस्सन्तु अनमीवास्त आप ओषधयस्सन्तु रामशर्मन्, भूर्भुवस्सुवरपां त्वौषधीनां रसं प्राशयामि शिवास्त आप ओषधयस्सन्तु अनमीवास्त आप ओषधयस्सन्त रामशर्मन्'।

इस मन्त्र को पढ़ कर एक वार उस अन्न को खिलाना चाहिए।

चूडा कर्म के पदार्थ

पारस्कराचार्य चूडाकरण एवं केशान्त दो संस्कारों का विधान तन्त्रेण वतलाये हैं। जहाँ चूडाकरण से केशान्त संस्कार में भेद है उसका निर्देश किये हैं। चूडाकरण प्रथमवर्ष समाप्ति के पूर्व अथवा तीसरे वर्ष के समाप्ति के पूर्व किया जाता है। केशान्त सोलहवें वर्ष में किया जाता है। इसको गोदान शब्द से भी व्यवहार करते हैं।

ज्योतिषियों द्वारा निर्दिष्ट शुभ तिथि में कुमार के साथ मङ्गल स्नान एवं सन्ध्या आदि से निवृत्त होकर आचमन गणेशस्मरण प्राणायाम करके—

अस्य मम कुमारस्य वलायुर्वर्चोऽभिवृद्ध्यर्थं परमेश्वर प्रीत्यर्थं चूडाकरणाख्यं कर्म करिष्ये।

करके पंच भूसंस्कार कर लौकिक अग्नि को स्थापित करें। अग्नि के पश्चात् भाग में बच्चे को गोद में लिये हुए पत्नी को बैठाकर ब्रह्मवरण आज्य भागान्त-अग्निमुख करके महाव्याहृति होम प्राजापत्य होम करना है। संस्रवप्राशन एवं ब्रह्मा को वरदान (दक्षिणा) करें। अनन्तर ठण्डे जल में गरम जल को मिलाना है। उसका मन्त्र है—

'उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान् वप'।

इस जल में मख्खन या घृत या दधि को मिलावे। आगे इसी जल से वाल को भिगोना है। पहले इस जल से दाहिने भाग को भिगोना है। मन्त्र है—

केशों का उन्दन (भिगौना)

'सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्च्चसे'।

केश विभाजन (अलग करना)

त्र्येणी (श्वेत) शलली (साही) मृग के (कण्टक) से केश का विनयन-विभाजन कर 'ओषधे त्रायस्व' मन्त्र से अलग किये हुए केशों को कुशाओं से अच्छादन करें। अनन्तर 'शिवोनाम' कहकर छुरी को लेकर 'निवर्तयामि' कहकर कुशाओं से अन्तर्हित केशों में छुरी को रखें—

वपन और प्रक्षेप

'येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यञ्जरदष्टिर्यथासत्'।

इस मन्त्र से वैसा वपन करना चाहिए जैसा कुशों का भी छेदन हो। कटे हुए कुशासहित केशों को उत्तर दिशा में रख्खे हुए वैल के गोमय में डाल देना चाहिए। इसी प्रकार विना मन्त्र से दो वार करना है। अनन्तर पश्चिम और उत्तर गोदान-केशों का दाहिने गोदान के समान उन्दन-भिगोना आदि गोमय में डालने तक का क्रिया कलाप होंगे। पश्चिम-गोदान के च्छेदन में 'येनावपत्' मन्त्र नहीं होगा किन्तु 'त्र्यायुषं' मन्त्र से करना है। उत्तर गोदान का छेदन—

'येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवा तवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये'॥

मन्त्र होगा। अनन्तर छुरी से तीन वार शिरः प्रदेश को घुमाना चाहिए। घुमाने का मन्त्र

'यत् क्षुरेण मज्जयता सुपेशसाप्त्वा वापयति केशान् छिन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः'।

जल से शिर को भिगोकर छुरी को नापित के हाथ में देना है। मन्त्र है—

'अक्षुन्वन् परिवप'।

शिखा का स्थापन नापित करेगा। यही प्रयोग केशान्त-गोदान संस्कार में भी होता है। साधारण भेद है। कटे केशों को गोमय में रखकर गोष्ठ या पल्वल या नदी किनारे में रख-देना चाहिए। आचार्य को दक्षिणा देकर सत्कृत करना चाहिए। चूडाकर्म संस्कार चारों वर्णों का होता है।

आपस्तंव के चूडाकर्म

पारस्कर और आपस्तंव के चौल (चूडा) कर्म में अधिक भेद नहीं है। प्रधान होम और अंग एवं प्रायश्चित्त होमों में भेद है। जयादि राष्ट्रभृत् अभ्यातान होमों को कर्म-समृद्धि के निमित्त अनिवार्य रूप से करते हैं। अवशिष्ट उन्दन, केशविनयन-क्षुरादान-वपन प्रासन आदि पदार्थ तुल्य हैं। चौल कर्म-सीमन्त एवं उपनयन के समान किया जाता है। अत एव अंग वाहुल्य है। संस्कृत शव्दावली से इन संस्कारों का कराना प्राचीन काल से प्रचलित है। अतः नमूना के लिए इस चूडाकर्म के संस्कृत से प्रयोग दिखलाना उचित समझकर प्रदर्शित करता हूँ।

आतस्तंव चौळ प्रयोगः

'जन्मनोऽधि तृतीये वर्षे चौळं पुनर्वस्वोः'

आप. गृ. ६. १६. ३.

आदावुदकशान्तिकर्म अभ्युदयं पुण्याहवाचनं अङ्कुरार्पणं प्रतिसरवन्धञ्च कुर्यात्। ब्राह्मणेभ्योऽनुज्ञां प्राप्य विघ्नेशं सम्पूज्य संकल्पं कुर्यात्। नक्षत्रे राशौ जातं शर्माणं मम कुमारं चौळकर्मणा संस्करिष्यामि। विघ्नेशमुद्वास्य कुमारं भोजयित्वा लौकिकाग्निं प्रति-ष्ठाप्य मुखान्तं कुर्यात्। तद्यथा—प्राचीः उदीचीश्च तिस्रस्तिस्रो रेखाः समिधा लिखित्वा अद्भिरवोक्ष्य शकलं नैर्ऋत्यां निरस्य, अप उपस्पृश्य भूर्भुवस्सुवरोमित्यग्निं प्रतिष्ठाप्य अवो-क्षणतोयं प्रागुत्सिच्य प्राक्तोयं निधाय, अग्निमिध्वा अग्नेः परिस्तरणं कुर्यात्। (वेदिं परितः

कुशानां प्रसारणं परिस्तरणं कथ्यते) तद्यथा–प्राक्पश्चाच्चोदगग्राः, दक्षिणत उत्तरतश्च प्रागग्राः दक्षिणानुत्तरान् उत्तरानधरान् कृत्वा उत्तरेणाग्नि कुशान् संस्तीर्य तेषु पात्रसादनं कुर्यात्। दर्वी (प्रधान) आज्यस्थालीं प्रोक्षणीपात्रं प्रणीतापात्रं इतरदर्वीं इध्मं शीतजलमुष्ण जलं क्षुरं शल्ली-सूचीं शलालुग्लप्सं (उदुम्बरस्य फल संघात विशेषः) सादयित्वा सपवित्रेण पाणिना पात्राणि संमृश्य प्रोक्षणीपात्रमादाय पश्चिमपरिस्तरणाद् वहिः दर्भान् आस्तीर्य तत्र निधाय, सपवित्रे प्रोक्षणीपात्रे अक्षतैस्सह अप आसिच्य त्रिरुत्पूय (आगे पीछे पवित्र से जल को चलाना उत्पवन कहलाता है) पात्राण्युत्तानानि कृत्वा इध्मग्रन्थि विस्रस्य (वित्ते भर के १७ समिधायें अग्नि परिधान के लिये अरत्नि परिमाण लम्बे ३ समिधा मिला कर वन्धा हुआ समिधों को इध्म कहते हैं। इस ग्रन्थि को छुड़ाकर) सपवित्रेण पाणिना सर्वाभिरद्भिः त्रिः प्रोक्ष्य प्रोक्षणीपात्रं दक्षिणतो निधाय प्रणीतापात्रमादाय पूर्ववदक्षतैस्सह अप आसिच्य त्रिरुत्पूय समं प्राणैर्हृत्वा (दोनों हाथों से नासिका पर्यन्त उठाकर) उत्तरेणाग्निं दर्भेषु सादयित्वा दर्भैः प्रच्छाद्य वरुणाय नमः सकलाराधनैः स्वर्चितमित्यक्षतान् विकीर्य ब्रह्मवरणं कुर्यात् मम कुमारस्य चूडाकर्मणि ब्रह्माणं त्वां वृणे, ब्रह्मणे नमः सकलाराधनैः स्वर्चितम्। आज्यं विलाप्य (पिघला कर) अपरेणाग्निं पवित्रान्तर्हिताया-माज्यस्थाल्यामाज्यं निरुप्य (डालकर) उदीचोऽङ्गारान्निरूह्य (अग्नि के उत्तर भाग में अङ्गारों को निकाल कर) तेष्वधिश्रित्य (उनमें आज्यस्थाली को रख कर) ज्वलता तृणेनावद्योत्य, द्वे दर्भाग्रे प्रच्छिद्य प्रक्षाल्य युगपत् प्रत्यस्य (दो दर्भ के अग्र भाग को काटकर धोकर आज्य में डाल कर) त्रिः पर्यग्निकृत्वा (दर्भ को जला कर ज्वाला से तीन वार घुमा कर। (यह पर्यग्नि करण कहलाता है) उदगुद्वास्य (आज्य पात्र को उत्तर में उतार कर) अङ्गारान् प्रत्यूह्य (अंगारो को अग्नि में डाल कर) उदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां त्रिरुत्पूय (यह उत्पवन कहलाता है इतना आज्य संस्कार है) पवित्रग्रन्थि विस्रस्य अप उपस्पृश्य प्रागग्रमग्नौ प्रहरति (पवित्र ग्रन्थि को खोलकर जल को स्पर्श कर प्राग्दिशा में अग्र भाग हो वैसा अग्नि में दे देना चाहिए) दर्वी येन जुहोति तदग्नौ प्रतितप्य (दर्वि को अग्नि में तपा कर) दर्भैस्संमृज्य (पोंछ कर) पुनः प्रतितप्य प्रोक्ष्य निधाय, दर्भानद्भिस्संस्पृश्याग्नौ प्रहरति। शम्याः परिध्यर्थे (शम्या शब्द का व्यवहार विवाह उपनयन समावर्तन-सीमन्त चौलगोदान प्राश्चित्त कर्मों में होता है। इसके अतिरिक्त कर्मों में परिधि शब्द का व्यवहार है परिधि माने अग्नि के तीनों भाग में जिन समिधाओं को रखते है उनका नाम है) परिधीन् परिदधाति। (इध्म ग्रन्थि में जो लम्बे समिधा हैं उनको तीनों ओर रक्खे) स्थविष्ठो मध्यमः, अणीयान् द्राधीयान् दक्षिणार्ध्यः, अणिष्ठो ह्रसिष्ठ उत्तरार्ध्यः, मध्यमं परिधिमुपस्पृश्य द्वे आधार समिधौ ऊर्ध्वाग्रे दक्षिणत उत्तरतश्चादधाति, (इध्म ग्रन्थि से दो समिधाओं को मध्यम परिधि का स्पर्श कर अग्नि के पूर्व भाग में दक्षिण और उत्तर में जैसे खड़े हो सके वैसा रखना चाहिए) अनन्तरं परिषिञ्चति—अदितेऽनुमन्यस्व, अनुमतेऽनुमन्यस्व सरस्वतेऽनुमन्यस्व देवसवितः प्रसुव (अग्नि के चारों ओर जल से चार मन्त्रों से परिषेचन करना है) इध्ममाज्येनाभ्यज्य अस्मिन् मम कुमारस्य चौलकर्मणि ब्रह्मन्निध्ममाधास्ये (ब्रह्मा से इध्माधान की अनुमति मांग कर) 'ओं आधत्स्व' (कहने पर) इति ब्राह्मणोक्ते इध्ममाधाय, इतरदर्व्या आज्यमादाय प्रजापतिं मनसा ध्यायन् उत्तरं ज्योतिष्मत्या-

धारमाधारयन् सर्वाणीध्मकाष्ठानि संस्पर्शयति स्वाहा। प्रजापतय इदं न मम। प्रधान दर्व्या आज्यं गृहीत्वा दक्षिणपरिधिसन्धिमन्ववहृत्य प्राञ्चमुदञ्चमृजुं सन्ततमाधारमाधारयति। स्वाहा, इन्द्रायेदं न मम। (ये दो आधार कहलाते हैं) अथाज्यभागौ जुहोति—अग्नेय स्वाहा, अग्नय इदं न मम, सोमाय स्वाहा सोमायेदं न मम। सङ्कल्पप्रभृत्येतत्क्षणपर्यन्तं मध्ये सम्भावितसमस्तदोषप्रायश्चित्तार्थं सर्वप्रायश्चित्तं होष्यामि–ओं भूर्भुवस्सुवस्वाहा प्रजापतय इदं न मम। (इतना तक पूर्वाङ्ग हैं)

अथ प्रधानाहुतयः—

धाता ददातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः।

स नः पूर्णेन वा वनत् स्वाहा, धात्र इदं न मम। इस प्रकार चार होम है जिनमें धाता देवता है। अग्नि पुत्रवत् देवता के दो होम, और इन्द्र पुत्रवत् देवता के दो होम। कुल ८ प्रधान होम हैं)

उत्तराङ्ग

अनन्तरं जयादिहोमाः, राष्ट्रभृद्धोमाः अभ्यातानहोमा भवन्ति। इमे होमास्त्रयश्चत्वारिंशद् भवन्ति। तदनन्तरं प्रायश्चित्तहोमाः व्याहृतिहोमाः अन्ते स्विष्टकृद्धोमः। अनन्तरमाज्यपात्रमुत्तरतो निधाय प्राणायामं कृत्वा अप उपस्पृश्य परिषेचनं कुर्यात् अदितेऽन्वमंस्थाः, अनुमतेऽन्वमंस्थाः, सरस्वतेऽन्वमंस्थाः देवसवितः प्रासावीः। वरुणं सम्पूज्य। प्रणीतापात्रमादाय तस्मिन् जलं किञ्चिन्निनीय प्राच्यां दक्षिणायां प्रतीच्याम् उदीच्यां ऊर्ध्वायाञ्च जलं किञ्चित् किञ्चिदुत्सिच्य शेषमधो निनीय आत्मानं कुमारं पत्नीञ्च प्रोक्षेत्। ब्रह्मन् वरं ते ददामि। ब्रह्मणे नमः सकलाराधनैः स्वर्चितमिति तमर्चयेत्। एतावत्प्रधानहोमानामुत्तराङ्गानि। अथ चूडाकर्म।

पत्न्या अङ्के स्थितं कुमारं अपरेणाग्निं प्राञ्चमुपवेश्य त्रेण्या शलल्या त्रिभिर्दर्भपुञ्जीलैः शलालुग्लप्सेन तूष्णीं केशान् विनीय यथर्षि शिखां निदधाति। अपां संसर्जनाद्याकेशनिधानात् समानम्। 'उष्णेन वायो' इति शीतासु उष्णा आनीय 'आप उन्दतु' इति शिर उनत्ति। त्रींस्त्रीन् दर्भानन्तर्धाय 'येनावपत्' इति त्रिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं प्रवपति। अयं रामशर्मा इति मन्त्रान्ते उच्चारयेत्। एवं प्रतिदिशं छित्वा अप उपस्पृश्य आनडुहे शकृत्पिण्डे यवान्निधाय तस्मिन् केशानुपयम्य, 'उप्त्वाय केशान् वरुणस्य राज्ञो वृहस्पतिः सविता सविता सोमो अग्निः। तेभ्यो निधानं वहुधाऽन्वविन्दन्नन्तरा द्यावापृथिवी अपस्सुवः' इत्युदुम्बरमूले दर्भस्तम्बे वा निदधाति। क्षुरं प्रक्षाल्य निदधाति। कुमारं स्नापयित्वा वस्त्रादिभिरलङ्कुर्यात्॥

चौल प्रयोग को संस्कृत में इसलिये दिखाया कि यजमान और पुरोहित कर्तव्य पदार्थों को समझकर कर सकें।

सीमन्त और उपनयन में उदुम्बर दर्भ और शलली-साही की सूची का मेलन जैसा उसी रीति से इन तीनों का चूडाकर्म में भी उपयोग होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि आगे परंपरा में उत्तरोत्तर इनका संवन्ध होता रहे। गर्भस्थ शिशु, चूडाकर्म के शिशु

उपनयन के वटु, तदनन्तर गृहस्थ होने के अनन्तर होने वाला शिशु की एकात्मकता के ये सूचक हैं। अत एव आयुवृद्धि की कामना जगह जगह पर की जाती है। हिन्दुओं के लिए चूडाकर्म ही विशेषता रखता है। चारों ओर केश विनयन ऐसा करना चाहिए जैसा कि गो या अश्व के खुर परिमाण केश का स्थान हो जिससे ब्रह्मरन्ध्र का स्थान सुरक्षित हो सके।

कर्णवेध

चूडा कर्म के दिन ही कर्ण वेध संस्कार भी प्रचलित है। यद्यपि गृह्यसूत्रों में कर्ण वेध को संस्कार का रूप दिया नहीं है, पारस्कर परिशिष्ट में इसका उल्लेख अवश्य है तथापि धर्म ग्रन्थों एवं वैद्यक सुश्रुत आदियों में कर्णवेध का उल्लेख मिलता है। हिन्दुओं का यह धार्मिक कर्म तो अवश्य है। वाजपेय याग में दीक्षित यजमान को छत्र चामर कुण्डल आदि धारण का विधान मिलता है। यदि कर्ण वेध नहीं हुआ हो तो कुण्डल धारण का संभव नहीं। अतः उचितकाल में कर्ण वेध संस्कार परंपरा से प्राप्त मानना पड़ेगा। 'हेयं दुःखमनागतम्' नीति से अन्त्रवृद्धि (हर्निया) भविष्यकाल में न होने के लिए पूर्वजों ने कर्ण वेध संस्कार को प्रवर्तित किया है। प्रायः प्रथम वर्द्धापन दिन में आयुष्य होम आदि करके कर्णवेध भी वच्चे को किया जाता है। वैद्य या सोनार सोने या चांदी या लोहे के सूई को कान के छिद्र में ही मोड़ देते हैं। स्त्रियों का लोक गीत उत्सव होता है। कन्याओं का भी कर्णवेध होता है। भगवती त्रिपुरसुन्दरी के सहस्रनामों में 'कर्णताटङ्कशोभिता' नाम आया है। अतएव इस परंपरा का मूल यह भी हो सकता है।

विद्याभ्यास-या अक्षरारम्भ

गृह्यसूत्रग्रन्थों में इस संस्कार का उल्लेख न होने पर भी चूडाकर्म के अनन्तर उत्तरायण में बच्चे के नक्षत्र के अनुसार तारावल चन्द्रवल आदि देखकर शुभयोग शुभ-दिन और स्थिर लग्न में अपने घर ही में या गुरु के घर बच्चे को लेजाकर इस संस्कार का अनुष्ठान होता है। वच्चे को मंगल स्नान कराकर नूतन वस्त्र तिलक आभूषण आदि से अलंकृत कराकर स्वयं पिता या गुरु के द्वारा अक्षरारंभ किया जाता है। गुरु पूर्वाभिमुख एवं बच्चे उत्तराभिमुख वैठेंगे। गणेश पूजन कर फलक में सरस्वती का आवाहन आदि षोडशोपचार पूजा कर बच्चे से—

'सरस्वति नामस्तुभ्यं वरदे कामरूपिणि।
विद्यारम्भं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा॥

पद्य को वुलवाकर फलक में 'ओं नमो नारायणाय सिद्धम्' लिखकर अ आ आदि को लिखने का अभ्यास किया जाता है। गुरु को दक्षिणा देकर बच्चे के द्वारा नमस्कार कराना चाहिए। यह प्रयोग सभी प्रान्तों में समानरूप से प्रचलित है। अति प्राचीन काल में जमीन पर बालू बिछाकर कहीं कहीं चावल को बिछाकर अक्षरों का अभ्यास किया जाता था। होते होते फलक कापियाँ मुद्रित पुस्तकें प्रचलित हुए हैं। बच्चा मेधावी हो तो इस संस्कार के साथ सरल श्लोकों का अभ्यास करेगा।

उपनयन पदार्थ

उत्तरायण काल में शुद्धनिर्दुष्ट दिन और लग्न को निश्चित कर आचार्य या पिता पूर्व दिन कृच्छ्राचरण-स्वस्तिवाचन-अङ्कुरार्पण नवग्रहयज्ञनान्दी श्राद्ध संकल्पपूर्वक करके बारह हजार गायत्री जप करके मण्डप प्रतिष्ठा करें। अनन्तर दूसरे दिन अपने कुमार के उपनयन संस्कार में प्रवृत्त होगा। पिता न रहने पर पितामह या चाचा आदि के द्वारा यह संस्कार किया जाता है। निर्दिष्ट दिन में मंगल स्नान सन्ध्या आदि से निवृत्त होकर कुमार को भी मंगलस्नान कराकर आचमन प्राणायाम गणेश मातृकापूजन आभ्युदयिक करके तीन ब्राह्मणों को भोजन कराना है। ब्राह्मणों से अनुमति लेकर नक्षत्रे राशौ जातमिमं मम कुमारमुपनेष्ये संकल्प कर बहिः शाला में अग्निस्थापन कर कुमार को भोजन के पूर्व वपन चूड़ाकर्म के समान कराकर वस्त्र माल्या तिलक आदि से अलङ्कृत कराकर कुमार को अपने साथ दाहिने में अग्नि के पश्चात् बैठाना चाहिए। 'ब्रह्मचर्यमगाम्' ऐसा आचार्य के कहने पर कुमार ब्रह्मचर्यमगाम् कहेगा। अनन्तर 'ब्रह्मचर्यमसानि' आचार्य के कहने पर कुमार 'ब्रह्मचर्यमसानि' कहेगा। आचार्य वटु को वस्त्र पहनावेगा। उसका मन्त्र है—

येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतं तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे।

अनन्तर मेखला बन्धन मन्त्र है—

इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्। प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥

अथवा

'युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥

अथवा मन्त्र के बिना भी हो सकता। अनन्तर यज्ञोपवीत धारण आचार्य करावेगा।

यज्ञोपवीत धारण

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

यज्ञपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि

अजिन धारण

अनन्तर आचार्य अजिन धारण करावेगा।

मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वि स्थविरँ समिद्धं अनाहनस्यं वसनं जरिष्णुः परीदं वाज्यजिनं दधेऽहम्

दण्डदान

आचार्य के द्वारा दिये हुए पलाश आदि दण्ड को लेकर धारण करेगा।

'यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्यां तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय'

अञ्जलि पूरण

अनन्तर आचार्य वटु के अञ्जलि में अपने अञ्जलि से जल भरेगा। मन्त्र है—

आपोहिष्ठा मयो भुवस्तान ऊर्जे दधातन।
महेरणाय चक्षसे॥
यो वश्शिवतमो रसस्तस्य भाययेह नः।
उशतीरिव मातरः॥
तस्मा अरं गमामवो यस्य क्षयाय जिन्वथ
आपो जनयथा च नः॥

इन मन्त्रों से अञ्जलि से जल भरेगा।

सूर्योदीक्षण

अनन्तर आचार्य सूर्य को इस मन्त्र से

तच्चक्षुर्देव हितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम्'

आदि बोलकर दर्शन करायेगा।

हृदयस्पर्शन

आचार्य वटु के दाहिने अंस प्रदेश अपने हाथ को बढ़ाकर वटु के हृदय देश का स्पर्श करेगा मन्त्र है—

'मम व्रते ते हृदयं दधामि। मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु, मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिः त्वां नियुनक्तु मह्यम्'

प्रश्न प्रतिवचन

आचार्य वटु के दाहिने हाथ को पकड़ कर पूछेगा 'को नामासि' वटु उत्तर देता है—'रामशर्माऽहम्'। कस्य ब्रह्मचार्यसि आचार्य के पूछने पर 'भवतः' ऐसे उत्तर देता है। आचार्य कहेगा—

इन्द्रस्य ब्रह्मचर्यसि, अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासौ 'रामशर्मन्'।

भूत परिदान

आचार्य वटु के हाथ को पकड़कर रक्षा के लिए देवताओं को समर्पण करता है—

प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामि अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः त्वा परिददामि द्यावपृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै।

अग्नि परिक्रमा और आज्याहुतियाँ

आचार्य वटु को वस्त्र आदि से संस्कृत कराकर वटु के साथ अग्नि को परिक्रमा कर के संमुख आसन में बैठाकर आघार प्रभृति स्विष्टकृद्धोमपर्यन्त चौदह आज्याहुतियाँ करेगा—

भू: स्वाहा इदमग्नये, भुवः स्वाहा इदं वायवे, स्वः स्वाहा इदं सूर्याय, भूर्भुवस्स्वः स्वाहा इदं प्रजापतये, भूरग्नये च पृथिव्यै च महते च स्वाहा, इदमग्न्यादिभ्यः, भुवो वायवे चान्तरिक्षाय महते च स्वाहा, इदं वाय्वादिभ्यः, स्वरादित्याय च दिवे च महते च स्वाहा इदमादित्यादिभ्यः, भूर्भुवस्स्वश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च दिग्भ्यश्च महते च स्वाहा इदं चन्द्रमादिभ्यः, पाहि नो अग्न एनसे स्वाहा इदमग्नये, पाहि नो अग्ने विश्ववेदसे स्वाहा इदमग्नये, यज्ञं पाहि विभावसो स्वाहा, इदं विभावसवे, सर्वं पाहि शतक्रतो स्वाहा इदं शतक्रतवे, पुनरूर्जा निवर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाᳪहसः स्वाहा इदमग्नये पुनर्व्याहृतिभिर्होमः स्विष्टकृद्धोम एवं आज्याहुतियों को करके संस्रवप्राशन करने का अनन्तर वटु को अनुशासन सुनाता है।

अनुशासन

आचार्य वटु को अनुशासन करता है वटु उसका उत्तर देता है—रामशर्मन् ? त्वं ब्रह्मचार्यसि। माणवक का उत्तर–असानि। अपोऽशान। उत्तर–अश्नानि। कर्मकुरु (स्नान सन्ध्या समिधान आदि काम करो) उत्तर–करवाणि। दिवा मा सुषुप्थाः (दिन में सोना नहीं) उत्तर–न स्वपानि। वाचं यच्छ (वाक् को नियन्त्रित रक्खो) उत्तर–यच्छानि। समिधमाधेहि,(समिधान का आचरण करो) उत्तर–आदधानि।

अनुशासन के अनन्तर बर्हिषों का होम प्रणीता पात्र का विमोक समित्प्रक्षेप आदि उत्तरांग होते हैं। इतने क्रियाकलाप से उपनयन–आचार्य के पास लाना कर्म समाप्त होता है। तदनन्तर आचार्य का कर्तव्य सावित्री का उपदेश।

सावित्री का उपदेश

इस प्रकार शिक्षा देकर आचार्य वटु को सावित्री मन्त्र का उपदेश करता है। इस मन्त्र का 'सविता' देवता है, छन्द निचृद् 'गायत्री' ऋषि 'विश्वामित्र' है। अग्नि के उत्तर भाग में पश्चिमाभिमुख होकर बैठे हुए आचार्य चरणों को पकड़े हुए, और आचार्य के मुख को देखते हुए माणवक के दाहिने कान में पूर्वाभिमुख बैठकर आचार्य सावित्री मन्त्र का पच्छशः, अर्धर्चशः सर्वशः व्याहृतिपुरस्सर उपदेश करेगा। इसका प्रकार पूर्व दिखलाया जा चुका है। छन्द के भेद से क्षत्रिय वैश्यों का मन्त्रोपदेश होता है। अथवा सभी को गायत्री छन्द मन्त्र का उपदेश माना गया है। मन्त्रोपदेश के पूर्व वटु आचार्य के चरण धोकर कूर्च मधुपर्क आदि से सत्कार करके मन्त्र का ग्रहण करेगा। ग्रहण के अनन्तर आचार्य को गोत्रोच्चारण पूर्वक अभिवादन करेगा। इसी प्रकार माता एवं बड़ों को करेगा।

समिदाधान

मन्त्र ग्रहण के पश्चात् माणवक को समिदाधान करना चाहिए। समिधों का आधान- प्रक्षेप को समिदाधान कहा जाता है।

परिसमूहन

परिसमूहन-दाहिने हस्ततल से अग्नि को इन्धन डालकर सन्धुक्षण करना। परिसमूहन का मन्त्र है—

'अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं माकुरु यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येवं माऽँसुश्रवः सौश्रवसं कुरु यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्'।

कुछ आचार्य इसको तीन मन्त्र मानते हैं।

परिषेचन

हाथ में जल लेकर अग्नि को प्रदक्षिण क्रम से सिञ्चन को परिषचन कहते हैं। पर्युक्षण भी कहा जाता है।

समिदाधान

अनन्तर माणवक खड़े होकर एक-एक समिधा को अग्नि में प्रक्षेप करेगा। मन्त्र है—

'अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्च्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यानिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्च्चस्यन्नादो भूयासऽँस्वाहा'।

इसी प्रकार दूसरा एवं तीसरा समिधा को प्रक्षेप करना चाहिए। इस मन्त्र के विकल्प में मन्त्रान्तर कहा है—

एषा ते अग्ने समित्तया वर्द्धस्व चाचप्यायस्व।
वर्धिषीमहि च वयमाचप्यासिषीमहि॥

अथवा 'अग्नये समिधमाहार्षं' इस मन्त्र के साथ 'एषा ते अग्ने' मन्त्र का समुच्चय का भी मन्त्र है। पहले के समान पर्यूहन पर्युक्षण-परिषेचन करके दोनों हस्तों को अग्नि में प्रतपन कर दोनों हाथों से मुख को पोंछना चाहिए। उसका मन्त्र—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि, आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि, वर्च्चोदा अग्नेऽसि वर्च्चो मे देहि, अग्ने तन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण। मेधां देवः सविता आदधातु, मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु, मेधामश्विनावाधत्तां पुष्करस्रजौ।

अङ्गों का आलम्भन-स्पर्श

'अङ्गानि च न आप्यायन्तां वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलम्'

इस मन्त्र को जपकर सभी अपने अङ्गों को स्पर्श करें। त्र्यायुषकरण एवं भस्म को ललाट ग्रीवा-गर्दन दाहिने अंस हृदय में लगाकर नाम गोत्रोच्चारण पूर्वक अभिवादन करें।

भिक्षाचरण

अनन्तर भिक्षाचरण। 'भवति भिक्षां देहि, भिक्षां भवति देहि, भिक्षां देहि भवति' ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के ब्रह्मचारी क्रम से मन्त्र बोलकर भिक्षा लें। प्रथम माता के पास से भिक्षा लेना कुछ आचार्य का मत है। भिक्षा लेकर आचार्य को समर्पित कर सूर्यास्त तक मौन रहने को कुछ आचार्य कहते हैं। सायं समिदाधान करके मौन को तोड़ना है। एवं प्रातः, मध्याह्न, सायं सन्ध्या करते हुए सायं, प्रातः समिदाधान ब्रह्मचारी को करते रहना चाहिए। और गुरुकुल में वास कर एक दो तीन वेदों को षडङ्ग एवं मीमांसा के साथ अध्ययन करना चाहिए।

वेदारम्भ और उत्सर्जन

'श्रावण्यां पौर्णमास्यामुपाकृत्य तैष्यां पौर्णमास्यामुत्सृजेत्'

इस विधि से वेदारम्भ और उत्सर्जन वेदाध्ययन समाप्ति तक प्रति वर्ष होता रहेगा। उत्सर्जन के अनन्तर शिक्षा कल्प आदि षडङ्गों का पढ़ना चालू रखना चाहिए।

प्रथमोपाकर्म (वेदारम्भ)

आवसथ्य-औपासन अग्निमान् आचार्य इस कर्म का अधिकारी है। अग्नि रहित-निरग्नि आचार्य का भी अधिकार कुछ आचार्य मानते हैं।

ततो नान्दीमुखं श्राद्धं मातृकापूजनपूर्वकम्।
गुरोस्तदात्मसंस्कारान्न शिष्याणां परार्थतः॥

इस प्रमाण से आचार्य अपने आवसथ्याग्नि में इस कर्म को सम्पन्न करेगा। श्रावणी पूर्णमा-ी में प्रातः स्नान सन्ध्या आदि से निवृत्त होकर आचार्य मध्याह्न में अपने शिष्यों सहित नदी तीर या तटाक तीर जाकर माध्यह्निक स्नान कर धौत वस्त्र नूतन यज्ञोपवीत धारण कर औपासनाग्नि को प्रज्ज्वलित कर तिथि-वार-नक्षत्र आदि सङ्कीर्तन करते हुए अधीतानां छन्दसामयातयामत्वाय, अध्येष्यमाणानां छन्दसां वीर्यवत्त्वाय एभिश्शिष्यैस्सह अध्यायोपाकर्म करिष्ये संकल्प करें। ब्रह्मोपवेशनादि आज्यभागन्त पूर्वाङ्ग कर आज्याहुतियाँ करेंगे। ऋग्वेद का अध्ययन हो तो 'पृथिव्यै स्वाहा' 'अग्नये स्वाहा' ये दो आहुतियाँ, यजुर्वेद का अध्ययन हो तो 'अन्तरिक्षाय स्वाहा' 'वायवे स्वाहा' सामवेद का अध्ययन हो तो 'दिवे स्वाहा' 'सूर्याय स्वाहा' अथर्ववेद का अध्ययन हो तो 'दिग्भ्यः स्वाहा' 'चन्द्रमसे स्वाहा' ये दो दो आहुतियाँ करेंगे। यदि सभी वेदों का अध्ययन हो तो 'ब्रह्मणे स्वाहा' 'छन्दोभ्यस्स्वाहा' ये दो आहुतियाँ होंगी। इसमें तत्तद्वेद की आहुतियाँ भी होंगी। तदनन्तर प्रजापतये स्वाहा, देवेभ्यः स्वाहा, ऋषिभ्यः स्वाहा, श्रद्धायै स्वाहा, मेधायै स्वाहा, सदसस्पतये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा' ये सात आज्याहुतियों को करके—

'सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषँ स्वाहा'

मन्त्र से भूजा हुआ अक्षतों का होम करना है। यह तीन बार करना है। शिष्य सभी इस मन्त्र को पढ़ेंगे। इन तीन होमों में एक एक होम में गूलर समिधा का आधान होगा। समिधा को गायत्री मन्त्र से डालेंगे। ब्रह्मचारी गन अपने समिदाधान प्रकार से समित्प्रक्षेप करेंगे। अनन्तर आचार्य और सभी शिष्य तीन तीन अक्षत धान को चबाये बिना निगलते हुए प्राशन करेंगे। उसका मन्त्र है—

'शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳरक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः॥

अनन्तर दधि भक्षण सबको करना है। मन्त्र है—

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्रण आयूꣳषि तारिषत्॥

अनन्तर आचमन कर जितने शिष्यों को आचार्य पढ़ावेंगे उतने तिलों को आकर्षफलक से होम करेंगे सावित्री मन्त्र से। अनन्तर स्विष्टकृत् धानाओं से होगा। अनन्तर उत्तर आहुतियाँ नौ होंगी। अनन्तर संस्रवप्राशन, मार्जन पवित्र प्रतिपत्ति ब्रह्मदक्षिणादान, प्रणीता विमोक होंगे। इतने कर्म आचरण कर आचार्य प्राङ्मुख बैठकर ओंकार पूर्वक तीन बार सावित्रीमन्त्र को उच्चारण कर वेदों का अध्यापन करेंगे। अध्यापन समाप्त होनेपर—

सहनोऽस्तु सहनोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म।
इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे'॥

इस मन्त्र को सभी पढ़ेंगे। तीन दिन अनध्याय रहेगा। वेदाध्ययन साढ़े पांच मास होगा। तदनन्तर अध्यायोत्सर्जन होगा।

अध्यायोत्सर्जन

पौष के रोहिणी नक्षत्र में उत्सर्जन का विधान है। अर्थात् पूर्व उपाकृत वेद भागों को आवृत्ति करते हुए दूसरे उपाकर्म शुरू होने तक नये भागों का अध्ययन नहीं करना चाहिए। यही उत्सर्जन है। मातृकापूजा नान्दी श्राद्ध संपन्न कर शिष्यों सहित आचार्य नदी तीर जाकर स्नान धौतवस्त्र पहनकर तर्पण करें। 'देवास्तृप्यन्तु, छन्दांसि तृप्यन्तु, वेदास्तृप्यन्तु, ऋषयस्तृप्यन्तु, पुराणाचार्यास्तृप्यन्तु, गन्धर्वास्तृप्यन्तु, इतर आचार्यास्तृप्यन्तु, संवत्सरस्सावयवस्तृप्यतु, पितरस्तृप्यन्तु, आचार्यास्तृप्यन्तु। नाम गोत्रोच्चारण पूर्वक प्राचीनावीती होकर पितृ तर्पण करें पिता रहने पर पितामह आदि का तर्पण है। उपवीती होकर आचमन कर चार बार सावित्री का उच्चारण करें। सभी लोग 'विरताः स्मः' कहेंगे। उपाकर्म के समान अध्याय आदि का पठन होगा।

समावर्तन प्रयोग

पूर्वोक्त प्रकार से नियत वेदाध्ययन के समाप्ति पर आचार्य से अनुज्ञा प्राप्तकर ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार को ताराबलचन्द्रबल से शुद्ध दिन में करेगा। यदि ब्रहचर्यव्रत का लोप हुआ हो तो प्रायश्चित्त के रूप में तीन कृच्छ्राचरण कर गुरु को दक्षिणा आदि से

तृप्त कराकर उनसे आज्ञा लेकर ब्रह्मचारी समावर्तन करेगा। स्नान प्रातस्सन्ध्या समिदाधान करके आचार्य के पास बैठेगा। आचार्य प्राणायामपुरस्सर देशकाल का संकीर्तन कर 'अस्य ब्रह्मचारिणः गृहस्थाश्रम प्राप्तिद्वारा सकलश्रेयः प्राप्त्यर्थं श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं समानाख्यं कर्म करिष्ये' संकल्प कर गणेशपूजन, पुण्याहवाचन मातृका पूजन नान्दीश्राद्ध करें। आचार्य से ब्रह्मचारी 'अहं स्नास्ये' पूछें, आचार्य 'स्नाहि' उत्तर देने पर उनके पादोपसंग्रह करें। तदनन्तर पञ्चभूसंस्कार करके लौकिक अग्नि का स्थापन होगा। ब्रह्मवरण से आज्यभागान्त करके उपाकर्म में किये वेद आहुतियाँ अधीत वेद के अनुसार करें। अनन्तर महाव्याहृति होम स्विष्टकृत् प्रणीता विमोकान्त करें। तदनन्तर ब्रह्मचारी गुरु को प्रणाम करके उसी अग्नि में समिदाधान करें। अनन्तर अग्नि के उत्तर भाग में आचार्य के द्वारा स्थापित वस्त्र से वेष्टित जलपूर्ण आठ कुम्भों में से पहला कुम्भ से जल लेकर पूर्व दिशा में आस्तीर्ण कुशा में खड़े होकर अभिषेक कर लें। कुम्भ से जल लेने का मन्त्र—

'येऽप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदुषुरिन्द्रियहा तान्विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि'

अभिषेक करलेने का मन्त्र—

'तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मवर्चसाय'।

दूसरे कुम्भ से पूर्वोक्त मन्त्र से जल लेकर अभिषेक करलें। मन्त्र—

'येन श्रियमकृणुतां ये नावमृशताꣳसुरान्।
येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः'॥

तीसरे चौथे पांचवें कुम्भों से जल लेकर क्रम से इन मन्त्रों से अभिषेक करलें। मन्त्र है—

'आपो हिष्ठा मयो भुवस्तान ऊर्जे दधातन।
महेरणाय चक्षसे॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजतेहनः।
उशतीरिव मातरः॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा चनः'॥

अवशिष्ट तीन कुम्भों के जल से विना मन्त्र अभिषेक कर लेना चाहिए।

मेखलोन्मोचन दण्ड निधान

अभिषेक के अनन्तर मेखला जो कटि प्रदेश में बांधा हुआ का उन्मोचन-छुड़ाना दण्ड को रखना। मन्त्र—

'उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳश्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

दूसरे वस्त्र को पहिन कर सूर्योपस्थान करें। मन्त्र—

उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनि मा कुर्वाविदन्मा गमय।

उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन्मा गमय।

उद्यन् भ्राजजिष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्सायं यावभिरस्थात्सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन्मा गमय।

अनन्तर दही प्राशन कर जटालोमनखों को बनाकर गूलर काष्ठ से दन्तधावन करें। मन्त्र—

अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳसोमो राजायमागमत्।
स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च॥

शरीर को रगड़कर शरीर मल के दूर करने हेतु पुनः स्नान कर शरीर में लगाने के लिए अङ्गानुलेपन का ग्रहण करेगा। मन्त्र—

'प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे श्रोत्रं मे तर्पय'

कहकर मुख में लगा लें। 'पितरः शुन्धध्वम्' मन्त्र बोलकर प्राचीनावीती होकर जल लेकर दक्षिण दिशा में छोडें। चन्दन से शरीर को लेप कर जप करें। मन्त्र—

'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳसुवर्चा मुखेन। सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्'

नया वस्त्र धौत वस्त्र को परिधान करें। मन्त्र—

'परिधास्यं यशो धास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।
शतञ्च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये'॥

अनन्तर उत्तरीय को परिधान करेगा। मन्त्र—

'यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्रा बृहस्पती।
यशो भगश्चरिमाविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम्'॥

पुष्प लेकर शिखा में बान्ध लें। पुष्पग्रहण का मन्त्र—

'या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय।
ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च'॥

बान्धने का मन्त्र—

'यद्यशोऽप्सरसमिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु।
तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस अवबध्नामि यशोमयीं'

पगड़ी उष्णीष 'युवासुवासा' मन्त्र से बान्धना है।

'अलङ्करणमसि भूयोलङ्करणं भूयात्'

मन्त्र से कुण्डल धारण करना चाहिए।

'वृत्रस्य' पढकर आखों में अञ्जन, 'रोचिष्णुरसि' मन्त्र से दर्पण देखना, 'बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहि' मन्त्र से छत्र धारण 'प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्' मन्त्र से पादत्राण धारण 'विश्वेभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः' मन्त्र से वेणुदण्डधारण करना चाहिए।

स्नातक व्रत पालन के विषय में पारस्कराचार्य लिखते हैं–'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्' यद्यपि उपनयन के पश्चात् गृहस्थाश्रम प्रवेश तक व्रत का पालन होना चाहिए, तथापि व्रत का पालन कष्ट-साध्य है। अतः धर्म ग्रन्थों में संकोच किया गया है।

'षट्त्रिंशदाब्दिकं वापि गुरोस्त्रैवेदिकं व्रजेत्।
यद्वा द्वादश वर्षाणि षड्वाथ त्रीणि वा भवेत्॥
संवत्सरं वत्सरार्धं त्रिमासमथवा भवेत्।
मौञ्जीबन्धाद् द्वादशाहं त्रिरात्रं वाचरेद् व्रतम्॥
गौदानिकं व्रतं कृत्वा समावर्तनमाचरेत्'॥

आज कल कुछ प्रान्तों में उपनयन के दिन में ही समावर्तन भी कर लेते हैं, कुछ प्रान्तों में विवाह के पूर्व दिन या विवाह के दिन समावर्तन का अनुष्ठान प्रचलित हो गया है।

आपस्तंब और पारस्कर के मत में इतना भेद है कि आपस्तंब प्राजापत्य-सौम्य-आग्नेय-वैश्वदेव-काण्ड के नाम से व्रतों को विभक्त कर व्रतों का उपक्रम और उत्सर्जन के रूप में अनुष्ठान का निर्देश करते हैं। लेकिन इन चारों व्रतों का समान तन्त्र से अनुष्ठान प्रचलित हो गया। यद्यपि अलग अलग चारों व्रतों का अनुष्ठान होना चाहिए तथापि काल चक्र के परिवर्तन से अनुष्ठान का भी परिवर्तन हो गया है। इस विषय में स्मृतिकारों का यह संग्रह है—

'आसन्नोद्वाह आर्तो वा ह्यापदि स्वयमेव वा।
एकतन्त्रेण वा कुर्यादेतद्व्रतचतुष्टयम्॥
एकतन्त्रप्रयोगस्य पक्षं वक्ष्याम्यहं स्फुटम्।
आदौ विप्राननुज्ञाप्य पूजयित्वा गणाधिपम्॥
प्राजापत्यादि सङ्कल्प्य केशश्मश्रु च वापयेत्।
स्नात्वा तीर्थं पुनस्स्नात्वा तर्पयेत्तान् ऋषीन् क्रमात्॥
अग्नेरुपसमाधानादि मुखान्ते हुनेदृषीन्।
प्रजापतय इत्येकं षट् प्रजापतिसूक्ततः॥
सोमाय सोमसूक्तेन ह्यग्नयेऽग्ने नयेति च।
विश्वेभ्य आनो विश्वे च हुत्वा चोपनिषत्त्रयम्॥
हुत्वा स्विष्टकृतःस्थाने सदसस्पतिमित्यृचा।
वटुरुच्चरतस्तिष्ठन् प्राजापत्यमिति ब्रुवन्॥

अग्न आदिचतुर्भिस्तु देवता उपतिष्ठते।
स्पृष्ट्वा मदन्तीश्च पठेत् नमो वाचेऽनुवाककम् ॥
पृथिव्याद्येरथाद्ध्याच्चतस्रः समिधः क्रमात्।
देवतोपस्थितिं कुर्यात् सौम्यं व्रतमिति ब्रुवन् ॥
युञ्जते सविता जप्त्वा तृतीयादेरुपस्थितिः।
जयादींश्च ततो हुत्वा मदन्तीस्समुपस्पृशेत् ॥
पठेच्छन्नोऽनुवाकं च कुर्यात्सम्मीलनादिकम्।
वस्त्रदानं गुरोरित्थं व्रतानामेकतन्त्रता ॥

विशेष

प्रयोग विधि के विषय में कुछ बातों को समझना आवश्यक है। ब्राह्मण ग्रन्थों के आधारपर सूत्र-ग्रन्थ प्रवृत्त हुए हैं। सूत्र-ग्रन्थों के आधारपर प्रयोग-पद्धतियाँ लिखी गयी हैं। पद्धति ग्रन्थों को लिखते हुए तात्कालिक समाज के अनुष्ठान में भी पद्धतिकार ध्यान देते थे। जबकि समाज में प्रचलित अनुष्ठान का ही प्रतिरूप ब्राह्मण ग्रन्थ है। तदनन्तर काल में प्रवृत्त सूत्र-ग्रन्थ एवं पद्धति ग्रन्थ समाज में प्रचलित अनुष्ठान के अवलंबन से प्रवृत्त हुए हैं, ऐसा मानने में क्या अन्तराय है? क्योंकि प्रभुसंमित शब्दों से ब्राह्मण ग्रन्थ अंग और प्रधान को करना चाहिए, इसलिए करना चाहिए कहकर निवृत्त हो जाते हैं। यही उत्पत्ति विधि और विनियोग विधि कहलाती हैं। ब्राह्मणों में प्रयोग विधि के रूप में कोई विधि नहीं है। प्रयोग माने—अनुष्ठान। अनुष्ठान के समय नाना अंग एवं प्रधान एक काल में उपस्थित हो जाते हैं। एक काल में उनका अनुष्ठान मानना होगा। पदार्थों का क्रम भी किसी प्रमाण को मानकर ही बनाना उचित है। और वह क्रम भी अविलम्ब रूप शीघ्रता से आधारित होना चाहिए। अन्यथा प्रयोग का विक्षेप होगा—क्या इसका अनुष्ठान हुआ या नहीं? इस प्रकार के अनुष्ठान से अंग और प्रधान का साहित्य कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि अंगसहित प्रधान ही फल का साधन माना जाता है। इसलिए मीमांसकों ने 'अङ्गवाक्यैकवाक्यतामापन्नः प्रधानविधिरेव प्रयोगविधिः' माना है। तदर्थं श्रुति-अर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्ति रूप छः प्रमाण माने गये हैं। इन प्रमाणों के आधार से प्रयोग-विधि को कल्पना की जाती है। उसी का रूपान्तर है सूत्र और पद्धति ग्रन्थ। पद्धति एवं सूत्रग्रन्थ गद्यमय तथा कतिपय सूत्रग्रन्थ पद्यमय निबद्ध हैं। पद्यमय ग्रन्थ का कारिका शब्द से व्यवहार करते हैं। इन कारिकाओं का स्मरण कर वैदिक अनुष्ठान कराते हैं।

इतने विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अति प्राचीनकाल में लोग वेदों में विहित नित्य-नैमित्तिक श्रौत कर्मों के अनुष्ठान के साथ स्मार्त संस्कारों का भी यथावत् अनुष्ठान करते थे। श्रौत कर्मों के अनुष्ठान में शैथिल्य प्राप्त होने पर कुछ लोग स्मार्त कर्मों को छोड़े बिना यथाशास्त्र अनुष्ठान में लगे थे। आज इस परिस्थिति का अनुभव किया जा रहा है कि स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान में भी नितान्त लोप हुआ है। आज उपनयन और विवाह मात्र का पुरोहितों द्वारा अनुष्ठान कराते हैं, कतिपय इसको भी छोड़ बैठे हैं। यह

सच है कि आजकल के वातावरण में हम कुछ भी नहीं कर पाते हैं क्योंकि संस्कारों का ज्ञान रखने वाले भी दुर्लभ हो गये हैं। किन्तु इस स्थिति को देखकर भारतमाता लज्जातिशय से नतमस्तक हो रही है। तोड़-फोड़ के साधन वैज्ञानिक पदार्थों का आविष्कार कर उनके परिणामों को हम प्रत्यक्ष आजकल अनुभव कर ही रहे हैं। कई पञ्चवर्षीय योजनाएँ बीत चुकी हैं, महर्घता-पिशाचिका से छुटकारा नहीं है। अरबों, खरबों का व्यय हो रहा है, किन्तु लोगों का चरित्र गिरता जा रहा है, नैतिकता का नामो-निशान नहीं है; देश में हम किस चीज की उन्नति कर रहे हैं। देश में जहाँ देखिए वहाँ भ्रष्टाचारपरम्परा, अनैतिकता, तोड़फोड़, और असहभावना ताण्डव कर रही है। हमारी सस्कृति का नामो-निशान नहीं है। हम शास्त्रीय रीति से वैदिक संस्कारों को करते हुए उत्सवों में वन्धु-बान्धव, मित्र, परिचित व्यक्तियों को जुटाते हैं, केवल खिलाने-पिलाने के लिए नहीं, किन्तु अपनी संस्कृति के प्रचार के लिए जुटाते हैं। सहभाव की चेतना को जगाने के निमित्त जितने संस्कार हैं उनका उत्सव मनाया जाता रहा है। इतना तो निश्चित है कि हमारे इन संस्कारों में आध्यात्मिक चेतना-वर्द्धक शक्ति विद्यमान है। भौतिक-शक्ति द्वारा वह प्रवल है। हमें भारत को भौतिक शक्ति-समृद्धि के साथ-साथ आध्यात्मिक-शक्ति सम्पन्न भी करना है। तभी भारत को उन्नत समझ सकते हैं। मात्र भौतिक-शक्ति से भारत देशान्तरों से वैलक्षण्य नहीं रख सकता। यदि हमें भारत को देशान्तरों से विलक्षण वनाना हो तो वैदिक संस्कारों से संस्कृत होना पड़ेगा। क्रमशः उस शक्ति से हमारे वच्चों को सम्पन्न करना होगा जो चिरन्तन ऋषि-महर्षियों में था।

विवाह पदार्थ-क्रम

पहले विवाह प्रकरण में मन्त्रों का विवेचन एवं प्रायः पदार्थक्रम निरूपित हुआ है। इसी प्रकार गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन का भी निरूपण हुआ है। इनमें पारस्कराचार्य की अपेक्षा आपस्तम्बाचार्य के मतमें कुछ वैलक्षण्य भी दिखाया गया है। संस्कारों को करानेवाले वैदिक पुरोहित पद्धतिग्रन्थ को कण्ठस्थ कर सम्पन्न कराते हैं। करानेवालों में कुछ अर्थ समझ कर कराते हैं, कुछ विना समझे ही कराते हैं। पद्धति ग्रन्थों को याद करते हुए समझ कर करना चाहिए। तदर्थ सभी संस्कारों के प्रामाणिक और व्यवस्थित पद्धति ग्रन्थों को तैयार कराना चाहिए, जो अपने सूत्रानुसार हों। दक्षिण भारत में आपस्तम्वानुसार पद्धति ग्रन्थ प्रणीत हैं। उत्तर भारत में भी हैं किन्तु उनमें एकरूपता नहीं पायी जाती। कराने वाले हाथ में पुस्तक रख कर कराते हैं। इसका सुधार आवश्यक है। यद्यपि उत्तर भारत में कई जगह पौरोहित्य की परीक्षा चल रही है तथापि परीक्षा की व्यवस्था आजकल प्रत्यक्ष ही है। इससे स्वच्छ समाज के लिए कोई लाभ नहीं है। अतः वैदिक कर्मकाण्डी विद्वानों द्वारा संस्कृत में पद्धति ग्रन्थ लिखवा कर हिन्दी में उसका अर्थ भी समझ लेना चाहिए। समग्र वेद का भले ही अध्ययन न करें किन्तु संस्कारों के उपयुक्त मन्त्र भाग का विधिवत् अध्ययन होना चाहिए। उदाहरण के लिए आपस्तम्वाचार्य के मत के अनुसार विवाह-पद्धति दिखाई जाती है—

समावर्तन संस्कार के अनन्तर पादुका, छत्र, कुण्डल, अञ्जन आदि धारण कर

नूतन वस्त्र पहन कर वर निकलता है, तो कन्यापिता बीच में वर को रोक कर विष्णु भगवान् की भावना से पाद्य-अर्घ्य-आचमन आदि से सत्कार करता है। अनन्तर परम्परागत रीति से स्त्रियाँ लोकगीत गाती हुई वर-वधू के हाथों में पुष्पमाला देकर परस्पर पहनाने के लिए प्रेरित करती हैं। माला-परिवर्तन का कार्य वर-वधू के मातुल-मामा के द्वारा होता है। प्राचीन काल में दोनों मातुल वर-वधुओं को कन्धे पर बैठा कर नृत्य करते हुए माला-परिवर्तन कराते थे। आजकल खड़े-खड़े ही वर-वधू आपस में माला-परिवर्तन करते हैं। अनन्तर दोनों परिवार की सुवासिनी स्त्रियाँ वर-वधू को झूलन में बैठा कर गाना गाती हुई हल्दी-चूना से मिश्रित जल के द्वारा आरती आदि लौकिक क्रिया करती हुई दोनों की परिक्रमा करती हैं। परिक्रमा में वर और वधू की माँ एवं तीन स्त्रियाँ रहती हैं। इन तीनों स्त्रियों के हाथ में जलभरा लोटा रहता है तथा दोनों माँ के हाथों में बगोना में रखा हुआ दीपक रहता है। पहले एक स्त्री अपने लोटे से जल गिराती जाती है, उसके पीछे वर की माँ दीपक, उसके पीछे जलभरा लोटा लेकर एक महिला, उसके पीछे वधू की माँ दीपक, उसके पीछे जलभरा लोटा लेकर एक महिला। इस क्रम से तीन परिक्रमा कर मण्डप में प्रविष्ट होकर अपनी-अपनी सामान रख देती हैं। अनन्तर पान-सुपारी में नारियल लेकर वर की सास वर के, एवं वधू की सास वधू के हाथ में देकर दोनों को मण्डप में ले जाती हैं। यह कार्य लौकिक है, दृष्टिपरिहारार्थ किया जाता है।

मण्डप में वर-वधू अपने आसन पर बैठ कर वैदिक कार्य शुरू करते हैं। लौकिक रूप से वर-वधू पक्ष के लोगों में लेन-देन निश्चित होने पर भी वैदिक रूप से निश्चय किया जाता है। वर पक्ष वाले सङ्कल्पपूर्वक वरान्वेषण के लिए ब्राह्मण-घटकों को भेजते हैं और वे कन्या पक्ष वालों के पास जाकर निश्चय कर वर पक्ष के लोगों को खबर देते हैं कि इस गोत्र के इस नाम के घर से कन्या को निश्चित कर आये हैं।

सुहृदस्समवेतान् मन्त्रवतो वरान् प्रहिणुयात् तान्
प्रसुग्मन्तेति द्वाभ्यामभिमन्त्रयेत

इस आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार 'यूयम् अस्मात्कुलात् मह्यं कन्यां वृणीध्वम्' 'ततस्ते वराः कन्यापितरं गत्वा ब्रूयुः वाधूलगोत्रोद्भवाय रामशर्मणे वराय नैध्रुवगोत्रोद्भवां कामाक्षीनाम्नीं भवदीयां कन्यां धर्माचरणार्थं वृणीमहे' ऐसा बोलने पर कन्यापिता 'शोभनं दास्यामि' कहेगा। इस बात को वर के पास आकर वे सुनायेंगे—'सिद्धार्था वयम्'। अनन्तर कन्यापिता सङ्कल्पपुरस्सर कन्यादान के लिए ब्राह्मणों की अनुज्ञा पाकर गणेश पूजन, ग्रहमख करके वर को आसन आदि देकर महाविष्णु की भावना से वर के पैर को धो कर आचमन करेगा। वर भी आचमन करेगा। अनन्तर कन्यापिता 'काश्यपावत्सारनैध्रुवत्र्यार्षेयप्रवरान्वितनैध्रुवगोत्रोद्भवस्य श्रीरामशर्मणो नप्त्रीं काश्यपावत्सारनैध्रुवत्र्यार्षेयप्रवरान्वितनैध्रुवगोत्रोद्भवस्य श्रीकृष्णशर्मणः पौत्रीम्, काश्यपावत्सारनैध्रुवत्र्यार्षेयप्रवरान्वितनैध्रुवगोत्रोद्भवस्य श्रीरामशर्मणः पुत्रीं कामाक्षीनाम्नीं मदीयां कन्याम्, भार्गववैतहव्यसावेतसत्र्यार्षेयप्रवरान्वितवाधूलगोत्रोद्भवस्य श्रीलक्ष्मणशर्मणो नप्त्रे, भार्गववैतहव्यसावेतस्य त्र्यार्षेयप्रवरान्वितवाधूलगोत्रोद्भवस्य श्रीवेंकटेशशर्मणः पौत्राय, भार्गववैतहव्यसावेतसत्र्यार्षेयप्रवरान्वितवाधूलगोत्रोद्भवस्य वरदराजशर्मणः पुत्राय श्रीरामशर्मणे महाविष्णुस्वरूपाय वराय तुभ्यम्—

कन्यां कनकसम्पन्नां कनकाभरणैर्युताम्।
दास्यामि विष्णवे तुभ्यं ब्रह्मलोकजिगीषया॥
विश्वम्भरास्सर्वभूतास्साक्षिणस्सर्वदेवताः।
इमां कन्यां प्रदास्यामि पितृणां तारणाय च॥
कन्ये ममाग्रतो भूयाः कन्ये मे भव पार्श्वयोः।
कन्ये मे सर्वतो भूयाः त्वद्दानान्मोक्षमाप्नुयाम्॥

'इमां कन्यां प्रजासहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयामि' ऐसा कह कर दान करेगा। वर 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे प्रतिगृह्णामि' मन्त्र से प्रतिग्रह कर वधू के साथ आसन पर बैठ कर गणेश-स्मरण प्राणायामपूर्वक तिथि-वार-नक्षत्र का नाम लेते हुए 'आवयोः उद्वाहकर्म करिष्ये' संकल्प करेगा। अग्नि के लिए 'प्राचीः पूर्वम्' इत्यादि विधि से स्थण्डिल बनाकर घर के दो सुवासि-नियों के द्वारा लौकिक अग्नि को व्याहृतियों से स्थापित करेगा। प्राची दिशा में कटोरी में जल रख कर अग्नि प्रज्वलित कर कुशओं से स्थण्डिल का परिस्तरण (चारों ओर कुशों का बिछाना परिस्तरण कहलाता है) करेगा। अनन्तर कन्यापिता मधुपर्क-कूर्च आदि से वरका सत्कार करेगा। कन्यापिता जिस कूर्च (आसन) को देता हैं उसे बिछा कर वर 'राष्ट्रभृदसि आचार्यासन्दी मा त्वद्योषम्' इस मन्त्र को कह कर पूर्वाभिमुख बैठेगा। कन्यापिता के 'आपः पाद्याः' कहने पर वर अपने दाहिने पैर को दिखायेगा। अनन्तर वर के 'आपः पादावनेजनीः द्विषन्तं नाशयन्तु मे। अस्मिन् कुले ब्रह्मवर्चसी असानि' ऐसा कहने पर कन्यापिता महाविष्णु की भावना से वर के पैर को धोयेगा। वर 'स्वागतं सुपाद्यम्' कह कर कन्यापिता का स्पर्श कर' मयि महः मयि यशः मयीन्द्रियं वीर्यम्' कहते हुए अपने हृदय का स्पर्श करेगा। अनन्तर कन्यापिता के द्वारा आदरार्थ दिये हुए जल का अभिमन्त्रण करते हुए वर अपनी अञ्जलि में लेकर 'विराजो दोहोऽसि' इत्यादि मन्त्र को पढ़ेगा। अवशिष्ट जल को भूमि में गिराते समय 'समुद्रं वः प्रहिणोमि' इत्यादि पढ़ेगा। वर द्वारा अपनी अञ्जलि में जल इसलिए ग्रहण किया जाता है कि आगे कन्यापिता के द्वारा दिये हुए मधुपर्क का प्राशन करना है। तन्निमित्त हाथ शुद्ध रहे। कन्या-पिता के 'मधुपर्कः' कहने पर वर 'त्र्यय्यै विद्यायै यशोऽसि' इत्यादि मन्त्र बोलकर मधुपर्क ग्रहण करेगा। अनन्तर वर 'अमृतोपस्तरणमसि' कह कर आचमन कर 'यन्मधुनः मधव्यम्' इत्यादि मन्त्र पढ़कर मधुपर्क का प्राशन करेगा। तीन बार प्राशन होगा। पहला प्राशन समन्त्रक होगा और दो बार प्राशन तूष्णीं होगा। मधुपर्क का प्राशन करके वर आचमन करेगा। अनन्तर कन्यादाता वर के लिए एक गौ (बैल) देता है। वर 'यज्ञो वर्द्धतां' आदि मन्त्र पढ़कर गौ का उत्सर्ग करेगा। इसी समय वर 'अभ्रातृघ्नीं वरणापतिघ्नीम्' आदि मन्त्र पढ़कर कन्या को देखेगा। देखकर वधू के साथ आसन पर बैठकर संकल्पपूर्वक वधू के दोनों भौहों के मध्य प्रदेश का 'इदमहं या त्वयि' आदि मन्त्र पढ़कर कुशा से संमार्जन करता हुआ कुशों को फेंक देगा। (यदि वधू में अलक्ष्मी का अंश विद्यमान हो तो उसके निराकरण के लिए यह किया जाता है) वधू का अभिषेक-जल लाने के निमित्त वर ब्राह्मणों को इस मन्त्र के द्वारा भेजता है—'व्युक्षत्क्रूरमुदचन्तु आपः' आदि। तदनन्तर जल आ

जाने पर वधू के शिर के ऊपर युगदण्ड को पकड़कर युग के दाहिने रन्ध्र में सोने का टुकड़ा रखकर अभिषेक करता है। मन्त्रान्त में अभिषेक है। इसी समय वर माङ्गल्य सूत्र को बाँधता है। यह सूत्रधारण आपस्तम्वाचार्य ने नहीं लिखा है, तथापि आचार से प्राप्त है। वधू के कटिप्रदेश में योक्त्र (कुशा से बनी हुई रज्जु) का वर बन्धन करेगा। मन्त्र है– 'आशासाना सौमनसम्' आदि। योक्त्रबन्धन के पश्चात् अग्नि के सामने वर-वधू बैठकर आज्यभागान्त होम करते हैं। पुनः वधू का 'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वः' आदि मंत्र से अभिमंत्रण कर वर 'गृभ्णामि ते सुप्रजास्त्वाय हस्तम्' आदि मंत्र से पाणिग्रहण करेगा। आपस्तम्ब पाणिग्रहण का प्रकार लिखते हैं 'अथास्यै दक्षिणेन नीचा हस्तेन दक्षिणमुत्तानं हस्तं गृह्णीयात् गृभ्णामि त इत्येताभिश्चतसृभिः'। चार मंत्र हैं। पाणिग्रहणानन्तर अग्नि की उत्तर दिशा में वर वधू से 'एकमिषे विष्णुस्त्वान्वेतु' आदि मंत्र को कहते हुए छः पैर रखवाकर सातवें पद को रखते समय 'सखा सप्तपदा भव' आदि मंत्र का जप करेगा। यही सप्तपदी संस्कार है। अग्नि की परिक्रमा कर वर-वधू अग्नि के सामने बैठकर 'सोमाय जनिविदे' आदि मंत्रों से विवाह-होम करेंगे। होम समाप्त होनेपर वर वधू को 'आतिष्ठेम-मश्मानम्' आदि मन्त्र से अश्माधिरोहण करायेगा। अनन्तर मन्त्रोच्चारण के साथ लाज होम होगा। होमान्त में अग्नि की परिक्रमा कराकर अश्माधिरोहण कराकर पुनः मंत्रवत् लाजहोम होगा। तीन परिक्रमा, तीन बार अश्माधिरोहण, और लाजहोम होंगे। लाज-होमान्तर उत्तरांगों का अनुष्ठान करके ब्रह्मदक्षिणा, योक्त्रविमोचन आदि होंगे। योक्त्र-विमोचन करके अग्नि का उपस्थान एवं बड़ों का आशीर्ग्रहण होगा। इतने अङ्गकलाप से वर गृहस्थ बनता है।

प्रवेश होम

गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिए अग्नि का रहना आवश्यक है। उस अग्नि की सिद्धि के लिए प्रवेश-होम का अनुष्ठान होता है। दक्षिण भारत में यह होम विवाह के दिन सूर्यास्त होने के अनन्तर किया जाता है। इस होम के द्वारा स्थायी अलौकिक अग्नि की सिद्धि होती है। इस प्रकार की अग्नि वर और वधू के पिता के कुलों में संरक्षित रही है। परम्परागत अच्छी बातों को ग्रहण करना भारतीय परम्परा है।

प्रवेश होम उस अग्नि में करने का विधान है जिसमें विवाह होम किये गये हैं। विवाह होम की समाप्ति के अनन्तर प्रातः उस अग्नि को कुण्ड में रक्षित रखना चाहिए। सायं काल आने पर उसी अग्नि में प्रवेश होम किया जाता है। होम के पूर्व 'उत्तम्भिता भूमिस्सूर्येण' से आरम्भ कर 'तेष्वहं सुमनाः संविशामि' तक मन्त्र का जप करना चाहिए। अनन्तर ब्रह्मणों से प्रवेश होम के लिए अनुमति प्राप्त कर गणेश पूजन कर प्रवेश होम के लिए संकल्प कर आज्यभागान्त कर्म करके 'आगन् गोष्ठं महिषी' आदि मन्त्रों से तेरह आहुतियाँ होती हैं। ये प्रवेश होम की प्रधान आहुतियाँ हैं। अनन्तर प्रायश्चित्त, जयादि, होम हैं। पुनः नक्षत्रों के उदित होने तक मौन रह कर, वधू को ध्रुव एवं अरुन्धती का दर्शन करायेगा। इसका मन्त्र है—'ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिः' आदि।

आग्नेय स्थालीपाक

अनन्तर वधू के साथ आसन पर बैठकर वर आचमन-प्राणायामपूर्वक संकल्प करेगा। 'अनया नवोढया वध्वा सह आग्नेयेन स्थालीपाकेन यक्ष्ये'। वधू तण्डुल की हवि बनाकर रखेगी। ब्रह्मवरण के साथ आज्यभागान्त होम समाप्त होनेपर स्थालीपाक के दो होम होंगे। ये होम चतुरवदान पूर्वक होंगे। एक में अग्नि देवता है दूसरे में स्विष्टकृदग्निदेवता है। अनन्नर संस्राव महाव्याहृति प्रायश्चित्त होम होंगे। यही आग्नेय स्थालीपाक है।

औपासन होम

स्थालीपाक होमानन्तर औपासनाग्नि धारण करने के लिए ब्राह्मणों से अनुमति प्राप्तकर पत्नी के साथ वर संकल्प करेगा—'ममोपात्तसमस्तदुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वर-प्रीत्यर्थम् आवयोः औपासनमारभे यावज्जीवं तण्डुलैर्यवैर्वा होष्यामि, तत्राद्य सायमौपासनं तण्डुलैर्होष्यामि'। अग्नि को प्रज्वलित कर अग्नि का परिषेचन करते हुए 'चत्वारि शृङ्गाः त्रयो अस्य पादाः + प्राङ्मुखो देव अग्ने ममाभिमुखो भव' प्रार्थना कर अग्नि का अक्षत-पुष्पों से अलङ्करण करें। अनन्तर भिगोये हुए तण्डुल को हाथ में रखकर उसका दो भाग करके सायं 'अग्नये स्वाहा' प्रातः 'सूर्याय स्वाहा' मन्त्र से होम करना है। दोनों कालों में स्विष्टकृद्धोम होगा। अनन्तर अग्नि का परिषेचन करके अनाज्ञात मन्त्र का जप करना है—

अनाज्ञातं यदाज्ञातं यज्ञस्य क्रियते मिथु।
अग्ने तदस्य कल्पय त्वँ हि वेत्थ यथातथम्॥

पुरुषसम्मितो यज्ञो यज्ञः पुरुषसम्मितः।
अग्ने तदस्य कल्पय त्वँ हि वेत्थ यथातथम्॥

यत्पाकत्रा मनसा दीन दक्षान।
अग्निष्टद्धोता क्रतुविद्विजानन्, यजुष्टो देवाँ ऋतुशो यजाति॥

अनन्तर अग्नि का उपस्थान करना होता है। मन्त्र है—

अग्ने नय सुपथा राये विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं हुताशन।
यद्धुतन्तु मया देव परिपूर्णं तदस्तु ते॥

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥

इन मन्त्रों से उपस्थान करके नमस्कार कर भस्म-तिलक लगाना चाहिए। अनन्तर किये हुए कर्म को 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात्। करोमि यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयामि॥' मन्त्र से ब्रह्मार्पण करके आचमन करना

चाहिए। इस सन्दर्भ से स्पष्ट अवगत होता है कि कर्मकाण्ड में भी ज्ञान-भक्ति का मिलन है। इस प्रकार सिद्ध अग्नि को जीवनपर्यन्त धारण करते हुए सायं प्रातः औपासन होम का अनुष्ठान गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। इसी अग्नि से अपने शुभाशुभ कर्मों का अनुष्ठान होता है।

शेष होम

विवाह के चौथे दिन इस होम का अनुष्ठान होता है। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है। ऋतुशान्ति, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन का भी आपस्तंबाचार्य के मतानुसार भेद दिखला दिया गया है।



उपसंहार

गृहस्थ के लिए अग्नि-परिचर्या मुख्य है। वह अग्नि विवाहानन्तर प्रवेश होम के दिन सिद्ध होती है और आजीवन उसकी रक्षा करनी पड़ती है। हिन्दुत्व का परिचायक जैसे वेद है उसी प्रकार स्मार्त और श्रौत आधान से सिद्ध अग्नि को भी परिचायक मान सकते हैं। अत एव देहावसान होने पर जिनके अग्नि से संस्कार किये जाते हैं वे हिन्दु हैं, कहना निर्युक्तिक नहीं है। यद्यपि दाह के स्थान पर विशेष अवस्था में खनन भी विहित है, किन्तु वह अपवाद कोटि में गिना जाता है। उत्सर्ग का अपवाद होना शास्त्रीय पद्धति है। हमारी संस्कृति की आधारशिला संस्कार हैं। संस्कारों से ही संस्कृतियाँ सुरक्षित रहती हैं। संस्कारों को लिपिबद्ध करने वाले महर्षियों का यह ध्यान रहा है कि समाज में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के साथ लोगों में एकता भी बनी रहे। अत एव 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत', 'राजा राजसूयेन यजेत' 'वैश्यो वैश्यस्तोमेन', 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' इत्यादि वेदवाक्य यद्यपि कर्मविशेष में व्यक्तिविशेष का अधिकार निरूपित करते हैं, तथापि मीमांसकों ने एकता की सिद्धि के लिए अग्नि, विद्या, सामर्थ्य इन तीनों को अधिकारि-विशेषण माना है। अर्थात् ब्राह्मण का राजसूय में, क्षत्रिय का बृहस्पति सव में और वैश्य का राजसूय में अधिकार न होते हुए भी सभी को अग्निवाला, विद्वान् एवं समर्थ होना अनिवार्य माना है। हम अपने कार्य को करने में भले ही स्वतन्त्र हैं, लेकिन स्वतन्त्रता का यह मतलब नहीं है कि अपना मनमानी करें। स्वतन्त्रता के नियामक रूप में अधिकार-विधियाँ प्रयुक्त हुई हैं। विधियाँ ही हमारी नियामक हैं। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः, वर्षासु रथकारः' इत्यादि विधियाँ चारों वर्णों में एकरूपता लाने के लिए अग्नि, विद्या और सामर्थ्य को अधिकारि-विशेषण मानकर चलती हैं। हमारे शासक वेद हैं। शासक के अनुशासनों को मानना नियति है। अनुशासन-बद्ध रहना ही देश और समाज की उन्नति की आधारशिला है। यही एकता का लक्षण है। सागर-चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र आदि को अपने अधिकार और मर्यादा में रहते हुए हम अनुभव करते हैं। इनकी सृष्टि जिस परमात्मा ने किया वही हमारी सृष्टि का भी कारण है। परमात्मा ने हमें सिखलाने के निमित्त ही सागर-चन्द्र-सूर्य आदि को प्रवर्तित किया है। वे अनुशासन में रहें, हम अनुशासन-विहीन हों, यह अच्छी बात नहीं। वे स्वतन्त्र विचरण करते हुए दूसरे के मार्ग का अवरोध नहीं करते हैं। उसी प्रकार हमें भी रहना है। अनुशासन में रहने के निमित्त ही ये संस्कार प्रवर्तित किये गये हैं। अनुशासन में रहना और उसके परिपालन में जागरूक रहना एकता और एकरूपता का परिचायक है।

देश और काल के परिवर्तन से संस्कार परिवर्तित नहीं होते। संस्कार उत्पत्ति विधियों और विनियोग विधियों से जाने जाते हैं किन्तु देश और काल प्रयोग विधियों से सम्बन्ध रखने वाले हैं। प्रयोग देश और काल से घटाया-बढ़ाया जा सकता है किन्तु संस्कार उत्पत्ति और विनियोग विधियों पर अवलंबित होने से घटाये-बढ़ाये नहीं जा

सकते। यही मीमांसा की पद्धति है। क्योंकि प्रयोग के अंग काल और देश हैं। काल के अनुसार प्रयोग का परिवर्तन करने का मतलब है अंगानुरोधेन प्रधान का परिवर्तन करना। प्रयोग प्रधान के लिए प्रवृत्त हैं, अंगों के लिए नहीं। यद्यपि प्रधान का प्रयोग अंगों के बिना सफल नहीं होगा, तथापि यथाशक्ति न्याय से कतिपय अंगों का परित्याग या परिवर्तन सह्य है। प्रधान का परित्याग या परिवर्तन उचित नहीं है।

स्थिरचित्त होकर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि आज का काल संस्कारों के अनुष्ठान में बाधक नहीं है। काल-चक्र अति शीघ्र गति से घूमता ही रहेगा, भूमण्डल से लेकर खगोल तक के पदार्थ घूमते ही हैं, तथापि विश्वम्भरा स्थिरा ही है। रेलगाड़ी या विमान परिभ्रमणशील हैं तथापि उनमें आरूढ़ हम लोग स्थिर ही रहते हैं। हम वृथा कहा करते हैं कि हमने इतनी सामान लायी। सामानों को ढोकर रेलगाड़ी या वस्तुतः विमान लाये, उसमें हमारा तनिक भी सम्बन्ध नहीं है, तथापि लोग कहते हैं—हमने लाया। 'भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः' आदि प्रमाणों से किसी के भय से अपने-अपने कार्यों में लोग खगोल में व्याप्त हैं। काल भी उन्हीं की कोटि में विद्यमान है और अपने कार्य में रत है। काल को भी अपने नियन्त्रण में रखने वाला काल है ही, जिससे भयभीत होकर काल अपने कर्तव्यों में आरूढ़ रहता है। हम मानव उस काल को परिवर्तित करने को सोचते हैं। किसी के कार्य में कोई भी दखल करेगा तो वह उसका कोपभाजन अवश्य बनेगा, यह लोकसिद्ध नियति है। मानव यह नहीं समझ पाता कि अपनी त्रुटि या मार्गच्युति के कारण काल परिवर्तित होता है। 'राजा कालस्य कारणम्' यह नीति है। मानव समझता है कि प्रकृति प्रकुपित हो गयी है, हम कष्ट पा रहे हैं। यह नहीं समझता है कि हमारे व्यतिक्रम से प्रकृति प्रकुपित हुई है। उलटे हम सोचते हैं कि आधुनिक विज्ञान-धारा से प्रकृति के प्रकोप का शमन कर सकते हैं। हम लक्षण और विज्ञान से प्रकृति के प्रकोप को पूर्वानुमान से जान सकते हैं किन्तु उसका प्रशमन असाध्य है। काल का प्रकोप हो गया है, काल शीघ्र गति से परिवर्तित हो गया है, अतः हमें भी परिवर्तित होना है; इस दृष्टि से हम संस्कारों को छोड़ते चले जा रहे हैं। आज हम अनुभव करते हैं कि अन्य लोग व्यतिक्रम, भ्रष्टाचार के द्वारा आर्थिक अंश में सुखी हैं; वैसे हम भी रहेंगे तो सुखी हो सकते हैं; ऐसा समझकर देखा-देखी भ्रष्टाचार में प्रवृत्त हो जाते हैं और काल के ऊपर दोष का आरोप करते हैं। काल के अनुसार हमें भी परिवर्तित होना है। इन व्यतिक्रमों में काल कारण नहीं है। काल के व्यतिक्रम के लिए हमारा व्यतिक्रम कारण है। यदि हम काल को अपने वश में करना चाहते हों तो हम व्यवस्थित रहें जिससे काल भी व्यवस्थित रहेगा।

कालश्चालयति प्रायः पण्डितान् पामरानपि।
तच्चेच्चिकीर्षसि वशे तितिक्षैव महौषधम्॥

तितिक्षा—सहनशक्ति ही महान् औषध है यदि प्रकृति प्रकुपित हो जाती है। हम में क्षमा करने की शक्ति है। वैद्य या डाक्टर रोगों को मिटाता नहीं किन्तु रोग की पीड़ा को सहन करने के लिए औषध देता है। वैसे ही महावैद्य परमात्मा हमें सहनशक्ति दे रखा है।

उसी का हमें अवलम्वन करना है। सहनशक्ति को परिवर्धित करने हेतु श्रौत-स्मार्त कर्म-काण्ड प्रवर्तित हुए हैं। प्रातः से सायं एवं जनन से मरण पर्यन्त विहित कर्मों के सतत अनुष्ठान करते रहने से सहनशक्ति का प्रादुर्भाव क्यों नहीं होगा ? प्रबल सहनशक्ति के प्रादुर्भाव में कर्मानुष्ठान कारण है ही, उसके साथ कारणकोटि में दैवचिन्तन भी जुड़ा हुआ है। उदाहरणार्थ—हम माता या पिता का श्राद्ध करते हैं। वह श्राद्ध सपात्रक भी होता है अपात्रक भी। सपात्रक श्राद्ध में निमन्त्रित व्यक्तियों में पुरुरवार्द्रव संज्ञक विश्वेदेवों का आवाहन आदि कर एक को विश्वेदेवस्वरूप मानते हैं और वसु-रुद्र-आदित्य स्वरूप पितृ-पितामह-प्रपितामहों का नामग्राहं आवाहनादि कर दूसरे को अपना पितृ पितामह-प्रपितामह समझते हैं। इस रूप से भावना कर आहुति देने के समय सर्वप्रथम—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पाᳪं सुरे।

यह मन्त्र बोलकर अनन्तर 'यन्मे माता प्रलुलोभ चरति तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तां माभुरन्योऽवपद्यताम् अमुकशर्मणे स्वाहा' मन्त्र से पिता के लिए आहुति देते हैं। आहुति-प्रदान के वाद 'श्री कृष्ण कृष्ण कृष्ण' ऐसे तीन वार नामोच्चारण किया जाता है। इसका चिन्तन करना चाहिए कि आदि और अन्त में भगवत्स्मरण और मध्य में पितृ-देवता के लिए हवन। इतना ही नहीं, श्राद्ध में उन दोनों को भोजन के लिए बैठाते हुए मन्त्र बोले जाते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पाᳪं सुरे विष्णो कव्यं रक्षस्व॥

गोत्रस्य शर्मणः-वर्मणः-गुप्तस्य मम पितु प्रत्याब्दिकश्राद्धे वसुरुद्रादित्यस्वरूपास्मत्पितृ-पितामहप्रपितामहाद्देवता उपतिष्ठन्तु एतद्वः कव्यं सव्यञ्जनं सपरिकरमन्नं ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे तत्सर्वमन्नं गयेयं भूः गदाधरो भोक्ता अन्नञ्च ब्रह्म अहञ्च ब्रह्म भोक्ता च ब्रह्म भोक्ता गदाधरः।

इत्यादि। कहाँ कर्मकाण्ड तत्रापि श्राद्ध कर्म, उसमें एकात्मकता की भावना और भगवन्नामस्मरण। यह हमारी परम्परा से प्राप्त संस्कृति है। इतना ही नहीं, श्राद्ध के प्रकरण ही में विश्वेदेव और पितृदेवता के भोजन के बाद विकिरान्न दिया जाता है। इसका मन्त्र है—

असोमपाश्च ये देवा यज्ञभागविवर्जिताः।
तेषामन्नं प्रदास्यामि विकिरं वैश्वदेविकम्॥
असंस्कृतप्रमीता ये त्यागिन्यो याः कुलस्त्रियः।
दास्यामि तेभ्यो विकिरमन्नं ताभ्यश्च पैतृकम्॥

ये त्वग्निदग्धा जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम।
भूमौ दत्तेन पिण्डेन तृप्ता यान्तु परां गतिम्॥

अग्निदग्धेभ्योऽनग्निदग्धेभ्योऽस्मत्कुलप्रसूतमृतेभ्यः अयं पिण्डः स्वधा नमः अग्निदग्धा अनग्निदग्धाश्च मार्जयन्तामेतद्धस्तिलोदकम् इत्यादि।

भारतीय संस्कृति में ही एकमात्र ऐसा है कि हम यज्ञभाग से विहीन देवों का, विना संस्कारों के मरे हुए लोगों का, अपवाद से निकाले गये नारीवर्ग का, अग्निदग्ध और अदग्ध जीव-राशि का, उत्पन्न होते ही गुजरे हुए जीव आदि का स्मरण करते हैं और उनके लिए विहित कार्य करते हैं; हमारी परम्परा का यह सूचक है। हमारे पितृ-पितामह-प्रपितामहों ने विवाह के प्रवेश होम द्वारा सञ्चित अग्नि से उपयुक्त एवं उपयोक्ष्यमाण एवं पूर्व और अपर क्रिया-कलापों को जिस प्रकार अनुष्ठित किया है उसी प्रकार हम भी अनुष्ठान करते हैं। इस परम्परा को छोड़कर विदेशी संस्कारों से यदि हम दीक्षित हो जाते हैं तो हम भारतीय कहाँ रहे। जैसे विदेशों में रजिस्टर्ड विवाह हो जाता है और उसी रजिस्ट्रार आफिस में गृहीत पत्नी का त्याग भी होता है, बिजली से दाह संस्कार किये जाते हैं वैसे यदि हम भी करें तो हम में भारतीय कहाने का क्या लक्षण होगा। भारत भूमि में पैदा होने मात्र से भारतीयता का लक्षण नहीं घटेगा। देशान्तर के लोग भी यहाँ पैदा होते हैं, भारतीय संज्ञा देनेपर वे मानने को तैयार नहीं होंगे। तब भारतीयता का क्या लक्षण होगा? जो वेदों को मानकर वेदों में कहे हुए संस्कार एवं श्रौत-स्मार्त कर्म करने का अधिकार रखते हों, वे भारतीय हैं।

अंग्रेजों के शासन काल में शासकों ने समझा कि भारत देश ब्राह्मणों के अधीन है। यदि ब्राह्मणों के बच्चे अपने वशंवद हो जायँ तो अपनी इष्टसिद्धि होगी। तदनुसार कतिपय ब्राह्मण-कुल के बच्चों को द्रव्य-पुरस्कार-उपाधि आदि से प्रोत्साहित कर अपनी शिक्षा-दीक्षा देकर आई. सी. एस्. आदि पास कराकर उच्च पदों में नियुक्त करने लगे। देखा-देखी से सभी वर्णों के बच्चे इस जाल में फँस गये। इसी का परिणाम आज हम देख रहे हैं कि ब्राह्मणत्व तो नहीं है और क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र भी नष्ट हो गये। कोई अपने कर्तव्य पथ पर आरूढ़ नहीं है। यह अंग्रेजों की दी हुई शिक्षा-दीक्षा का परिणाम है। आज हम स्वतन्त्र हैं, जातिवाद को दूर करने के बजाय जाति को मिटाने में लग गये हैं और वर्णसंकरों के उत्पादन में बढ़ावा दे रहे हैं। जाति अमूर्त है, वह मिटायी नहीं जा सकती, किन्तु जाति वालों को मिटाना है। जाति वालों को मिटाने का अर्थ है हनन करना। महात्मा गाँधी के अहिंसा मार्ग पर चलते हुए स्वतन्त्रता को प्राप्त कर पुनः हनन-कार्य में प्रवृत्त हों तो सिद्धान्त की हानि होगी। प्रजातन्त्र में हिंसा का कोई स्थान नहीं, यह कहने मात्र को रह जायगा। जातिवाद को हटाया जा सकता है क्योंकि 'वाद' क्रिया है। क्रिया को रोकने से वह हिंसा का विषय नहीं बनेगी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शब्द मात्र को कहते रहना जातिवाद नहीं है। शब्द मात्र को न कहते हुए तदर्थ विहित कर्मों को करते रहना चाहिए। बड़े-बड़े कार्यालयों में नियुक्त व्यक्ति अपने पद

मात्र को कहते रहेंगे तो कार्यालय के कार्य नहीं चल सकते, किन्तु तदर्थ विहित कार्यों को सुचारु रूप से करते रहने से ही कार्यालय चल सकता है; उसी प्रकार ब्राह्मण-ब्राह्मण मात्र कहते रहने से कोई लाभ नहीं, किन्तु संस्कारों से संस्कृत होना है।

शासन के द्वारा यह प्रेरणा मिले तो जातिवाद हट जायगा। यद्यपि तत्तत् ाति के लोगों का अपने कार्यों को करने में शासन प्रतिरोध नहीं करता, क्योंकि धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्र का हमने आश्रयण किया है; तथापि अपनी परम्परा में रहने के लिए शासन प्रेरणा दे सकता है। क्योंकि भारतीयता की रक्षा के लिए प्राचीन परम्परा को लेकर हमें आगे बढ़ना है। अथवा शासन कतिपय कुल को चुन कर प्रेरित कर सकता है कि वे अपने ढंग से शिक्षा-दीक्षा पावें। अथवा जितने धर्माचार्य हैं वे इस भार को हाथ में लें जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने आचार-संहिता को जान कर तदनुसार संस्कारों से संस्कृत हो। किसी भी प्रकार इन संस्कारों को उज्जीवित रखना है, तभी भारतीयता रक्षित हो सकती है। यदि हम इस देश को 'भारत' पुकारना चाहते हों तो जातिवाद, प्रान्तवाद, भाषावाद को छोड़कर जाति-प्रान्त-भाषा के पनपने का उपाय ढूँढना होगा। इसके लिए अपने-अपने संस्कारों से संस्कृत होकर आध्यात्मिक एवं दैव बल को प्राप्त करने में लग जाना चाहिये। तभी यह देश 'भारत' बन सकता है।



परिशिष्ट

औदुर्ध्वदेहिक कर्म

शरीर छूटने के बाद जो कर्म किये जाते हैं, वे औदर्ध्वदेहिक कर्म कहे जाते हैं। मीमांसा शास्त्र की परिभाषा के अनुसार उनका 'उपयुक्त संस्कार' शब्द से व्यवहार किया जा सकता है। यद्यपि स्मार्त-श्रौत्र यज्ञों में यजमान यज्ञ के उपयोग में आने वाले द्रव्य को प्रोक्षण-अवहनन-पेषण-उत्पवन-पर्यग्निकरण आदि संस्कारों से संस्कृत कर जो हवन करता है, ये संस्कार उपयोक्ष्यमाण संस्कार कहे जाते हैं; वही यजमान प्रधान कर्म में उपयुक्त द्रव्य का स्विष्टकृत् इडा भक्षण आदि संस्कार करता है, ये उपयुक्त संस्कार कहे जाते हैं। औदर्ध्वदेहिक कर्म में यजमान बदल जाते हैं। अर्थात् उपयोक्ष्यमाण कर्मों को करने वाला पिता, एवं उपयुक्त कर्मों को करने वाला पुत्र हो जाता है। उपयोक्ष्यमाण एवं उपयुक्त संस्कार एककर्तृक सिद्ध नहीं, जो कि शास्त्रसम्मत है; तथापि कर्म का कर्ता शरीर नहीं, किन्तु आत्मा है। पिता के शरीर में एवं पुत्र के शरीर में विद्यमान वह आत्मा 'आत्मा वै पुत्रनामासि' आदि प्रमाणों द्वारा एक ही है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो एककर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। जातकर्म-नामकरण आदि संस्कार जिस पिता ने जिस पुत्र का किया है वह पुत्र ही पिता है, वह पिता ही पुत्र है। पिता और पुत्र शब्द निरूपक भेद से भिन्न व्यवहृत होते हैं। व्यवहार में ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि पिता ही पुत्र हो जाता है, पुत्र पिता बन जाता है। अतएव अनेक यजमान मिल कर दीर्घकाल-साध्य 'सत्र' याग करते हैं, यदि याग के मध्य में किसी यजमान का देह छूट जाता है तो श्रुति कहती है—**यदि सत्राय सन्दीक्षितानां प्रमीयेत तं दग्ध्वा कृष्णाजिनेऽस्थीन्युपनह्य योऽस्य नेदिष्ठस्तं दीक्षयित्वा तेन सह यजेरन्।** अर्थात् सत्र याग के दीक्षितों में से यदि कोई यजमान दिवंगत हो जाता हो तो उसका दाह-संस्कार कर उसके सन्निहित भ्राता या पुत्र को दीक्षा देकर उसके साथ सत्रयाग सम्पन्न करना चाहिए। इससे अवगत होता है कि जिस निकटस्थ व्यक्ति को हम प्रतिनिधि चुनते हैं, वह उससे अनन्य है। इसका विस्तृत विचार मीमांसा के दशमाध्याय द्वितीय पाद में किया गया है। उपयोक्ष्यमाण संस्कार को यदि पिता पुत्र के लिए करता हो तो पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने संस्कार में उपयुक्त पिता का संस्कार स्वयं करे।

पिता-पुत्र का औरस सम्बन्ध तो है ही, इसके साथ अलौकिक अग्नि का सम्बन्ध भी परम्परा से चला आ रहा है। जैसे पिता ने अपनी वैवाहिक अग्नि द्वारा पुत्र का उपनयन आदि संस्कार किया है, उसी प्रकार पुत्र भी अपनी वैवाहिक अग्नि द्वारा पिता का औदर्ध्वदेहिक संस्कार करेगा। अग्नि के भेद होने पर भी परम्परा से एकता को प्राप्त करता है। यह भी हिन्दू लक्षण के अन्तर्गत है। विवाह प्रकरण में सूचित किया गया है

कि अग्नि से पालित कन्या अग्नि बन कर पति कुल में आयी है, तो वर अग्निमान् होने का अधिकार प्राप्त करता है। माता-पिता के देहावसान होने पर उस अग्नि से ही अन्त्येष्टि-दाह-संस्कार होता है। अन्त्येष्टि को 'पितृमेध संस्कार' भी कहा जाता है। 'पितृमेध संस्कार' यज्ञ के समान माना गया है। सोमयाग करके यदि यजमान दिवंगत हो गया हो तो उस शव-शरीर को जुहू, उपभृत्, ध्रुवा, स्रुवा आदि पात्रों से अलंकृत कर दाह किया जाता है। यज्ञ पात्रों को 'यज्ञायुध' कहते हैं। इस प्रसङ्ग में एक वाक्य है—**स एष यज्ञायुधीऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति**। अर्थात् यह यज्ञायुध वाला यजमान स्वर्गलोक जा रहा है। यद्यपि यह प्रत्यक्ष विरुद्ध मालूम पड़ रहा है, क्योंकि वह शव-शरीर दग्ध हो रहा है। दग्ध शरीर स्वर्गलोक कैसे जायगा ? मीमांसा भाष्यकार श्रीशबरस्वामी इस वाक्य का विचार करते हुए कहते हैं कि जिसका यह शरीर है वह यज्ञायुधी जा रहा है। किसका यह शरीर है ? इस शरीर को छोड़ कर दूसरा प्रत्यक्ष नहीं प्रतीत होता। ऐसी शङ्का होने पर भाष्यकार, विज्ञानवादी के नाना प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देते हुए अन्त में कहते हैं कि—**यः स्वयं पश्यति, न ततोऽन्यः पुरुष इत्येतदपि पुरुषप्रवृत्त्याऽनुमीयते। यदाऽसौ पुरुषः पूर्वेद्युः सामिकृतानामर्थानां प्रतिसमाधाने शेषानुष्ठाने च यतते। अतः प्रवृत्त्याऽवगम्यते—नूनमसावनित्यान् नित्यमवगच्छतीति**। अर्थात् हर-एक पदार्थ को जानने के लिए दो मार्ग हैं—एक विधि दूसरा निषेध। जो विधि द्वारा शरीर से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नहीं मानना चाहता वह निषेध द्वारा सत्ता मान लेता है। अत एव भाष्यकार 'प्राणिति, इच्छति, श्वसिति, जानाति, स्मरति, प्रत्यभिजानाति' आदि विधिमुख प्रयोगों द्वारा आत्मा को शरीर से अतिरिक्त दिखला कर 'नेति नेति' निषेध द्वारा पुनः उसकी सत्ता दिखलाये। इसमें 'यतते' का प्रयोग विद्यमान है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने हेतु 'जानाति इच्छति यतते करोति' ये चार क्रियाएँ होती हैं। इनमें 'यतते' क्रिया से जो यत्न प्रतिपादित है, वह चेतन के विना अन्यत्र नहीं बैठ सकता। उस चेतन को 'आत्मा' कहें या 'जीव' अथवा दूसरी संज्ञा से व्यवहार करें; किन्तु शरीर, बुद्धि, मन आदि से वह अतिरिक्त है।

आत्मा को अतिरिक्त नहीं मानने वाले कहा करते हैं—**त्यज्यतामेषो मूर्धाभिषिक्तः प्रथमो मोह आत्मग्रहो नाम। तन्निवृत्तौ आत्मीयग्रहोऽपि विरंस्यति अहमेव न, किं ममेति।**

यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन।
अहमेव न किञ्चिच्चेद् भयं कस्य भविष्यति॥

तात्पर्य है कि आत्मग्रह एक बड़ा मोह है, इसे छोड़ना चाहिए। इस मोह की निवृत्ति होने पर अपनापन भी विरत हो जाता है। जब मैं ही नहीं हूँ तो मेरा क्या रहेगा ? यदि अहं नाम का कोई होता तो जिस-किसी से भय हो सकता था। अहं ही नहीं है, तो भय किस चीज का। बात तो अच्छी है। ऐसी भावना वैराग्य की साधक तो अवश्य है, किन्तु वह वैराग्य किसको होगा ? जब आत्मग्रह को छोड़ दिया जाता है। 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' इस प्रमाण से भय का प्रादुर्भाव दूसरे के रहने पर ही सम्भव है। अकेला रहने

पर भय किस बात का ? एवञ्च अहं-आत्मा को मानने पर वह यदि एक है तो भय का अवसर ही नहीं है। यद्यपि दोनों पक्ष व्यावहारिक नहीं प्रतीत होते, तथापि—

त्यक्तव्यो ममकारः त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ।
कर्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्तव्यः॥

इस उक्ति के अनुसार व्यवहार दशा में अहंभाव को छोड़ना चाहिए, यदि वह नहीं छूटता हो तो सब में अहंभाव रखना चाहिए। इस रीति से द्वितीय पक्ष को व्यावहारिक बनाया जा सकता है।

किसी चीज को प्राप्त करने में 'अस्ति' समझ कर ही यत्न किया जाता है। 'नास्ति' का निश्चय कर लेने पर उसकी प्राप्ति में किसी की प्रवृत्ति नहीं होती। अन्धकार से आच्छादित वस्तु की प्राप्ति के लिए दीप प्रज्वलित किया जाता है। शश-विषाण या तुरग-विषाण जो नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए दीपक नहीं जलाया जाता। हमें सम दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए, न कि विषम दृष्टि से। श्रुतियों में 'असदेवेदमग्र आसीत्' 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' दोनों पक्ष उद्धृत हैं। इससे मालूम होता है कि 'नास्ति' और 'अस्ति' दोनों का प्रामाण्य है। दोनों का विरोध स्पष्ट है। बुद्धिमान् का कर्तव्य होता है कि वह समग्र प्रकरण में आगे-पीछे के पदार्थों पर दृष्टि रखकर विरोध का परिहार ढूँढे। ढूँढने पर विरोध का परिहार यदि मिल जाय तो कलह का अवसर क्यों होगा ? जिस प्रमाण से जिस प्रमेय को सिद्ध करना था उस प्रमाण का खूब विचार कर हमारे दार्शनिकों ने प्रमेय को सिद्ध किया है। हम उसी परम्परा के हैं। अतः शरीर आदि से अतिरिक्त आत्मतत्त्व मानकर चलना चाहिए। आत्मतत्त्व के सिद्ध होने पर 'स एष यज्ञायुधी अञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इस वाक्य का सामञ्जस्य हो जाता है। यह वाक्य औद्र्ध्वदेहिक कर्म की उपयुक्त संस्कार के रूप में कर्तव्यता का भी प्रतिपादन करता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्मा शरीर आदि से अतिरिक्त है और शरीर उसका भोगायतन है। उस स्थूल शरीर के नष्ट होने पर आत्मा लिंगशरीर धारण करता है।

दाह संस्कार समाप्त होने पर वह आत्मा लिङ्गशरीर (प्रेतशरीर) का आश्रय लेता है और पुनः उससे छुटकारा पाने के लिए पुत्र या अन्य औद्र्ध्वदेहिक कर्म-कर्ता के द्वारा विहित कर्म-कलाप के अनुष्ठान की प्रतीक्षा करता रहता है। दस दिन तक कर्ता के दिये हुए वासोदक एवं तिलोदक को प्राप्त कर एकोद्दिष्ट एवं सपिण्डीकरण श्राद्ध की प्रतीक्षा करता रहता है। ग्यारहवें दिन विधिवत् एकोद्दिष्ट श्राद्ध सम्पन्न हो जाता है। बारहवें दिन सपिण्डीकरण श्राद्ध होता है। इसी श्राद्ध से प्रेत (लिङ्ग) शरीर से छुटकारा पाकर वह आत्मा पितृकोटि में सम्मिलित होकर तदनुकूल शरीर धारण करता है। सपिण्डीकरण श्राद्ध बारह मास समाप्त होने पर मरण-तिथि में किया जाता है। लेकिन आजकल बारहवें दिन ही सपिण्डीकरण श्राद्ध करने की प्रथा चल पड़ी है। यह प्रथा इसलिए चली है कि औद्र्ध्वदेहिक कर्म करने वाला बारह मास तक जीवित रहेगा या नहीं, यह निश्चय नहीं है। करने वाले का शरीर मध्य में छूट जाय तो प्रेतयोनि से छुटकारा न होने से वह जीव कष्ट में पड़ जायगा। अत एव बारहवें दिन ही

सपिण्डीकरण प्रचलित हो गया। किन्हीं-किन्हीं प्रान्तों में सपिण्डीकरण बारहवें मास में ही किया जाता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जिसका शरीर छूट गया है, जीवनावस्था में जैसे-जैसे कर्म उसने किये हैं तदनुसार ही जन्म प्राप्त होगा; औद्ध्र्वदेहिक कर्म के कर्ता द्वारा किये जाने वाले संस्कार उसे कैसे बदल सकते हैं? सपिण्डीकरण श्राद्ध के अनुष्ठान से वह लिङ्ग शरीर जो प्रेतसम्बद्ध है, उससे वह मुक्त हो जाता है। अपने किये हुए कर्म तो कारण शरीर के साधक हैं, लिङ्गशरीर के नहीं। प्रेतशरीर से मुक्त होने के लिए पुत्र आदि कर्ता के द्वारा अनुष्ठित संस्कार हो कारण हैं। क्योंकि सपिण्डीकरण में पिण्ड-संयोजन मन्त्र से यह अवगत होता है—

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥
समानो मन्त्रस्समितिस्समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिस्समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा नस्सुसहासति॥

सूत्रकारों ने इस मन्त्र का पिण्डसंयोजन में विनियोग दर्शाया है। अर्थात् इस मन्त्र को पढ़ते हुए पिण्डसंयोजन किया जाता है। मन्त्र के अर्थ पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि औद्ध्र्वदेहिक कर्म का अनुष्ठाता किस प्रकार अपने पिता को प्रेत-योनि से मुक्त करा कर पितृकोटि में मिलाता है। मन्त्र के—'सङ्गच्छध्वम्' 'संवदध्वम्' ये दोनों मध्यम पुरुष बहु-वचन में विद्यमान हैं। इससे प्रतीत होता है कि कर्म करने वाला सम्बोधित करके बोल रहा है। सम्बोधन आमने-सामने विद्यमान व्यक्तियों का होता है। कर्ता पुत्र पितरों को अपने सामने मान कर सम्बोधन करते हुए कहता है—आप मिल-जुल कर रहें एवं आपसी विरोध को भुला कर समान रूप से बात करें। आप का मन एक ही वस्तु को जाने। जैसे पुरातन देवता ऐकमत्य-एकता प्राप्त कर अपना हविर्भाग ग्रहण करते हैं, वैसे ही आपलोग भी स्वीकार करें। सम्बोधन परोक्ष में भी होता है, प्रत्यक्ष में भी। आपलोग मन, चित्त और विचार द्वारा अर्थात् मनसा वाचा कर्मणा एकरूपता को प्राप्त करें। मैं अपनी हवि दे रहा हूँ, उसको ग्रहण करें, आपका संकल्प-अध्यवसाय समान हो, आपके हृदय समान रहे, आप का शोभन साहित्य बना रहे। पिण्डविधान परम्परा के भेद से एक पिण्ड, त्रिपिण्ड या षट्पिण्ड के रूप में चलता है।

सपिण्डीकरण श्राद्ध से पितरों की कोटि में अपने पिता या माता को मिला देने पर पुत्र का एक दायित्व समाप्त हो जाता है, पर पितृकोटि से उन्हें मुक्त कराने के लिए प्रति-वर्ष मरण-तिथि में वार्षिक पार्वणश्राद्ध करना पड़ता है। जैसे पिता के द्वारा अपने पितृ-पितामह-प्रपितामह एवं मातृ-पितामही-प्रपितामही के श्राद्ध के समग्र आराधन चलता था वैसे पुत्र भी वृद्ध प्रपितामह और वृद्ध प्रपितामही का उद्धार समझ कर अपने पितृ-पितामह-

प्रपितामह एवं मातृ-पितामही-प्रपितामही का उपयुक्त संस्कार कर उद्धार करता है। इस परम्परा से ज्ञात होता है कि अग्रिम अपने सन्तति के योग-क्षेम के निमित्त श्राद्ध की प्रक्रिया चली है। श्राद्ध नित्य-मासिक-ऊनत्रैमासिक-ऊनषाण्मासिक, षाण्मासिक-ऊनाब्दिक, आब्दिक रूप से अनेक प्रकार का है। स्मृति-पुराण-सूत्र ग्रन्थों में श्राद्धों का विस्तार वर्णित है। उन सबके वर्णन से एक महान् ग्रन्थ ही बन जायगा। पुत्र के लिए श्राद्ध करने का यह विशेष अनुष्ठान है। पुत्र पिता का ऋणी है। ऋणी बन कर रहना उचित नहीं है। ऋण से मुक्त होना हर-एक पुत्र का कर्तव्य है। जीवदवस्था में पिता इसीलिए अपने पुत्र को विविध संस्कारों से संस्कृत करता है ताकि मेरे मरणोपरान्त मेरा पुत्र कर्तव्य का पालन करता रहे। यही भारतीय परम्परा है। पिता यदि पुत्र का पालक है तो पुत्र पिता का तारक है। दोनों एक हैं, तो दोनों एक क्रियावान् हैं। व्यापार और व्यापारवान् एवं शक्ति और शक्तिमान् का अभेद मान कर चलना भी शास्त्र है।

अपर कार्यों की प्रक्रिया अति विस्तृत है। सोचना चाहिए कि विस्तार से लिखने का प्रयास प्राचीनों ने क्यों उठाया? उपयोक्ष्यमाण एवं उपयुक्त संस्कारों का अनुष्ठान करते हुए लोग अपनी नैतिकता को व्यवस्थित संरक्षण देते रहें यही चिरन्तनों का प्रधान उद्देश्य रहा होगा। लोगों को प्रतारित कर अपने वश में रखने का उद्देश्य नहीं होगा। प्रतारण कर उन्हें क्या लाभ उठाना था? जो प्रक्रिया परम्परा से चली आ रही है और जो भारतीयता का द्योतक है उसका आगे की पीढ़ी के लोग अनुसरण करते हुए भारतमाता के शिर को ऊँचा उठाते रहें, यही प्रधान उद्देश्य चिरन्तनों का है। चिरन्तनों ने पितरों को तीन कोटि में विभक्त कर दिखलाया है—वसु-रुद्र-आदित्य। पिता को वसु, पितामह को रुद्र, प्रपितामह को आदित्य एवं मातृ-पितामही-प्रपितामही को भी वसु-रुद्र-आदित्य भावना से मानकर श्राद्ध कर्म का अनुष्ठान बतलाया गया है। जैसे इन्द्र-वरुण आदि यज्ञीय देवताएँ हैं, वैसे वसु-रुद्र-आदित्य देवताएँ है। देवता की भावना से हमें श्राद्ध करना है। यह हमारी परम्परा है। इस परम्परा में नैतिकता अवस्थित है। नैतिकता का पालन मानव मात्र के लिए आवश्यक है। इससे चरित्र बनता है। देशवासी सच्चरित्र होंगे तो देश समुन्नत कहलायेगा। इसीलिए प्राचीनों का इतना प्रयास है। इस परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए हम भारतवासी एक जुट होकर यत्न करें तो हमारी आनेवाली पीढ़ी प्राचीन भारत के गौरव का अनुभव कर सकेगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

